१९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में

उत्तरी भारत में मुस्लिम समाज

मुख्यतः उर्दू स्रोतों पर आधारित

लेखक

के० एम० मिश्रा

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

जयपुर

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित

प्रथम-संस्करण : १९७४
Uttari Bharat Men Muslim Samaj

मूल्य : १५.००

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए-२६/२, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर-४

मुद्रक :
जयपुर मान प्रिन्टर्स,
बारणवालों का दरवाजा, चौड़ा रास्ता,
जयपुर

परम श्रद्धेय, सरल हृदय, विद्वन्मूर्धन्य इतिहासकार
स्वर्गीय डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव
की पुण्य स्मृति में
सादर सविनय समर्पित

प्रस्तावना

भारत की स्वतन्त्रता के बाद इसकी राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालयशिक्षा के माध्यम के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख था। किन्तु हिन्दी मे इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित, उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध नही होने से यह माध्यम परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। परिणामत भारत सरकार ने इस न्यूनता के निवारण के लिए "वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली आयोग" की स्थापना की थी। इसी योजना के अन्तर्गत १६६६ मे पाँच हिन्दी-भाषी प्रदेशो मे ग्रन्थ अकादमियो की स्थापना की गई।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी मे विश्वविद्यालय स्तर के उत्कृष्ट ग्रन्थ-निर्माण मे राजस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानो तथा अध्यापको का सहयोग प्राप्त कर रही है और मानविकी तथा विज्ञान के प्राय सभी क्षेत्रो मे उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रन्थो का निर्माण करवा रही है। अकादमी चतुर्थ पचवर्षीय योजना के अन्त तक तीन सौ से अधिक ग्रन्थ प्रकाशित कर सकेगी, ऐसी हम आशा करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक इसी क्रम मे तैयार करवाई गई है। हमे आशा है कि यह अपने विषय मे उत्कृष्ट योगदान करेगी। इस पुस्तक की समीक्षा के लिए अकादमी डॉ० सच्चिदानन्द, निदेशक, ए० एन० एस० इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियल स्टेटिस्टिक्स, पटना के प्रति आभारी है।

खेतसिह राठौड़	गौरीशंकर सत्येन्द्र
अध्यक्ष	निदेशक

भूमिका

१८वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही उत्तरी भारत के मुसलमानों का भाग्याकाश अन्धकारपूर्ण रात्रि से आच्छन्न हो गया था। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में वे संक्रमणकाल की एक महत्त्वपूर्ण एवं दुःसाध्य अवस्था से गुजर रहे थे। राजनैतिक प्रभुत्व की क्षति के साथ ही उनके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक शोचनीय स्थिति का प्रादुर्भाव हुआ। संरक्षण प्रदान करने वाली शक्ति का पतन, मुस्लिम समाज के लिए दुर्भाग्य का कारण बना। वस्तुतः उच्चवर्गीय मुसलमान राजकीय संरक्षण एवं नियुक्तियों के इतने अभ्यस्त हो गए थे कि उनमें अकर्मण्यता आ गई थी। पूर्ण सन्तुष्टि तथा सुलभ आय पर निर्भर रहने की भावना ने उनमें व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से कार्योद्योगों के नवीन मार्गों को खोजने की इच्छा किंचित्मात्र भी शेष नहीं छोड़ी थी। आर्थिक परिणामों के प्रति किंकर्तव्यविमूढ़ आभिजात्यवर्ग अपनी प्रतिष्ठित स्थिति का बाह्यरूप बनाए रखने के लिए मनोरंजनों एवं मनोविनोद में लिप्त रहता था। जनसाधारण भी उनका खूब आनन्द लूटते थे, जिससे स्थिति पूर्णतः पतन की ओर अग्रसर थी। मुसलमानों ने परिस्थितियों को देखते हुए भी अपनी रुचियों में परिवर्तन न किया तथा अपने विचारों में रूढ़िवादी एवं अपरिवर्तनशील बने रहे। 'लकीर के फकीर' बने रहने की इस हठी प्रवृत्ति ने उन्हें समयानुसार परिवर्तित होने की स्वीकृति प्रदान न की। इस प्रकार उन्होंने हवा का रुख नहीं पहचाना तथा परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों की नवीन माँगों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। परिणामतः जब एक ओर हिन्दू बौद्धिक व नैतिक पुनरुत्थान की ओर अग्रसर हो रहे थे, तो दूसरी ओर मुसलमान भौतिक दारिद्र्य एवं बौद्धिक-पतन की ओर मुड़ चले थे। परिवर्तित परिस्थितियाँ उलेमा वर्ग के विशेषाधिकारों एवं शक्तियों के लिए भी घातक सिद्ध हुईं। राजनैतिक शक्ति का ह्रास एवं धर्म-तान्त्रिक राज्य की विलुप्ति ने उनके अस्तित्व को ही खतरे में डाल दिया। अतः उन्होंने धार्मिक पुनरुत्थानवादी आन्दोलनों का सूत्रपात किया तथा जनसाधारण से जिहाद अथवा धर्मयुद्ध का आह्वान कर, दो जातियों के बीच वैमनस्य का बीजारोपण कर दिया, जो कालान्तर में द्विराष्ट्र सिद्धान्त के सूत्रीकरण में एवं अन्त में देश के विभाजन में फलीभूत हुआ।

प्रस्तुत ग्रन्थ आगरा विश्वविद्यालय द्वारा १९७१ में पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध—'मुस्लिम सोसाइटी इन नॉर्दर्न इण्डिया ड्यूरिंग द फर्स्ट हाफ़ ऑव द नाइन्टीन्थ सेन्चुरि', का हिन्दी रूपान्तर एवं परिष्कृत रूप है। यद्यपि

ग्रन्थ में समस्त समकालीन एवं उत्तर-समकालीन उपलब्ध सामग्री का उपयोग किया गया है, तथापि प्रस्तुत विषय मुख्यत उर्दू स्रोतो पर ही आधारित है। किसी भी युग के सामाजिक-इतिहास के परिज्ञान के लिए साधन रूप मे, तत्कालीन साहित्य का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है। भारत, ईरान, यूनान एव स्केण्डिनेविया के प्राचीन महाकाव्य क्रमश अपने-अपने भू भाग के विशिष्ट प्रतिनिधि ग्रन्थ बन गए हैं, क्योंकि वे तत्कालीन समाजो की सस्कृतियो एवं आदर्शों के स्पष्ट व सजीव चित्र प्रस्तुत करने मे पूर्णरूप से सक्षम हैं, इस कारण उनका ऐतिहासिक महत्व भी दुगुना हो उठता है। पुन. कालिदास तथा शेक्सपीयर के नाटक व्यापकरूप से तत्सम्बन्धित सस्कृतियो एवं प्रथाओ को बहुत-कुछ स्पष्टरूप से प्रतिबिम्बित करते हैं। कह सकते हैं कि साहित्य वह झरोखा है जिसमे बैठकर तत्युगीन इतिहास को निहारा जा सकता है। साहित्य, युगविशेष के सम्पूर्ण जीवन को प्रति-रूपायित करने वाला वह दर्पण है, जिसमे तत्युगीन यथार्थ प्रतिबिम्ब उभरता है। समाज की विभिन्न विशिष्ट घटनाओ की प्रतिक्रिया का परिणाम है साहित्य। वस्तुत. समाज और साहित्य एक-दूसरे के पूरक हैं, अन्योन्याश्रित हैं। समाज एक ऐसा उद्यान है जिसमे साहित्य का पुष्प सुविकसित होता है। अत: तत्कालीन साहित्य के द्वारा ही युग विशेष का सजीव चित्र सुलभ हो सकता है। सामाजिक इतिहास का विद्यार्थी तत्कालीन साहित्य के उदधि मे गहरे डूबकर तत्कालीन समाज का, काल-विशेष का ज्ञान-रूपी मोती सरलता से प्राप्त कर सकता है। उसके समक्ष तत्कालीन समाज चलचित्र की भाँति सजीव व स्पष्ट हो उठता है।

१९वी शताब्दी का पूर्वार्धकालीन उर्दू-साहित्य भी तत्कालीन भारतीय समाज के यथार्थ बिम्ब को समुचितरूप से प्रतिबिम्बित करने मे पूर्णतया सक्षम व सफल है। उर्दू, जिसका जन्म भारत मे मुस्लिम शासन के प्रारम्भिक चरण मे एक मिश्रित भाषा के रूप मे हुआ था, ने इस समय तक परिपक्वता प्राप्त करली थी। इस युग के साहित्यिक मनीषियो न अपनी रचनाओ द्वारा अपने समाज को, जिसके वे अभिन्न अग थे, यथार्थरूप मे चित्रित किया है।

इस प्रबन्ध की रचना प्रोफेसर जी० एल० मुकर्जी (अवकाशप्राप्त अध्यक्ष, इतिहास विभाग, सेन्ट जॉन्स कॉलेज, आगरा) के उत्साहवर्धक तथा स्नेहसबलित निर्देशन में हुई है। इस कार्य मे उन्होंने जो सहायता दी, अपनी विशिष्ट योग्यता के अनुरूप विद्वत्तापूर्ण मार्गनिर्देशन किया, उसके लिए मैं हृदय से आभार प्रकट करते हुए उनका सादर स्मरण करता हूँ।

सुविख्यात इतिहासकार स्वर्गीय डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने अनुकम्पा करके मुझे न केवल अध्ययन का विषय सुझाया, अपितु विषय से सम्बन्धित महत्व-पूर्ण उर्दू एव फारसी के ग्रन्थो को भी इंगित किया, जो कि मेरे लिए अत्यन्त ही लाभप्रद सिद्ध हुए। उन्होंने अपने बहुमूल्य समय मे से कुछ क्षण निकाल कर मुझको सर्वदा मुक्त हृदय से अपने अमूल्य सुझावो व विद्वत्तापूर्ण विचारो से जो मार्गदर्शन

किया, उसको भूलना मेरे लिए सम्भव नहीं। यह मेरा सौभाग्य रहा कि मध्यकालीन एवं आधुनिककालीन भारतीय इतिहास के ऐसे सुविख्यात इतिहासकार के निकट मैं कुछ सीख सका। उनके प्रति मेरे मन में जो श्रद्धा व सम्मान है उसे शब्दों में व्यक्त कर सकना कठिन है।

प्रबन्ध की सामग्री-सकलन में देश के अनेक पुस्तकालयों से मैंने लाभ उठाया है, जिनका उल्लेख कर देना अनावश्यक न होगा। मौलाना आजाद लाइब्रेरी, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ, अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू, अलीगढ, रजा लाइब्रेरी, रामपुर, खुदाबख्श लाइब्रेरी एवं मकबूल आलम लाइब्रेरी, पटना, निजाम लाइब्रेरी, हैदराबाद, नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता, नेशनल आर्काइव्ज ऑव इण्डिया, नई दिल्ली, सेंट्रल लाइब्रेरी, आर्कोिलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, नई दिल्ली, सेन्ट्रल लाइब्रेरी आगरा कॉलेज, आगरा, आगरा यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी, आगरा, सेन्ट जॉन्स कॉलेज लाइब्रेरी, आगरा तथा मालवीय पुस्तकालय, अलीगढ के अधिकारियों एवं कर्मचारियों ने अन्यान्य सुविधाएँ प्रदान की, इसके लिए मैं अनुगृहीत हूँ। श्री पी० डी० झाम्ब (डिप्टी लाइब्रेरियन, सेन्ट्रल लाइब्रेरी, ए० एस० आई०, नई दिल्ली) एवं श्री एम० एम० त्रिपाठी, (लाइब्रेरियन, सेन्ट्रल लाइब्रेरी, आगरा कॉलेज, आगरा) के अनवरत सहयोग एवं सहायता के लिए मैं उनका आभारी हूँ।

प्रस्तुत प्रबन्ध मूल रूप में अंग्रेजी में लिखा गया था। प्रबन्ध को राष्ट्रभाषा हिन्दी में लिखने की प्रेरणा डॉ० एम० एस० जैन (रीडर, इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर) ने दी थी। न केवल प्रेरणा, अपितु शोध-सम्बन्धी उनके प्रारम्भिक व आवश्यक निर्देशन की स्नेह-छाया में मैंने इस शोध कार्य का शुभारम्भ भी किया था, किन्तु उनके विदेश चले जाने के कारण अधिक समय उनके निर्देशन का सौभाग्य मुझे न मिल सका। फिर भी डॉक्टर साहब ने शोध प्रबन्ध को आद्योपान्त पढ़कर विचार विमर्श किया और अपने अमूल्य सुझावों से मुझे अवगत कराया, इस प्रकार उन्होंने मेरे प्रति जो स्नेह व शुभाशीष प्रदर्शित की वह मेरे स्मृति-कानन में सदैव ही उसी रूप में सजीव व ताजा बनी रहेगी। इतना ही नहीं, इस प्रबन्ध के लिए एक विद्वतापूर्ण भूमिका लिखकर उन्होंने इसके महत्व को निःसन्देह द्विगुणित कर दिया है। उनके प्रति कृतज्ञता शब्दों में व्यक्त कर सकना कठिन है।

डॉ० मथुराप्रसाद माथुर (अध्यक्ष, इतिहास विभाग, आगरा कॉलेज, आगरा) एवं डॉ० बी० एम० टॉक (अध्यक्ष, राजनीतिविज्ञान विभाग, आगरा कॉलेज, आगरा) ने इस विषय पर अनेक मूल्यवान सलाह दी। श्रीयुत पण्डित मुरलीधर जी वाजपेयी (अवकाशप्राप्त उप-सचिव, राजस्थान) ने अपने फ़ारसी-भाषा के ज्ञान से मुझे लाभान्वित किया। कु० प्रभा अग्रवाल (एम० ए० हिन्दी-संस्कृत, रिसर्च स्कॉलर, हिन्दी विभाग, आगरा कॉलेज, आगरा) ने पाण्डुलिपि तैयार करने में अनवरत सहयोग प्रदान किया। मेरे मित्र श्री योगेन्द्रकुमार गोस्वामी एवं श्री महेन्द्रकुमार गोस्वामी बन्धुओं ने अपने व्यक्तिगत पुस्तक संग्रह

से मुझे विशेष रूप से लाभान्वित किया। इस अवसर पर मेरे मित्र श्री मार्तण्ड पंडित (रिसर्च स्कॉलर, इतिहास विभाग, आगरा कॉलेज, आगरा) एवं श्री रवीन्द्रनाथ अवस्थी एम० ए० का स्मरण हो आना भी स्वाभाविक है, जिन्होंने इस कार्य में यथा सामर्थ्य मुझे सहयोग दिया। अपने अभिन्न मित्र प० सियाराम शर्मा को भी मैं सस्नेह स्मरण करना चाहता हूँ, क्योंकि मित्रों की मौन शुभकामनाएँ कदापि महत्व-हीन नहीं हो सकती। आज सहर्ष मैं इन सब के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

मैं अपने निकट सम्बन्धियों, श्री एस० एस० शर्मा, श्री आर० एन० कौशिक तथा डॉ० आर० एस० शर्मा का अनुग्रहीत हूँ जिन्होंने इस कार्य को पूर्ण करने के लिए सदैव मेरा उत्साह सवर्धन किया। ज्येष्ठ भ्राता श्री आर० सी० मिश्रा (निदेशक, केन्द्रीय वित्त मन्त्रालय) ने स्नातकपूर्व स्तर पर इतिहास के प्रति मेरी रुचि जागृत की इसके लिए मैं उनका सतत् आभारी हूँ।

अन्त में राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के अधिकारियों को भी अनेको धन्यवाद, जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में इतनी तत्परता दिखाई। शीघ्रता में मुद्रण की कुछ अशुद्धियाँ रह जाना स्वाभाविक ही है, उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

के० एम० मिश्रा

प्राक्कथन

बीसवीं सदी के आरम्भ में राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित भारतीय इतिहासज्ञों ने अंग्रेजी साम्राज्य की सफलता के लिए पाश्चात्य सैन्य-संगठन तथा संचालन की सर्वोपरिता अथवा अंग्रेजों की भेदनीतिक और कूटनीतिक दक्षता पर अधिक बल दिया था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय इतिहासज्ञों का ध्यान अपने सामाजिक और आर्थिक ढांचे के अध्ययन की ओर आकर्षित हुआ है। इस अध्ययन का अभिप्राय इस तथ्य का विश्लेषण करना था कि भारतीय सामाजिक ढांचा राजनीतिक एवं सैनिक असफलता तथा आर्थिक पिछड़ेपन के लिए किस सीमा तक उत्तरदायी था। इस खोज से एक परोक्ष लाभ यह भी हो सकता था कि स्वतन्त्र भारत के निर्माण में हम उन सामाजिक दोषों को पुनः प्रवेश न करने दें तथा अपनी पुरानी दुर्बलताओं का उन्मूलन कर सकें।

भारतीय सामाजिक ढांचे का अध्ययन आधुनिक भारत के राजनीतिक और प्रशासकीय इतिहास के अध्ययन से किन्हीं अर्थों में अवश्य भिन्न है। प्रशासकीय परिवर्तन तथा विकास के अध्ययन के लिए सामान्यतः सरकारी रिपोर्टों और फाइलों में ही प्रचुर सामग्री मिल जाती है यद्यपि यह एकपक्षीय तथा अपूर्ण होती है क्योंकि यह केवल अंग्रेज अधिकारियों द्वारा दिए गए तर्क और औचित्य को ही व्यक्त करती है। सामाजिक ढांचे और स्थिति के अध्ययन के लिए तो ये स्रोत और अधिक अपूर्ण एवं अपर्याप्त है। इसी भांति ईसाइ पादरियों और विदेशी पर्यटकों के विवरण में भी निष्पक्ष वृत्तान्त अथवा वर्णन उपलब्ध नहीं होता है। वह वर्णन केवल एक बाह्य दर्शक का दृष्टिकोण स्पष्ट कर सकता है। किसी भी समाज का वास्तविक वर्णन उसके साहित्य तथा समकालीन लोक गाथाओं में भली-भांति उपलब्ध हो सकता है। आधुनिक काल के भारतीय सामाजिक जीवन के लिए भारतीय भाषाओं के साहित्य में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

डॉ० मिश्रा ने १९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में उर्दू साहित्य में वर्णित मुस्लिम समाज का प्रमाणिक और मौलिक चित्रण किया है। यह वर्णन इतना सजीव और रोचक है कि कुछ स्थानों पर उस समय के आभिजात्य वर्ग तथा जनसाधारण चलते-फिरते दिखाई देते हैं। उर्दू साहित्यकारों की रचनाओं से पर्याप्त मात्रा में उद्धरण देने से समाज के वर्णन में रोचकता एवं प्रमाणिकता बढ़ गई है जिससे सहज ही यह विश्वास हो जाता है कि लेखक ने निष्पक्ष होकर अध्ययन किया है। कठिन परिश्रम और गहन अध्ययन के फलस्वरूप साहित्य के आधार पर सामाजिक स्थिति का वर्णन करके डॉ० मिश्रा ने आधुनिक भारतीय इतिहास के शोधकर्ताओं के समक्ष एक नई प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री की उपयोगिता प्रस्तुत करदी है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पच्चीस वर्ष पश्चात् भारतीय इतिहासकारों की सहमति इस तर्क के पक्ष में बढ़ रही है कि भारतीय सामाजिक संगठन देश के पिछड़ेपन के लिए उत्तरदायी था। इसका अभिप्राय: अधिकांशत: जाति प्रथा और छुआछूत की कुरीतियो को दोषी ठहराने तक ही सीमित रह जाता है। इन दोषो को स्वीकार करने के पश्चात् भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता कि मुस्लिम अभिजात्य वर्ग जो १३वी सदी से १८वी सदी के आरम्भ तक सत्ताधारी रहा था वह १८वी सदी के उत्तरार्द्ध और १६वी सदी के पूर्वार्द्ध मे भारतीय राजनीतिक सत्ता को सुरक्षित रखने में क्यों असमर्थ रहा? डा० मिश्रा ने इस प्रश्न का उत्तर देने का सफल प्रयत्न किया है। जिस वर्ग मे दुर्व्यसनो को सम्मान तथा सभ्यता का द्योतक माना गया हो मादक एवं उत्तेजक पदार्थों के प्रयोग से अकर्मण्यता प्रधान हो गई हो (पृ० ७५) वह वर्ग समाज का राजनीतिक अथवा आर्थिक नेतृत्व करने योग्य नही था। मुस्लिम अभिजात्य वर्ग प्रदर्शन प्रियता, शिष्टाचार और आडम्बरपूर्ण व्यवहार मे दक्ष था। इस कारण यह वर्ग अपनी वास्तविक स्थिति को छिपाने का प्रयत्न करता था। ऐसा वर्ग अपनी पद्दलित स्थिति को भी सम्मानपूर्ण समझ सकता था। इसका ज्वलन्त उदाहरण पृ० ७२-७३ पर दिया गया है। अभिजात्य वर्ग का नैतिक पतन उस के पतन के लिए बहुत सीमा तक उत्तरदायी रहा है।

२०वी सदी मे साम्प्रदायिकता के विकास में उलमाओं का क्या योगदान रहा? इस प्रश्न पर इतिहासकारो की विभिन्न मान्यताएँ हैं। डॉ० मिश्रा ने अपने ६ वें अध्याय मे इस प्रश्न पर नया प्रकाश डाला है। उनका यह निष्कर्ष अप्रिय सत्य है कि उलमाओ ने राजनीतिक सत्ता के ह्रास के पश्चात् अपने प्रभाव को बनाए रखने तथा मुस्लिम राजसत्ता को पुनः स्थापित करने के लिए विदेशी आक्रमणकारी को आमन्त्रित तथा सामान्य जनता को पथभ्रान्त करने मे काफी योगदान दिया था। डॉ० मिश्रा का यह निष्कर्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि उलमाओ ने अपने जिहाद के नारो से तथा इस्लाम को भारतीय प्रभावो से मुक्त करने के प्रयत्नो से भारत के दोनो सम्प्रदायो के मध्य एक विशाल वैमनस्य उत्पन्न कर दिया। (पृ० १७५)

डॉ० मिश्रा अपने परिश्रम एवं निष्पक्षता के लिए बधाई के पात्र हैं। हम यह आशा कर सकते हैं कि वे अपने गहन अध्ययन को और आगे बढ़ावेंगे तथा १६वी सदी के उत्तरार्द्ध के सामाजिक जीवन का भी चित्रण करेंगे।

एम० एस० जैन
रीडर,
इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

दि० १०-१०-७३

विषय-सूची

१

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

(अ) इस्लाम तथा उसका भारत में आगमन :

हज़रत मुहम्मद के अरब में अवतरित होने से पूर्व, मक्का मूर्तिपूजा का केन्द्र था, जिसके एक विशाल मन्दिर मे महान देवता होवाल तथा अन्य मूर्तियो के चतुर्दिक वर्ष के प्रत्येक दिवस को समर्पित ३६० देव विग्रह विद्यमान थे।[१] अरब लोग वहाँ काले पाषाण-खण्ड को, जो लोकविश्वास के अनुसार आकाश से गिरा था, चूमने के लिए तथा एक अबोध्य ढग से पूजा करने के लिए एकत्र होते थे। वे वहाँ पशुबलि तथा नरबलि चढाते थे।[२] सामाजिक रूप से वे अर्ध-बर्बर लोग थे, जो मद्यपान तथा अन्य अभद्र दुराचारो मे ग्रस्त थे। उनके समाज में अनेक अनैतिक आचरण प्रचलित थे[३], जघन्य अपराध भी समाज की अतरात्मा को बिना ठेस पहुँचाए किए जा सकते थे। राजनैतिक रूप से स्थिति अराजकतापूर्ण थी, देश म कबीलों का राज्य था, जो परस्पर लडते रहते थे तथा अपने सरदारों को बार-बार बदलते रहते थे। वस्तुत किसी प्रकार का कोई नियम, व्यवस्था अथवा नागरिक सुरक्षा सुलभ नहीं थी।

पैगम्बर के आगमन ने एक नवीन युग का सूत्रपात किया। उनकी समस्याएँ विविध थी—धार्मिक सामाजिक तथा राजनैतिक। महान पुनरुद्धारक का वास्ता ऐसे अर्ध बर्बर लोगो से पडा[४] जिन्हे कोई तर्क प्रभावित नहीं कर सकता था। उनके समक्ष बौद्धिक अनुबन्ध प्रस्तुत करना भैस के आगे बीन बजाना था। अत पैगम्बर ने बडी बुद्धिमत्ता से अपनी शिक्षाओ को तर्क अथवा दर्शन शास्त्र पर

---

१ सय्यद अमीर अली 'द स्पिरिट ऑव इस्लाम' (लन्दन, १९३५), प्राक्कथन पृ० LXIV LXVI।

२ वही, पृ० LXVIII।

३ मुहम्मद अली, ट्रासलेशन ऑव द होली क़ुरान (लाहौर, १९३४) पृ० XXXIII।

४ सय्यद अमीर अली, पृ० १५।

आधारित न कर, दैवी अभिव्यक्ति पर आधारित किया कि—"ईश्वर ने मुझे यह प्रकट किया है तथा तुम इसका पालन करो ।" उन्होंने अरबों को दुराचार तथा अनैतिकता के अन्धकार से विमुक्त करने के लिए एक आचार संहिता का सूत्रपात किया । उन्होंने सामाजिक समानता तथा सर्वव्यापक बन्धुत्व का सिद्धान्त निर्धारित किया— *कि प्रत्येक मनुष्य समान रूप से बिना अपनी स्थिति एव कबीले के भेदभाव* के, ईश्वर तक पहुँच सकता है । पैगम्बर द्वारा प्रतिपादित धर्म विशुद्ध एव सरल था, जिसमे कोई वाह्य कर्मकाण्ड नहीं था । यह इस्लाम अथवा 'ईश्वर की इच्छा के समक्ष आत्मसमर्पण' था तथा साथ ही यह धर्म एकेश्वरवादी था । इस प्रकार, उन्होंने दीर्घकाल से प्रचलित धार्मिक, नैतिक तथा सामाजिक दुराचारों का उन्मूलन करते हुए लोगो को एक नवीन धर्म तथा उसके प्रति मगल कामनाएँ प्रदान कीं । उन्होंने अपने देश के विषम तत्वो को सुसगठित बन्धुत्व मे सयोजित किया, राष्ट्रीय सगठन की स्थापना की तथा अराजकता के स्थान पर शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना भी की ।

इस्लाम का प्रारम्भ एक महान सामाजिक तथा धार्मिक सुधार-आन्दोलन के रूप में हुआ । पैगम्बर ने स्वीकार किया कि उनसे पूर्व भी अन्य पैगम्बर हो चुके हैं तथा सहिष्णुतापूर्वक, श्रद्धाभाव से संकेत किया कि अन्य धर्म भी सत्य का सम्प्रतिपादन करते हैं ।[५] परन्तु शीघ्र ही अरबो ने धर्मप्रचार-कार्य को तीव्र उत्साह से हाथ मे लिया और उसके 'पुस्तक तथा लेखनी' के स्वरूप को 'रक्त तथा लौह' मे परिवर्तित कर दिया । परिणामस्वरूप यह एक युद्धप्रधान धर्म बन गया । प्रारम्भ मे 'काफिर' शब्द नास्तिक व्यक्ति का द्योतक था, कालान्तर मे यह उस व्यक्ति के लिए प्रयुक्त *किया जाने लगा जो इस्लाम को नहीं मानता था ।* कुरान यह सकेत नही करता कि अन्य धर्मावलम्बियो को उत्पीडित किया जाय ।[६] परन्तु कालान्तर मे निर्दोष गैर मुसलमानो का वध तथा धार्मिक उत्पीडन आक्रमणकारी मुस्लिम सेनाओ के आवश्यक अग बन गए ।

इन अरबी जत्थों के साथ इस्लाम का *आश्चर्यजनक गति से प्रसार हुआ ।* धर्मात्मा पैगम्बर के अरब अनुयायी तत्काल ही अपनी नवीन धार्मिक निष्ठा तथा जोश के साथ सभी दिशाओ मे विजय और धर्म परिवर्तन अभियानों पर निकल पडे । विस्मयजनक अल्प समय म ही इस्लाम ने अरब, मैसोपोटामिया, एशिया माइनर, उत्तरी अफ्रीका तथा स्पेन के विशाल भू-भागो को आच्छादित कर लिया । इसका और अधिक प्रसार हुआ । भारत में इन आक्रमणकारियो का प्रथम रेला आठवीं

---

५ मुहम्मद अली, पृ० XXVII ।

६ अब्दुला युसुफ अली, 'द होली कुरान' (लाहोर, १९३७) भाग-१, सूरा II, २५६, पृ० १०३

"धर्म में कोई बाध्यता नही होनी चाहिए

सत्य भ्राति से स्पष्टत अलग पहचाना जाता है ”

शताब्दी के प्रारम्भ में आया परन्तु उसका कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। फिर भी इसने मार्ग खोल दिया जिससे मुसलमान धर्मप्रचारक देश में आ गए।

भारत की लोकप्रसिद्ध सम्पदा तथा घोर धर्मान्धता नवीन धर्मानुयायी तुर्की मुसलमानों के यहाँ आने मे प्रलोभन का विषय बनी। महमूद गजनवी के वार्षिक अभियानों, जिनमें लूट-पाट, जनसंहार तथा भव्य मन्दिरों का विध्वंस होता था, ने राजपूतकालीन भारत के धन तथा वास्तुकला के आश्चर्यजनक नमूनों को पूर्णतः नष्ट कर दिया। महान मूर्तिभंजक ने देश की विजय का मार्ग खोल दिया। ग़ज़नवियों ने पंजाब पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया, जो आन्तरिक भागों में और अधिक भीषण आक्रमणों के लिए निश्चित आधार सिद्ध हुआ। शहाबुद्दीन गौरी ने यह कार्य पूरा किया तथा सन् ११९२ मे तराइन के द्वितीय युद्ध के पश्चात् तुर्कों ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। दिल्ली सल्तनत धीरे-धीरे दो शताब्दियों तक विकसित तथा प्रसरित होती रही और अंत में इसने समस्त उत्तरी भारत तथा दक्षिण के कतिपय क्षेत्र अपने अधिकार में कर लिए। १४वी शताब्दी के अन्त में मुस्लिम राजतन्त्र पतनोन्मुख हो गया तथा डेढ़ शताब्दी—१६वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे मुगल साम्राज्य के दृढ़ रूप से स्थापित होने तक, सांस्कृतिक प्रगति तथा भौतिक समृद्धि अवरुद्ध रही।

(ब) मुस्लिम जनसंख्या की वृद्धि :

दिल्ली तथा अन्य स्थानों पर, मुस्लिम शासन-सत्ताओं के स्थायी रूप से स्थापित हो जाने और उनके विस्तार के परिणामस्वरूप, मुस्लिम जनसंख्या सतत रूप से धीरे-धीरे बढने लगी। जनसंख्या में वृद्धि का प्रथम कारण था—पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश मे विदेशियों का सतत आगमन। अनेक कुटुम्ब—सामूहिक तथा अलग-अलग रूपों में, नवीन समृद्धि, सुरक्षा की खोज, सेवा तथा सम्मान के सुअवसरों मे आकर्षित होकर, इस देश मे बस गए और इसे अपना नवीन आवास बना लिया। दूसरा कारण था, अन्तर्जातीय विवाह का। तृतीय तथा सबसे बड़ा कारण—धर्म परिवर्तन और उसमें योगदान का कार्य था। इसे एक ओर सूफियों तथा दूसरी ओर अधिकारी वर्ग ने, हिन्दू समाज के अधिकांशतः निम्न वर्गों के व्यक्तियों का ज़बरदस्ती और प्रलोभन—दोनों ही प्रकार से परिवर्तन कर कार्यान्वित किया। इस्लाम ने निम्न जाति के हिन्दुओं के लिए नवीन आशाएँ तथा सामाजिक समानता की स्थिति प्रदान की, जो हिन्दू समाज मे उनके लिए नितांत निषिद्ध थी। यह एक ऐसा ठोस प्रलोभन था, जो कतिपय व्यावसायिक वर्गों को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हुआ।[७] जुलाहों का समुदाय इसका महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करता है। वास्तव मे "ये निराश्रित तथा जातिभ्रष्ट ही थे, जिन्होंने नवीन धर्म अंगीकार किया।"[८]

---

७ प्रो० मुहम्मद हबीब, "इलियट एण्ड डाउसन", भाग–२, प्रस्तावना, पृ० ५९।

८. डब्ल्यू० सी० स्मिथ, "मॉडर्न इस्लाम इन इण्डिया" (लन्दन, १९४६), पृ० १९३।

भारतीय मुसलमानो की एक विशाल सख्या "बडी सख्या मे हिन्दू धर्म-परिवर्तितों का परिणाम थी जिन्होने इस्लाम को अगीकार किया तथा इस धर्म को अपने वशजो को हस्तान्तरित कर दिया।"[9]

(स) मुगल साम्राज्य तथा उसका पतन :

मुगल साम्राज्य की स्थापना से मुसलमानो का वैभव अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। भारत ने एक बार फिर शान्ति, उन्नति तथा सम्पन्नता का युग देखा। "आगामी १३० वर्षो मे राज्यक्षेत्र, वैभव, सशस्त्र शक्ति, कला एव उद्योग की वृद्धि जिस तीव्र तथा अबाध गति से हुई, उसने एशियायी विश्व और उसकी सीमाओ से परे की ससार की आँखो मे चकाचौंध उत्पन्न कर दी।........ शान्ति, वैभव तथा प्रबुद्ध राजकीय सरक्षण द्वारा भारतीय मानस मे एक नवीन अभिवृद्धि का सचार हुआ तथा भारतीय साहित्य, चित्रकला, वास्तुकला एव हस्तकला की उन्नति हुई, जिसने इस देश को सभ्य ससार की अग्रिम पक्ति मे पुन स्थापित किया।"[10]

तथापि १७वीं शताब्दी के अन्त तक मुगल साम्राज्य जीर्ण-शीर्ण हो चला था। अर्ध शताब्दी के औरगज़ेब के धर्मान्ध शासन ने, मुगल साम्राज्य के आर्थिक साधन-स्रोतो को समाप्त कर दिया था। उसके समय मे मराठो का प्रतिरोध, सिक्खो का एक सशस्त्र शक्ति के रूप मे उदय, जाटो का उत्थान, यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियो का देश के आन्तरिक भू-भागो मे विस्तार तथा विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों का उभार उठना आदि ऐसी घटनाएँ थी, जिनके परिणामस्वरूप केन्द्रीयप्रशासन विशृह्वल होता गया। ये समस्त शक्तियाँ मुगल साम्राज्य के मेरुदड को धराशायी कर रही थीं तथा विघटन की प्रक्रिया को गतिशील बना रही थी।

औरगज़ेब की मृत्यु (सन् १७०७) ने विघटन की सम्भावना को निश्चित बना दिया। उसकी आँखें मुँदते ही विघटनकारी शक्तियो का बोलबाला हो गया। "मुगल राजमुकुट प्रतिद्वन्द्वी शक्तियो के मध्य एक क्रीडा-कन्दुक के समान उछाला जाने लगा। राजनैतिक मच पर पराधीन शासक तीव्र अनुक्रमण से प्रकट तथा विलुप्त होते रहे।"[11] काहिल सम्राटो के सिंहासनारूढ़ होने से वास्तविक शक्ति, सामन्तो के हाथ मे आ गई तथा राजनैतिक शक्ति के लिए उन्मत्त स्पर्द्धा आरम्भ हो गई। साम्राज्य के पूर्ण विघटन मे अब कुछ ही समय शेष था। १७३९ ई० में नादिरशाह

---

९ क्लिफोर्ड मैनसहार्ट, 'द हिन्दू-मुस्लिम प्रॉब्लम इन इण्डिया" (लदन, १९३५), पृ० ३०, के० एम० अशरफ, 'लाइफ एण्ड कण्डिशन ऑव द पीपल ऑव हिन्दुस्तान" (जे०ए०एस०बी० लैटर्स भाग-१४, १९३५), पृ० १९१; जॉन क्यूमिंग (सम्पादक), 'पॉलिटिकल इण्डिया" (ऑक्सफोर्ड, १९३२) पृ० ८६।

१० सर जदुनाथ सरकार, "फॉल ऑव द मुग्ल एम्पायर", भाग-१ (कलकत्ता, १९३२) पृ० २।

११ के० ए० निजामी, 'शाह वलीउल्ला दहलवी एण्ड इण्डियन पॉलिटिक्स इन द ऐटीन्थ सेन्चुरि", इस्लामिक कल्चर", भाग-२५ (१९५१) पृ० १३४।

ने दिल्ली को लूटा, जिसके साथ मुगल साम्राज्य की रही सही कीर्ति और सम्मान भी लुट गया। कीर्तिविहीन और सम्मानहीन सम्राट की नगण्यता स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष हो उठी। साम्राज्य के शत्रु सकटापन्न स्थिति देख कर स्वार्थ-साधन में व्यस्त हो गए। परिस्थितियों और घटनाओं का लाभ शत्रुओं ने तो उठाया ही, अस्त-व्यस्त अवस्था से परिचित प्रान्तों के गवर्नर भी स्वार्थ-साधन से पीछे न रहे। विभिन्न बहानों का आश्रय लेते हुए वे पृथक् होने लगे। शीघ्र ही बगाल, बिहार, उडीसा, अवध, रुहेलखड और हैदराबाद ने स्वतन्त्र राज्यों के रूप मे अस्तित्व ग्रहण कर लिया।

१८वीं शताब्दी मे मराठा शक्ति का भी उदय प्रमुख रूप मे हुआ। सिन्धिया, होल्कर, गायकवाड तथा भोसलो ने पेशवा के नेतृत्व मे कुछ समय तक सगठित रूप से कार्य किया। दूसरी ओर, पुर्तगाली, डच, फ्रासीसी तथा अग्रेज व्यापारियों ने, जो भारत मे १६वी और १७वीं शताब्दियों मे व्यापार हेतु आए थे, भारतीय राजनीति मे हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार, १८वीं शताब्दी मे विविध प्रतिद्वन्द्वियों के मध्य सर्वोपरिता के लिए बहुमुखी सघर्ष प्रारम्भ हुआ। इस सघर्ष मे पुर्तगाली अपना ध्यान केवल पश्चिम के समुद्रतटीय क्षेत्र तक ही सीमित रखने के लिए बाध्य हुए, जबकि डचों का पूर्णत उन्मूलन हो गया। अग्रेजो तथा फ्रासीसियों ने सन् १७४४–६३ के मध्य निर्णायक युद्ध किया तथा १७६३ म प्राय स्पष्ट हो गया कि फ्रांसीसी बाजी हार चुके थे। १७६१ म आक्रमणकारी अब्दाली के हाथो, पानीपत के मैदान म मराठो को भी प्रचण्ड आघात पहुँचा। परन्तु १७७१ तक पेशवा माधवराव प्रथम के कुशल नेतृत्व म उन्होने अपनी खोई हुई शक्ति व सम्मान पुन प्राप्त कर लिए, यहाँ तक कि वे १७७६–८२ की अवधि मे अग्रेजो से समानता के स्तर पर लडे। परन्तु मराठा नेता पारस्परिक विद्वेषो के कारण शीघ्र ही नष्ट हो गए। अस्त्र-शस्त्रो म निम्नतर होने के कारण व अधिक समय तक अग्रेजो से समानता स्थिर रखने की आशा नही कर सकते थे। इस प्रकार, दिल्ली साम्राज्य की स्थिति, अनेक राजनैतिक विप्लवो के मध्य गुजरते हुए दिन प्रतिदिन क्षीण होती गई तथा १८०३ मे अग्रेजी सर्वोपरिता की स्थापना से भारत मे मुगल शासन अतत समाप्त हो गया। बहरहाल, ईस्ट इडिया कम्पनी के निवृत्तिभोगी के रूप मे सम्राट की छायामात्र अब भी दिल्ली म निवास करती थी। परन्तु वह कम्पनी के हाथो म वृत्ति-भोगी की अपेक्षा, बन्दी रूप मे ही अधिक था।

(द) मुगल साम्राज्य के पतन का प्रभाव

मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही उत्तरी भारत के मुसलमानो के भाग्याकाश म अधकारमयी रात्रि छा गई। उनके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र म एक शोचनीय अवह्रास का प्रादुर्भाव हुआ, जो राजनैतिक शक्ति के पतन के समानान्तर होता चला गया।

राजनैतिक नैतिकता समय-परिवर्तन के साथ भ्रष्ट हो गई। एक विख्यात इतिहासकार के शब्दो म 'राजनैतिक नैतिकता अपने न्यूनतम स्तर पर थी। नीच

षडयन्त्र तथा कुमन्त्रणाएँ सामन्तो और अधिकारियो के जीवन के श्वास ही थे और १८वी शताब्दी के पूर्वार्ध मे हमारे शासकों के लिए प्रतिज्ञात शब्द का भग, विश्वासघात तथा हत्या साधारण घटनाएँ थी।"[१२] उस समय प्रतिभा के लिए उन्नति के द्वार खुले न थे।[१३] ऐसे व्यक्ति, जो सम्राट की सनकों को पूर्ण करते, उसकी वासनाओं की तृप्ति करने, तथा उसकी मूर्खतामो की सराहना करते, वे उच्च पदो पर नियुक्त कर दिए जाते तथा जो इस कला मे असफल सिद्ध होते उनके लिए ऐसा कोई अवसर न था। दरबार मे उपस्थित होकर सम्राट को धन-अर्पण करने से ही राजद्रोहियो को क्षमा प्रदान करदी जाती थी। यदि उच्च पदाधिकारी, कृपा-दृष्टि से गिर जाते तो वजीर को रिश्वत देने तथा सम्राट को धन भेंट करने पर पुनः पदस्थ कर दिए जाते थे। पारस्परिक विद्वेषो से सामन्त विरोधी दलो मे विभाजित हो गए थे; वे एक दूसरे के विरुद्ध धूर्ततापूर्ण षडयन्त्रो मे लिप्त रहते थे। इस प्रकार, दरबार शतरज की बिसात बन गया था, जहाँ दलबदी का खेल अत्यधिक कपटपूर्ण वृत्ति से खेला जाता था।

विलासिता तथा दुर्व्यसनो मे अनुरक्ति, शासको के जीवन के विशिष्ट लक्षण थे। शाह आलम ने अपने विलासी जीवन के विषय मे स्वय लिखा था

सुबह तो जाम से गुज़रती है
शब दिलाराम से गुज़रती है
आकबत की खबर खुदा जाने
अब तो आराम से गुज़रती है।[१४]

मुग़ल आभिजात्यवर्ग अपने स्वामियो के उदाहरणों का अनुकरण करते हुए भोग-विलास के अमर्यादित जीवन मे निमग्न रहता था। मीर तकी मीर अपनी कविता 'दर हाल-ए-लश्कर' मे कुलीन वर्ग की लम्पटता तथा भ्रष्ट आचारो का वर्णन इस प्रकार करते हैं

साल खेमा जो है सिपहर असास
पालें हैं रडियो को उनके पास
है जिना-ओ-शराब बे वसवास
रौंव कर लीजिए यहाँ से कयास
किस्सा कोता रईस है अय्याश।[१५]

उत्तरकालीन मुगलो के समय आभिजात्यवर्ग कुनबापरस्ती तथा भ्रष्टाचार से ग्रस्त था। भव्य प्रासाद, हिजडो और रखैलो के जमघट, अनियन्त्रित व प्रमत्त

---

१२. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, 'द फर्स्ट टू नवाब्स ऑव अवध, (आगरा, १९५४) पृ० २५६।
१३ 'कुल्लियात-ए-सौदा' (लखनऊ, १९१६), पृ० ३५८, ३६४।
१४. मीर हसन, 'तज़किरा शुअरा ए उर्दू' (अलीगढ़, १९२२) पृ० ४०।
१५ 'कुल्लियात ए मीर' (लखनऊ १९४१), पृ० ९५२

रगरलियाँ, बहुव्ययसाध्य भोजन, भव्य समारोह आदि अमीरो के मध्य उस समय की प्रथा बन गए थे। कोई भी उत्सव व समारोह, चाहे वह सामाजिक हो अथवा धार्मिक, बिना गायको और नर्तकियो के प्रदर्शन के पूर्ण नही होता था। उन्हे मुक्त हस्त से उदारतापूर्वक पुरस्कृत किया जाता था। वैभव के विवेकशून्य प्रदर्शनो तथा भोग-विलास की पूर्ति के लिए किए गए अपव्यय से सामन्तवर्ग के ऊपर अत्यधिक व्ययभार पडता था, जिसके कारण उन्हें बेईमानी, रिश्वत एव पहले से ही उत्पीडित कृषक वर्ग के ऊपर कष्टदायक करारोपण का आश्रय लेना पडता था। "प्रचुर राजस्व के होते हुए भी मुसलमान शासको की अतरग विलासिता एव दुर्व्यसन बहुधा उन्हे वास्तविक निर्धनता की स्थिति मे अवकृत कर देते हैं तथा प्राय वे राज्य सम्बन्धी प्रबन्ध एव कार्य को कपटी, धूर्त तथा लोभी व्यक्तियो को सौंप देते हैं, जिससे वे यथार्थ मे अपनी प्रजा के सरक्षक की बजाय लुटेरे बन जाते हैं।"[१६]

१८वी शताब्दी मे मुस्लिम आभिजात्यवर्ग पूरी तरह पतित हो चुका था। "इस पतितावस्था ने स्वय को सैन्य तथा राजनैतिक असहायता के रूप मे प्रदर्शित किया राजसत्ता निराशाजनक रूप से दूषित अथवा निर्बल थी, सामन्त स्वार्थी एव अदूरदर्शी थे, भ्रष्टाचार, अक्षमता एव विश्वासघात ने सार्वजनिक सेवा के समस्त विभागो को कलकित कर रखा था।"[१७] देश का प्रशासन अक्षम और बेईमान हो गया था तथा "जनसाधारण एक क्षुद्र, स्वार्थी, अहकारी तथा अयोग्य शासकवर्ग के द्वारा अत्यन्त निर्धनता, अज्ञानता तथा अपमान की स्थिति में सकुचित कर दिया गया था।"[१८] सर्वोच्च अधिकारियो, सामन्तो एव कुलीनों मे ऐसा कोई व्यक्ति न था, जो मुगल साम्राज्य के विघटन को रोकने अथवा शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने की क्षमता रखता हो। प्रतीत होता था कि अब वे पूर्ण आत्मसमर्पण करने मे विश्वास करते थे। नजीर अकबराबादी (१७३५-१८३०) सम्भवत उनके इसी मनोभाव को निम्न पद्य मे व्यग्यात्मक रूप से व्यक्त करते हैं .

गढ़ टूटा लश्कर भाग चुका अब म्यान मे तुम शमशीर करो
तुम साफ लडाई हार चुके अब भागने में मत देर करो।[१९]

ये पक्तियाँ आभिजात्यवर्ग तथा राजकार्य के कर्णधारों के नैतिक अध पतन को प्रदर्शित करती हैं। "सामन्तवर्ग के नैतिक अध पतन के साथ-साथ कर्मचारी-वर्ग तथा वस्तुत सम्पूर्ण प्रबन्धक वर्ग म बौद्धिक दिवालियापन व्याप्त हो गया था। देश मे कोई दूरदर्शी नेता नहीं था, कोई स्पष्ट, निश्चित एव दृढ़तापूर्वक अनुवर्तित

---

१६. आर० ए० रिंगियन होरेज, 'ट्रैवल्ज इन इंडिया ड्यूरिंग द यीअर्ज १७८०-८३' (लन्दन, १७९३) पृ० १०३।

१७ सर जदुनाथ सरकार, 'फॉल् ऑव दि मुगल एम्पायर', भाग ४ पृ० ३४३-४४।

१८ सर जदुनाथ सरकार, 'हिस्ट्री ऑव बगाल,' भाग-२, पृ० ४९७।

१९ 'कुल्लियात-ए-नजीर' (लखनऊ, १९५१), पृ० ५४१।

राष्ट्रीय प्रगति की योजना न थी जैसी कि अकबर के अन्तर्गत थी। कोई ऐसा राजनीतिज्ञ उद्भूत न हुआ, जो देश को जीवन के नवीन दार्शनिक सिद्धान्त की शिक्षा देता या नवीन स्वर्ग अथवा पृथ्वी के लिए महत्त्वाकांक्षाएँ प्रज्वलित करता। वे सब अपने पूर्वजों की बुद्धिमत्ता के गुणगान मे प्रवाहित और निद्राभिभूत रहते थे तथा आधुनिक पीढ़ी के बढते हुए अध पतन को स्वीकार नही करते थे।'[२०]

मुगलो की सैनिक श्रेष्ठता एक भूतकाल की वस्तु हो गई थी। क्षेत्रीय विस्तार की अदम्य क्षमता, जिसने मुगल साम्राज्य के भाग्य का निर्माण किया था, विलुप्त हो चुकी थी तथा इसके स्थान पर सामान्य सैन्यदल मे एक कायरता की भावना घर कर चुकी थी।[२१] वास्तव मे सैनिकों की स्थिति दयनीय हो चुकी थी। बार बार के विदेशी आक्रमणों तथा धावों से शाही कोष रिक्त हो चुका था। सैनिकों को नियमित रूप से वेतन नही मिल पाता था। विवश होकर उन्हें हथियार आदि बेचने तक की नौबत आ जाती थी

फौज मे जिसको देखो सो है वो उदास
भूख से अक्ल गुम नहीं है हवास
बेच खाया है सब ने साज-ओ-लिबास।[२२]

शाही अस्तबलो मे घोडो का यह हाल था कि उन्हे पर्याप्त रूप से चारा तक नसीब न था

जो अस्तबल में कई घोड़े हैं सो क्या इमकान
कि होवे घास के गट्ठे का उनके आगे निशान।[२३]

ऐसी परिस्थितियों मे सैनिक वृत्ति अब जनसामान्य के आकर्षण का केन्द्र नही रही।[२४] यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि सैनिक, जिनका नैतिक पतन पहले ही हो चुका था व्यग्र होकर विद्रोह तथा ग्रामो और नगरो की लूट-पाट का आश्रय लेने लगे थे, क्योंकि उन्हे दीर्घकाल तक वेतन नही मिल पाता था।[२५]

२० जदुनाथ सरकार (सम्पादक), विलियम इर्विन कृत 'द लेटर मुगल्स भाग २, पृ० ३१४।

२१ 'कुल्लियात ए-सौदा' पृ० ४७६

प्यादे है सो डरें सर मुडात नाई से
सवार गिर पडे सोते मे चारपाई से
करे जो ख्वाब मे घोड़ा किसी के नीचे अलोन।

२२ 'कुल्लियात ए-मीर, पृ० ८०६ इनसे प्रतीत होता है कि उन्हे अन्य नौकरियाँ भी नहीं मिलती थी तथा वे बिना वेतन के भी इसी नौकरी मे पडे रहने के लिए विवश थे।

२३ 'कुल्लियात ए सौदा पृ० ४७६ कुल्लियात ए मीर, पृ० ४७०

रोजी सवार का है न घोडे को दाना है।
तनख्वाह न तलब न पीना न खाना है।।

२४ 'कुल्लियात ए सौदा पृ० ४७७।

२५ वही, पृ० २४९।

सौदा अपने 'शहर-आशोब'[२६] मे, जो कसीदे[२७] के रूप मे रचित है, विस्तार पूर्वक विभिन्न व्यवसायो, यथा-सैनिकवृत्ति, कृषि, व्यापार तथा अन्य कार्यो मे व्याप्त बेरोजगारी एव कठिनाइयो का वर्णन करते है। सैनिकवृत्ति मे वर्षों तक वेतन नही मिल पाता था।[२८] परिणाम यह होता था कि—

शमशीर जो घर में तो सिपर बनिये के यां हैं।[२९]

इस स्थिति से बच निकलने का कोई उपाय नही था, क्योंकि अन्य व्यवसायो की दशा भी इससे अच्छी नही थी।[३०] अपने द्वितीय 'शहर आशोब'[३१] मे जो मुसम्मस[३२] के रूप मे रचित है, सौदा सामान्य रूप से बेरोजगारी एव विशेष रूप से सामन्तवर्ग के जीवन-निर्वाह के साधनो की समाप्ति पर चिन्ता व्यक्त करते हैं। देश म कुशासन के कारण सर्वत्र अशान्ति और अव्यवस्था व्याप्त थी।[३३] पहले जागीरदार व सामन्त सैनिको की भर्ती करते थे, परन्तु जागीरो की समाप्ति पर जीविका के साधन सीमित हो गए।[३४] बेरोजगारो के विषय मे क्या कहा जाए, जो बारोजगार थे, वह भी अत्यधिक निर्धनता से पीडित थे

सो क्या वो नौकरी करती है जिसमे यह औक़ात
मिले है पेट को रोटी सो रो-रो आधी रात।[३५]

सौदा निजी सम्पत्ति के अधिहरण का भी उल्लेख करते हैं जो एक सामान्य बात हो गई थी।[३६] सर्वसाधारण के लिए रुपया इतना दुष्प्राप्य हो गया था, कि वह कठिनता से ही देखने को मिलता था :

---

२६. वही, पृ० १५०; शहर आशोब एक मार्मिक कविता होती है जिसमे किसी शहर के उजडने या बरबाद हो जाने पर उसके पुराने वैभव को दुख के साथ याद किया जाता है।

२७ कसीदा एक प्रकार का काव्य रूप होता है, जिसकी रूपरेखा तो गजल की भांति ही होती है, परन्तु उसम एक ही भाव होता है, जैसे-किसी की प्रशसा या किसी का उपहास। यह शिक्षाप्रद अथवा दार्शनिक भी हो सकता है।

२८. 'कुल्लियात-ए-सौदा,' पृ० १५०।

२९. वही।

३०. वही, पृ० १५१, १५३।

३१ वही, पृ० ४७५।

३२ 'खम्स' अरबी मे पाँच को कहते है, उसीसे यह शब्द बना है। इसका अर्थ है 'पाँच वाला'। इसमे पाँच-पाँच मिसरो के बन्द होते हैं। बन्द के पहले चारो मिसरो की तुक एक ही होती है तथा पाँचवे मिसरे की तुक या तो पहले चारो मिसरो से मिलती है या प्रत्येक पाँचवें मिसरे की तुक मिलती चली जाती है।

३३ 'कुल्लियात-ए-सौदा', पृ० ४७८, ४७६।

३४. वही।

३५ वही, पृ० ४७७।

३६ वही :

दवा का जब से है दारुलखिलाफा म हुजूम
घरो की ऊँची का रस्म इस कदर हुआ है आम।

रुपे की शक्ल नहीं देखी है ख़ुदा जाने
कि इस ज़माने मे चपटा बने है वो या गोल।[३७]

(ग) ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी का राजनैतिक शक्ति के रूप में उदय.

विभिन्न यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियो मे से जो १७वी शताब्दी से भारत म स्थापित थी, केवल ब्रिटिश ईस्ट इडिया कम्पनी ही देश पर राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने की स्पर्द्धा मे सफल रही। इसने अपना कार्य केवल व्यापारिक हितो के लिए प्रारम्भ किया था, परन्तु समय के साथ, देश की बिगडती हुई राजनैतिक *परिस्थिति का लाभ उठाते हुए इसने क्षेत्रीय विवर्धन की नीति का अनुगमन किया* तथा शनै-शनै एक राजनैतिक शक्ति के रूप मे परिणत हो गई। ईस्ट इडिया कम्पनी ने भारत विजय का लक्ष्य अंशको मे प्राप्त किया। प्लासी का युद्ध (१७५७) इस प्रक्रिया का प्रारम्भ था, जिसके परिणामस्वरूप कम्पनी केवल २४ परगने की जमीदार ही नही वरन् बगाल मे शासक-निर्माता भी बन गई। १७६५ मे दीवानी अथवा राजस्व अधिकार-प्राप्ति से इसे बगाल, बिहार तथा उडीसा मे असैनिक प्रभुत्व का वैध स्वामित्वाधिकार मिल गया। इसके अतिरिक्त, बगाल के नवाब से सैनिक सत्ताधिकार (निज़ामत) की प्राप्ति मे शेष कमी भी पूरी हो गई। कुछ वर्षो तक कम्पनी केवल अव्यवस्था तथा गडबडी उत्पन्न करने के उद्देश्य से उत्तरदायित्व से कतराती रही। जब स्थिति काबू स बाहर हो गई, तो १७७२ मे इसे प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायित्व लेना पडा। १८०३ तक मद्रास प्रेसीडेन्सी का अधिकाश कम्पनी के शासन मे आ गया। अब केवल मराठे, जो स्वय भी विभक्त थे, उत्तरी भारत मे अंग्रेज़ो की चिन्ता के कारण रहे, परन्तु द्वितीय मराठा युद्ध (१८०३-५) मे अंग्रेज़ो ने इस अवरोध को भी सफलतापूर्वक समाप्त कर दिया।

सन् १८१२ ई० मे ब्रिटेन की संसद ने ईस्ट इडिया कम्पनी को व्यापारिक गतिविधियो से मुक्त कर भारत पर शासन करने का माध्यम बनाया। १८१३-१८ की अवधि मे राजपूताना के राज्यो पर भी अंग्रेज़ो का राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित हो गया तथा दक्षिण मे पेशवा के राज्य को भी अंग्रेज़ी साम्राज्य मे मिला लिया गया। इस समय तक अवध को छोडकर सयुक्तप्रान्त का अधिकाश कम्पनी के अधिकार मे आ गया था। *सन् १८३३ के अधिकार-पत्र ने कम्पनी के व्यापारी रूप के अन्तिम* अवशेष को भी समाप्त कर दिया तथा अंग्रेज़ो को भारत मे एक सभ्य सरकार की स्थापना का उत्तरदायित्व सौंपा। सन् १८४५-४८ की अवधि म पजाब को तथा १८५६ में अवध को अंग्रेज़ी साम्राज्य मे मिला लिया गया। "अवध का सूबा (प्रान्त) *जो इस शताब्दी के प्रारम्भ मे एक राज्य के स्तर पर पहुँच गया था, भारत मे इस्लाम* के गौरव का एकमात्र अवशिष्ट प्रतीक तथा सतत साक्ष्य बना रहा था। अपने अत्याचारों, कुशासन तथा स्पष्ट अव पतन के बावजूद अवध, उत्तर भारत के मुसल-

---

३७ वही।

मानो के लिए, इस्लामी शासन के गौरव का प्रतिनिधित्व कर रहा था। इसके अंग्रेजी साम्राज्य मे विलीन कर लिए जाने के कारण, मुस्लिम सत्ता के अन्तिम स्मृति-चिह्न लुप्त हो गए तथा दिल्ली से मुर्शिदाबाद तक मुसलमानो ने अनुभव किया कि उनकी सत्ता का सूर्य वास्तव मे अस्त हो चुका था।"[३८] सन् १८५८ तक ईस्ट इंडिया कम्पनी उस सम्पूर्ण क्षेत्र की स्वामी थी, जिसे ब्रिटिश इंडिया कहा जाता था, तथा उसने भारतीय रियासतो पर सर्वोपरिता स्थापित कर ली थी।

२

विभिन्न साहित्यिक मनीषियों का संक्षिप्त सर्वेक्षण

(अ) उर्दू भाषा का विकास

१९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में उर्दू भाषा का जो रूप हमें उपलब्ध होता है, वह अनेक शताब्दियों में हुए खण्ड-खण्ड विकास का सम्मिलित विकसित रूप था। किसी भी भाषा-विशेष की उत्पत्ति कैसे हुई और कब हुई, यह निर्धारित करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। इसी भाँति उर्दू भाषा की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर प्राप्त होते हैं। एक मत के अनुसार, इसका बीजारोपण पंजाब में हुआ तथा इस भाषा के प्रारम्भिक चिह्न चन्द वरदाई रचित 'पृथ्वीराज रासो' में प्राप्त होते हैं। दूसरे विचार के अनुसार, मुहम्मद बिन कासिम की सिन्ध विजय के पश्चात्, आक्रमणकारियों तथा सिन्धवासियों के सम्पर्क के परिणामस्वरूप उर्दू का जन्म हुआ। एक तीसरे मत के अनुसार, इस भाषा का जन्म दक्षिण में हुआ। उर्दू के जन्म के विषय में कितना ही मतभेद क्यों न हो, परन्तु यह निश्चित है कि अपनी शैशवावस्था में इसका पोषण दिल्ली में ही हुआ।

'उर्दू' शब्द तुर्की भाषा का है, जिसका अर्थ 'शिविर' अथवा सेना होता है। शाही शिविरों में तुर्की, ईरानी एवं भारतीय साथ-साथ रहते थे, इस कारण उनकी भाषा, जो इन तीनों भाषाओं की सम्मिश्रण थी, 'अहल-ए-उर्दू' (शिविर के लोगों) की भाषा अथवा अधिक सरल रूप में 'जबान-ए-उर्दू' (शिविर की भाषा) कहलाई। यह जबान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला अथवा प्रतिष्ठित शिविर की भाषा भी कही जाती थी।[1]

---

[1] इनके अतिरिक्त, प्रारम्भ में यह अन्य नामों से भी सम्बोधित की जाती थी, यथा-हिन्दुई, हिन्दवी, हिन्दी, जबान-ए-देहली, जबान-ए-हिन्दुस्तान, रेख्ता, हिन्दोस्तान तथा हिन्दुस्तानी। अत परिवर्तनों के परिणामस्वरूप एक नवीन भाषा, विविध नामों परन्तु सामान्य रूपरचना तथा अत्यधिक मिश्रित शब्द भण्डार के साथ उत्तरी दोआब में अस्तित्व में आई, तथा दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त की जाने लगी।

शनैः-शनैः 'ज़बान' शब्द का प्रयोग समाप्त हो गया और कुछ समय पश्चात् भाषा स्वयं 'उर्दू' के नाम से प्रसिद्ध हो गई।[२] इस प्रकार शिविर ने विभाषा को इस सीमा तक प्रभावित किया कि इसे अपना नाम ही दे डाला।[३] किन्तु इस क्षेत्रीय भाषा का व्याकरणिक रूप हिन्दी भाषा (खड़ी बोली) के ही समान है तथा केवल शब्द-भण्डार में थोड़ा-सा अन्तर है, जिसकी शैली प्रारम्भ में बड़ी सरल और व्यवहारोपयोग्य थी। कालान्तर मे यह भाषा लिखी जाने लगी और केवल 'बोली' ही न रह गई। चूंकि यह अधिकांशतः मुस्लिम प्रभुत्व सेना द्वारा व्यवहृत की जाती थी, इसका फ़ारसी लिपि मे लिखा जाना स्वाभाविक था। इसमे फारसी, अरबी तथा तुर्की जैसी विदेशी भाषाओं के शब्दों का समावेश भी बहुतायत मे होता गया।[४]

अपने प्रारम्भिक चरणों में उर्दू साहित्य का विकास एवं वृद्धि कुछ स्पष्ट नहीं है। अन्य भाषाओ के साहित्यो के समान इस भाषा के साहित्य का विकास भी पद्य से ही प्रारम्भ हुआ। अमीर ख़ुसरो (१२५३-१३२५) प्रथम लेखक थे, जिन्होंने उर्दू भाषा का प्रयोग साहित्यिक उद्देश्य के लिए किया। परन्तु कई शताब्दियों तक उत्तर भारत में किसी विद्वान ने ख़ुसरो का अनुकरण नहीं किया। १६वी तथा १७वी शताब्दियों मे दक्षिण भारत मे बीजापुर और गोलकुण्डा के कतिपय प्रबुद्ध सुलतानों (जो स्वयं भी कवि थे) के संरक्षण मे उर्दू कविता को प्रोत्साहन मिला।[५] उनके दरबार के कुछ मुसलमान कवियो ने अपनी कविताओं मे इसका प्रयोग किया। उनकी रचनाओं से उत्तर भारत मे अधिक रुचि उत्पन्न हुई तथा १८वी शताब्दी के पूर्वार्ध मे हातिम, आबरू, मदमून, आरज़ू आदि कवियों ने दक्षिण के कवियों का अनुकरण करते हुए, उर्दू भाषा तथा कविता की उन्नति मे योगदान दिया।[६]

इस प्रकार, उर्दू कविता का केन्द्र दक्षिण भारत से परिवर्तित होकर, दिल्ली हो गया। १८वी शताब्दी के उत्तरार्ध में सौदा एवं मीर जैसे प्रख्यात कवियों का समय आया।[७] इस युग मे उर्दू कविता अत्यन्त श्रेष्ठ और उच्च स्तर की होने लगी; यह बात इस युग के उत्कृष्ट कवियों और उनकी उत्तम रचनाओं से स्पष्ट होती है। इन कवियों की रचनाएँ इतने उच्च स्तर की थी कि उन्होंने भावी कवियों के लिए अनुकरणीय आदर्श एवं प्रतिमान प्रस्तुत किए।

१९वी शताब्दी के पूर्वार्ध मे उर्दू साहित्य उत्तर भारत मे फला-फूला। यह कथन उन साहित्यिक मनीषियो के प्रादुर्भाव से और अधिक स्पष्ट हो जाता है, जिन्होंने

---

२ भाषा के अर्थ मे उर्दू शब्द के प्रयोग का सबसे प्राचीन ज्ञात उदाहरण मुसह्फी (१७५०-१८२४) की कविताओं में पाया जाता है।

३. रामबाबू सक्सेना, 'ए हिस्ट्री ऑव उर्दू लिटरेचर' (इलाहाबाद, १९४०) पृ०१।

४. वही पृ० २।

५. वही पृ० १२।

६. वही पृ० १३।

७. टी० ग्राहम बेली, 'ए हिस्ट्री ऑव उर्दू लिटरेचर' (लन्दन, १९३२), पृ० ४१।

उर्दू कविता के क्षेत्र मे एक नवीन ज्योति का सचार कर उसे जगमगा दिया। गालिब तथा ज़ौक के समय मे, जो उर्दू साहित्य का स्वर्णयुग समझा जाता है, उर्दू साहित्य अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर था। इस युग मे उर्दू गद्य, नाटक तथा पत्रकारिता की भी उन्नति हुई।[८] इस समय की साहित्यिक कृतियो मे तत्कालीन समाज के विभिन्न महत्वपूर्ण पक्षो पर प्रकाश पडता है।

(ब) विभिन्न साहित्यिक मनीषियो का संक्षिप्त सर्वेक्षण.
उनकी जीवनियाँ एवं कृतियाँ—

(१) 'सौदा' (१७१३–८१)

मिर्ज़ा मुहम्मद रफी सौदा १८वी शताब्दी के उत्तरार्ध के उर्दू के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। वे मिर्ज़ा मुहम्मद शफी के पुत्र थे, जो मूल निवासी तो काबुल के थे, परन्तु दिल्ली मे व्यापारी के रूप मे बस गए थे। सौदा का जन्म १७१३ ई० मे हुआ था। उनका पोषण एव शिक्षण दिल्ली में ही हुआ। सिराजुद्दीन अली खान आरज़ू की सगति से उनकी उर्दू कविता मे रुचि जाग्रत हुई। शीघ्र ही वे श्रेष्ठ और उच्च स्तर की रचनाएँ करने लगे, जिसमे वे जन-साधारण के प्रिय कवि हो गए। उनकी प्रसिद्धि से तत्कालीन बादशाह शाह आलम 'आफताब' का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ, जो उनके शिष्य बन गए तथा उनसे अपनी रचनाओ का सशोधन कराने लगे।

कहते हैं कि एक बार बादशाह ने सौदा को 'मलिकुश्शुअरा' (कवि सम्राट) की उपाधि प्रदान करने की इच्छा प्रकट की, परन्तु कवि ने दम्भपूर्वक यह कहकर प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया कि उनका अपना कलाम ही उनके लिए वह उपाधि अर्जित करेगा।[९] उनकी कृति 'शहर आशोब' ने, जो स्वय बादशाह और उनके दरबारियो पर व्यग्यपूर्ण रचना थी, बादशाह से उनके सम्बन्ध पूर्णत बिगाड दिए। बहरहाल, वह अपने भरण-पोषण के लिए दिल्ली के दो रईसो—बसन्त खाँ तथा मेहरबान खाँ पर निर्भर रहने लगे। अवध के नवाब शुजाउद्दौला ने जब सौदा की प्रतिभा के विषय मे सुना, तो उन्हे फ़ैज़ाबाद आने का निमन्त्रण दिया, परन्तु कवि ने उत्तर में यह रुबाई लिखकर नवाब के पास भिजवादी

'सौदा' पए दुनिया तू बहर सू कब तक ?
आवारा अज़ीं-कूचा ब-आं-कू कब तक ?
हासिल यही इससे न कि दुनिया होवे
बिल्फर्ज़ हुआ यू भी तो फिर तू कब तक ?[१०]

दुर्भाग्यवश दिल्ली मे उनके लिए सुविधापूर्ण जीवन की परिस्थितियाँ अधिक समय तक न रह सकी। कालचक्र की गति के साथ, एक-एक करके उनके सभी

---

८ सक्सैना, पृ० २२, ३४६, २६३।
९ मुहम्मद हुसैन आज़ाद 'आब-ए हयात' (लाहौर, १९१७) पृ० १५–१६।
१०. वही, पृ० १५०।

सहायकों का अन्त हो गया। संरक्षण सकुचित होकर समाप्ति की सीमा तक आ गया। जीवन और सम्पत्ति अधिकाधिक असुरक्षित होते गए। अत दिल्ली के कवि बाहर जाने लगे। सौदा भी इसके अपवाद न रहे। उन्हें भी अपने जन्म स्थान से विदाई लेनी पड़ी तथा वे फर्रुखाबाद के नवाब अहमद खाँ बगश के सरक्षण मे आ गए। १७७१ ई० मे नवाब की मृत्यु के पश्चात् वे फैजाबाद के नवाब शुजाउद्दौला की सेवा मे आए। कहा जाता है कि नवाब के प्रारम्भिक निमन्त्रण ठुकरा देने के कारण उनके व्यग्यपूर्ण आक्षेप से दोनो के सम्बन्धो मे कटुता उत्पन्न हो गई।[११] परन्तु शीघ्र ही कवि ने नवाब का अनुग्रह प्राप्त कर लिया और उनकी मृत्यु—१७७५ ई० तक वे उनके सरक्षण का उपभोग करते रहे। शुजा के उत्तराधिकारी नवाब आसफुद्दौला ने उनको 'मलिकुश्शुअरा' की उपाधि से विभूषित किया।[१२] लखनऊ मे १७८१ ई० में मृत्युपर्यन्त उनकी स्थिति पूर्ववत् बनी रही।

सौदा की गणना उर्दू के महान कवियों मे की जाती है, तथा वे उर्दू साहित्य मे मीर और गालिब के साथ ही शीर्षस्थान के अधिकारी हैं।[१३] वे प्रथम कवि हैं जिन्होंने व्यग्यात्मक रचनाओ को गम्भीर रूप प्रदान किया। "वे एक दूषित युग की दुश्चरित्र सतति के विरुद्ध भयकर भर्त्सना के साथ टूट पड़ते हैं।"[१४] उनके व्यग्य तथा अन्य रचनाएँ तत्कालीन उत्तरी भारत के लोगो के जीवन और दशा के दर्पण हैं।

सौदा ने निम्नलिखित रचनाएँ की (१) फारसी गजलो का अपूर्ण दीवान, (२) फारसी के कतिपय कसीदे, (३) उर्दू गजलो का दीवान, (४) चौबीस मसनवियाँ, (५) दिल्ली तथा लखनऊ के उच्चश्रेणी के व्यक्तियों की प्रशसा मे कसीदो का दीवान, (६) मीर के पद्यों की व्याख्या, (७) सलाम तथा मर्सिए, (८) पवित्र धार्मिक मनुष्यों की प्रशसा मे कविताएँ, (९) 'इबरतुलगाफलीन'—गद्य की पुस्तिका, (१०) मीर कृत मसनवी 'शोला-ए इश्क' का गद्य अनुवाद तथा (११) उर्दू कवियों का जीवन-चरित्र, जो अब अप्राप्य है।

(२) मीर तकी 'मीर' (१७२४–१८१०)

मीर मुहम्मद तकी, जिनका कवि नाम 'मीर' था तथा सामान्यत मीर तकी के नाम से विख्यात थे, अकबराबाद (आगरा) के आभिजात्य मीर अब्दुल्ला के पुत्र थे। बचपन से ही मीर तकी मे कवि प्रतिभा दृष्टिगोचर होने लगी थी। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वे अपने चाचा खान आरज़ू (सिराजुद्दीन) के पास दिल्ली चले आए। खान आरज़ू जो फारसी के प्रसिद्ध कवि थे, उनकी देखभाल के साथ उनकी रचनाओं का निरीक्षण भी करते थे। उनकी कविताएँ शीघ्र ही लोकप्रिय हो गईं।

---

११ सक्सेना, पृ० ६२।
१२. 'आब-ए हयात,' पृ० १५१।
१३. सक्सेना, पृ० ६७।
१४ वही, पृ० ६४।

मीर की गर्वीली प्रकृति उन्हे किसी धनी व्यक्ति का सरक्षण प्राप्त करवाने मे बाधक सिद्ध हुई तथा उन्हे जीवनयापन की सुविधाओ से वचित रखा।[१५] अतिशय निर्धनता की स्थिति मे वे लगभग १७८३ ई० मे दिल्ली त्याग कर लखनऊ चले गए।[१६]

लखनऊ मे नवाब आसफ़ुद्दौला ने उन्हें सरक्षण प्रदान किया, परन्तु कतिपय घटनाओ[१७] से दोनो मे मतभेद उत्पन्न हो जाने के कारण उन्हें दरबार से विदा लेनी पडी। इस प्रकार, मीर को अति निर्धनता एव भुखमरी की दशा मे अपना जीवनयापन करना पडा। सन् १८१० ई० मे उनकी मृत्यु हो गई।

यद्यपि 'आब ए-हयात' म वर्णित मीर के प्रकृतिविषयक कथनो और चुटकुलो पर अनेक व्यक्तियो ने आपत्ति प्रकट की है,[१८] तथापि इसमे सन्देह नहीं कि व अतिशय गम्भीर, आत्मकेन्द्रित, गर्वीले तथा सवेदनशील प्रकृति के थे।[१९] उन्हें स्वय अपने क्रोधी स्वभाव का बोध था जैसाकि उनके इस कथन से प्रतीत होता है

हालत ये है कि मुझको गमों से नहीं फराग
दिल सोजिशे दूरुनी से जलता है ज्यूं चिराग
सीना तमाम चाक है सारा जिगर है दाग
है नाम मजलिसों में मिरा मीरे-बेदिमाग
अजबस कि कम दिमागी ने पाया है इश्तहार।[२०]

तथापि मीर उर्दू साहित्य के इतिहास में अद्वितीय स्थान रखते हैं। गजल लेखक के रूप मे वे सर्वश्रेष्ठ हैं, तथा लोक मे 'खुदा ए-सखुन' अथवा 'कविता के ईश्वर' कहे जाते हैं।[२१] यहाँ तक कि गालिब ने भी उन्हे एक उस्ताद के रूप मे स्वीकार किया था

रेख्ते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो गालिब
कहते हैं अगले जमाने मे कोई मीर भी था।[२२]

मीर बहुमुखी प्रतिभा के लेखक थे। उनकी रचनाएँ निम्नलिखित है

(१) रेख्ता गजलो के छ बडे दीवान, (२) फारसी गजलो का एक दीवान, (३) मसनवियाँ, (४) फारसी म 'फ़ैज़ ए मीर' नामक पुस्तिका, (५) फारसी म

१५ आब-ए-हयात, पृ० २०४।
१६ सक्सेना, पृ० ७१।
१७ 'आब-ए हयात, पृ० २०६-७।
१८ सक्सेना, पृ० ७२।
१९ वही, पृ० ७३।
२० 'कुल्लियात ए-मीर', पृ० ६२१।
२१ सक्सेना, पृ० ७६।
२२ दीवान-ए-गालिब', सम्पादक मालिक राम (दिल्ली १९५७) पृ० ७२।

ही उर्दू कवियो की स्मृताजलि 'नुक्तातुश्शुअरा', (६) फारसी में अपना आत्म-चरित्र 'जिक्र-ए-मीर'।

उनकी अनेक मसनवियो मे विशेष रूप से उल्लेखनीय ये हैं (१) 'अजगर-नामा', जिसमें कवि ने स्वय को ऐसा अजगर माना है जो छोटे कवि रूपी जीवो को निगल जाता है, (२) 'शोला-ए इश्क' अथवा 'प्रेम-ज्वाला', (३) 'जोश ए-इश्क' अथवा 'प्रेमावेग', (४) 'दरिया-ए-इश्क' अथवा 'प्रेमोदधि', (५) एजाज ए-इश्क' अथवा 'प्रेम का चमत्कार', (६) 'ख्वाब-ओ ख्याल' अथवा 'स्वप्न और विचार', (७) 'मामलात-ए-इश्क' अथवा 'प्रेम सव्यवहार', (८) मसनवी 'तबीहुलख्याल', जिसमे काव्यकला की प्रशसा की गई है, (९) 'शिकारनामा' जो तीन मसनवियो का सग्रह है और जिसमे नवाब आसफ्‌द्दौला के आखेट अभियानो का वर्णन है। (१०) अनेक लघु मसनवियाँ।

(३) मीर 'हसन' (लगभग १७३६–८६)

मीर ग़ुलाम हसन जो मीर 'हसन' के नाम से अधिक विख्यात है, दिल्ली मे उत्पन्न हुए थे तथा कवि मीर गुलाम हसन 'जाहक' के सुपुत्र थे।[२३] उन्होने बचपन मे ही अपने पिता से काव्यकला सीखी थी तथा कालान्तर मे अपनी रचनाओ का सशोधन, ख्वाजा मीर दर्द से कराया। दिल्ली मे व्याप्त अशान्ति के कारण उन्हें १२-१३ वर्ष की आयु मे ही गृह-त्याग करना पडा। वे अपने पिता के साथ फैज़ाबाद चले गए,[२४] जो उस समय अवध की राजधानी थी। उन्होंने नवाब आसफ्‌द्दौला के मामा नवाब सालारजग के यहाँ नौकरी कर ली। धीरे-धीरे उन्हे फैज़ाबाद से अत्यधिक लगाव हो गया। जब शासन-केन्द्र लखनऊ स्थानांतरित हुआ तो वे भी वहाँ चले गए तथा वही स्थायी रूप से निवास करने लगे। लखनऊ मे ही १७८६ ई० म उनका देहावसान हुआ।

मीर हसन को उर्दू साहित्य मे उच्च स्थान प्राप्त है, वे अपनी भाषा की मधुरता और सरलता के लिए विख्यात हैं। उनकी रचनाएँ निम्नलिखित है

(१) ग़ज़लो का दीवान (2) ग्यारह मसनवियाँ, जिनमे से सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं —(अ) सहरुल बयाँ अथवा 'किस्सा बेनज़ीर व बद्रे-मुनीर' जो प्राय 'मसनवी ए-मीर हसन' भी कहलाती है, यह उर्दू की सर्वाधिक विख्यात और जनप्रिय गाथा है जिसने इसके लेखक को अमर बना दिया है। इसमे स्त्रियो के परिधानो, विवाहोत्सवो एव अन्य प्रथाओं का बडा ही रोचक वर्णन है (ब) 'गुलज़ार-ए इरम' जिसमें लखनऊ पर व्यग्य और फैज़ाबाद की प्रशसा की गई है। इसमे भी मुसलमानो मे प्रचलित रीति रिवाजों, स्त्रीय-परिधानो तथा उत्सवो का वर्णन है (३) कसीदे जिनमे से अब केवल सात ही प्राप्य हैं (४) फारसी मे उर्दू कवियो का तज़किरा।

---

२३. सक्सेना, पृ० ६३।
२४ बेनी, पृ० ५२।

(४) 'मुसहफी' (१७५०-१८२४)

शेख गुलाम हमदानी 'मुसहफी' अमरोहा के कुलीनवंशीय शेख वली मुहम्मद के पुत्र थे। उनका जन्म १७५० ई० में हुआ था। युवा होने पर वे अरबी और फारसी में शिक्षा-प्राप्ति के उद्देश्य से दिल्ली आए। उन्होंने उर्दू कविता में गहरी रुचि प्रदर्शित की और शीघ्र ही कवि के रूप में प्रसिद्ध हो गए। वे अपने घर पर मुशायरे आयोजित करते थे, जिनमें दिल्ली के प्रायः सभी उच्चकोटि के शायर सम्मिलित हुआ करते थे।

जीविका की खोज में मुसहफी को दिल्ली त्यागनी पड़ी तथा वे आँवला, टाँडा (रामपुर के पास) एवं लखनऊ जैसे स्थानों का भ्रमण करते रहे।[२५] लखनऊ में एक वर्ष रहने के पश्चात् पुनः दिल्ली आ गए जहाँ एक लम्बी अवधि तक रहे। इस अवधि में उन्होंने जीविकोपार्जन के लिए व्यापार भी किया।[२६] अन्ततोगत्वा वे लखनऊ चले गए और मिर्जा सुलेमान शिकोह के यहाँ नौकरी करली तथा स्थायी रूप से वहीं बस गए। उनके जीवन के अन्तिम वर्ष, अपने प्रतिद्वन्द्वी इन्शा के विरुद्ध तीव्र संघर्षों में व्यतीत हुए, जिनके कारण उन्हें नवाब की संगति से अलग होना पड़ा।[२७] "दोनों कवि एक दूसरे से अपरिमित भाषा में गाली-गलौज करते थे और उनके संरक्षक उन्हें और अधिक प्रयास करने के लिए भड़काते थे।"[२८] अत्यन्त दरिद्रता तथा निराशा की स्थिति में सन् १८२४ ई० में मुसहफी की मृत्यु हो गई।

मुसहफी कविता में असाधारण प्रवाह के लिए प्रसिद्ध हैं। पद्यों की तत्काल रचना करने की क्षमता उनमें थी, और वह भी इतनी सरलता से कि कभी-कभी लोग यह समझ बैठते थे कि वे किसी पुस्तक की नकल मात्र कर रहे हैं। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में, जब वे आर्थिक संकट से ग्रसित थे, रचना करके "अपनी कविता को क्रेता की इच्छानुसार अमुक पंक्तियाँ प्रति पैसे के हिसाब से विक्रय कर देते थे।"[२९]

---

२५. अमीर अहमद अल्वी, 'हयात ए मुसहफी', निगार', जनवरी १९३९ पृ० १२।

२६ वही पृ० १७।

२७ अब्दुलहई नदवी 'गुल ए-रअना' (आजमगढ़ १९२५), पृ० २२१;
जब सुलेमान शिकोह का संरक्षण संकुचित हो गया तथा उनके वेतन में कटौती कर दी गई तो मुसहफी ने लिखा :

> ऐ वाए कि पच्चीस से अब पाँच हैं अपने
> हम भी थे कभी रोजो में पच्चीस के लायक
> उस्ताद का करते हैं अमीर अबके मुकर्रिर
> होता है जो दरमाहा साईस के लायक।

२८ बेली, पृ० ५४।

२९ वही, पृ० ५३; शामत के मारे बेचारे मुसहफी ने बुढ़ापे में शादी भी करली थी, जिससे एक ओर तो उनके विपक्षियों को उनकी खिल्ली उड़ाने का अवसर मिला तथा दूसरी ओर उनकी कविता की भी दुर्गति हुई। उनका साला उनकी अच्छी अच्छी गजलें छाँट कर ले जाता था; उनके लिए निम्न स्तर के शेर ही शेष रह जाते थे।

चुनी हुई श्रेष्ठ कविताओं की बिक्री के पश्चात् जो कविताएँ उनके पास बच जाती थी, उनको वे अन्तिम रूप देकर मुशायरों में सुनाया करते थे।[३०] परिणामस्वरूप उनकी रचनाओं का स्तर घटता गया एवं मुशायरों में उनकी रचनाओं का महत्व शनैः-शनैः कम होता गया। इसके अतिरिक्त, उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें से अधिकांश का श्रेय उनको नहीं मिल सका।

मुसहफी फारसी के भी उतने ही सिद्धहस्त लेखक थे जितने कि उर्दू के। उन्होंने फारसी में चार दीवान लिखे थे, जिनमें से अब केवल एक ही उपलब्ध है। उन्होंने फारसी में कवियों का तज़किरा तथा कुछ भाग शाहनामा का भी लिखा जिसमें शाहआलम तक की वंशावली का वर्णन है।

बहरहाल, मुसहफी विशेष रूप से उर्दू के आठ दीवान तथा उर्दू कवियों का तज़किरा के लिए विख्यात हैं, जिसमें कम से कम उनके समय तक के लगभग ३५० कवियों का वर्णन है।

(५) 'इन्शा' (लगभग १७५६-१८१७)

सय्यद इन्शा अल्ला खाँ 'इन्शा' दिल्ली के कवि तथा शाही चिकित्सक हकीम माशा अल्ला खाँ 'मसदर' के पुत्र थे। मुगल साम्राज्य के विघटन के कारण हकीम माशा अल्ला कुछ समय के लिए मुर्शिदाबाद के दरबार में चले गए।[३१] वहीं पर लगभग १७५६ ई० में इन्शा का जन्म हुआ।[३२] प्रारम्भिक अवस्था में उनके पिता उनकी कविताओं का संशोधन किया करते थे। १८८६ ई० में वे दिल्ली आ गए तथा मीर सोज़ के शिष्य बन गए। परन्तु शीघ्र ही उनसे झगड़ा हो गया।[३३] तत्पश्चात् वे अपनी रचनाओं को मुसहफी को दिखाने लगे किन्तु उनके साथ भी सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे।[३४] शाहआलम ने, जो स्वयं भी एक कवि और कवियों के सरक्षक थे, इन्शा को अपने दरबार में आमन्त्रित किया। परन्तु इन्शा ने दिल्ली दरबार से असन्तुष्ट होकर लखनऊ में निवास करने का निश्चय किया। लखनऊ में नवाब के पुत्र मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह ने उन्हें अपनी सेवा में ले लिया। इन्शा ने शीघ्र ही अपने स्वामी की कृपादृष्टि प्राप्त कर ली और दरबार में अपने प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी कवि मुसहफी का रंग उखाड़ दिया।[३५] इसके पश्चात् वे नवाब सआदत अली खाँ के सम्पर्क में आए, जिनसे वे केवल मित्रता करने में ही सफल नहीं हुए वरन् गहरी घनिष्ठता भी स्थापित करली। परन्तु चंचल प्रकृति वाले नवाब के साथ के गोरखोर मज़ाक करने की उनकी प्रवृत्ति से दोनों के सम्बन्धों में दरार उत्पन्न हो गई। ने अपना

---

३० 'आब ए-हयात,' पृ० ३१४।

३१ फरहतुल्ला बेग 'इन्शा' (दिल्ली १९८३) पृ० ४।

३२ अबुल लैस सिद्दीकी, 'लखनऊ का दबिस्तान ए-शायरी', (अलीगढ़, १९४४) पृ० १५०।

३३ फरहतुल्ला बेग, पृ० ५।

३४ वही।

३५ 'आब ए-हयात', पृ० २६७।

एक भद्दे व्यंग्य-जिसमे नवाब की कुलीन उत्पत्ति में सन्देह प्रकट किया गया था, के कारण उनके कोप-भाजन बन गए।[३६] वे दरबार के 'अप्रिय पात्र' बन गए तथा वस्तुतः बन्दी बना लिए गए, क्योंकि बिना आज्ञा वे घर से बाहर नही जा सकते थे। इस संघर्ष की चरम परिणति तब हुई जब उन्होंने नवाब को सार्वजनिक रूप से उनके मुँह पर ही बुरा-भला कहा। इसके दण्डस्वरूप नवाब ने उनका वेतन बन्द करवा दिया तथा लखनऊ से बाहर निकाल दिया।[३७] बाद मे उनको लौटने की आज्ञा तो मिल गई परन्तु फिर भी उनका शेष जीवन अर्धबन्दी दशा मे व्यतीत हुआ। "उनके घर मे दुःख एवं दरिद्रता ने प्रवेश कर लिया। इन्शा को, जो किसी समय सर्वाधिक प्रिय साथी समझे जाते थे, अपने स्वामी की नाक के बाल थे, अपने मित्रो की प्रसन्नता के साधन थे, विद्वानो के आभूषण थे, अपने जीवन के अंतिम दिन अत्यन्त ही अपयश, सन्तति तथा भुखमरी की स्थिति मे व्यतीत करने पड़े।"[३८] १८१७ ई० मे उनका देहान्त हो गया।

निश्चय ही इन्शा अपने मित्रों के लिए, विशेषकर मुशायरों में आनन्द के साधन थे। उनकी अतिशय विनोदी तथा टटोली प्रवृत्ति के कारण उनके प्रतिद्वन्द्वी मुसहफ़ी ने उनको 'भांड' की उपाधि दी थी।[३९] वस्तुत. वे एक ज्ञान सम्पन्न तथा सर्वतोमुखी लेखक थे। उनके प्रमुख संग्रह अथवा "कुल्लियात" मे निम्नलिखित काव्य-रूप हैं .—

(१) उर्दू ग़ज़लों का दीवान (२) रेख़ती ग़ज़लें (३) उर्दू और फारसी मे क़सीदे (४) फारसी ग़ज़लो का दीवान (५) 'शीर-बिरंज' नामक फारसी मसनवी (६) एक फारसी मसनवी जिसकी रचना बिन्दु रहित अक्षरों से की गई है (७) फारसी भाषा मे रचित 'शिकारनामा', जिसमे नवाब सआदत अली खाँ के शिकार का वर्णन है (८) विभिन्न वस्तुओ तथा व्यक्तियो (मुसहफ़ी सहित) के ऊपर व्यंग्यात्मक तथा निन्दात्मक कविताएँ (९) मसनवी 'शिकायत-ए-ज़माना' (१०) उर्दू मे कतिपय मसनवियाँ इत्यादि।

इन्शा की उल्लेखनीय रचनाओ में ठेठ हिन्दी मे रचित एक गद्य कथा 'उदय-भान चरित या रानी केतकी की कहानी'; तथा फारसी मे उर्दू व्याकरण एवं छन्द शास्त्र पर रचित एक चिरस्थायी कृति 'दरिया-ए-लताफत' है जिसे उन्होंने अपने मित्र मिर्ज़ा क़तील के सहयोग से लिखा था।

(६) 'जुरअत' (मृत्यु–१८१०)

शेख़ कलन्दर बख्श 'जुरअत' दिल्ली के हाफ़िज़ अमान के पुत्र थे। उनका जन्म दिल्ली मे और लालन-पालन फ़ैज़ाबाद मे हुआ था। सर्वप्रथम उन्होंने बरेली के

---

३६. सक्सेना, पृ० ८४।
३७. बेली, पृ० ५४।
३८. सक्सेना, पृ० ८४।
३९. 'आब-ए-ह़यात', पृ० २८१ :

वल्लाह कि शायर नहीं तू भांड है भड़ूए।

नवाब मुहब्बत खाँ के यहाँ नौकरी की। तत्पश्चात् १८०० ई० मे लखनऊ चले गये तथा मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह की सरक्षता प्राप्त करली। सन् १८१०—मृत्यु पर्यन्त वे लखनऊ मे ही रहे।

जुरअत दिल्ली के जफरअली खाँ 'हसरत' के शिष्य थे। वे सगीतकला मे निपुण थे तथा सितार बडी दक्षता से बजाते थे।[४०] वे ज्योतिष मे भी अभिरुचि रखते थे। कहा जाता है कि वे युवावस्था मे ही दृष्टि-विहीन हो गए थे। घटना इस प्रकार बताई जाती है कि उन्होने एक अमीर के यहाँ जनानखाने मे निर्बाध प्रवेश पाने के लिए, निपट अन्धे होने का बहाना किया, जो उस समय की कडी पर्दा-प्रथा के कारण अन्य प्रकार से सम्भव नही था। कुछ समय तक तो उनकी धूर्तता चलती रही परन्तु एक दिन उनका छद्म-वेश प्रकट हो गया तथा क्रुद्ध गृह-स्वामी ने उन्हें वस्तुत अन्धा कर दिया।[४१]

जुरअत "उन महफिलो के सर्वश्रेष्ठ कवि थे जो मदिरा के निर्बाध वितरण से परिपूर्ण तथा नर्तकियो के सौन्दर्य एव हास्य से जगमगाती रहती थी।"[४२] उनकी कविता अत्यधिक कामुक तथा लम्पटतापूर्ण होती थी जो उस समय के आभिजात्य मनुष्यो की रुचि के अनुकूल थी। जो हो, जुरअत को उर्दू साहित्य के द्वितीय श्रेणी के कवियो मे स्थान प्राप्त है।[४३] उनके द्वारा रचित उर्दू मे ग़ज़लो का सग्रह तथा दो मसनवियाँ उपलब्ध हैं। एक, मसनवी मे बरसात पर व्यग्य किया गया है तथा द्वितीय मसनवी—'हुस्न ओ-इश्क' म एक प्रेम प्रसग का वर्णन है।

(७) 'रंगीन' (१७५५—१८३५)

सआदत यार खाँ रगीन १७५५ ई० मे सरहिन्द मे पैदा हुए थे।[४४] वे तहमास्प बेग खाँ तूरानी के पुत्र थे, जो नादिरशाह के साथ भारत आए थे तथा कुछ दिन लाहौर मे रहने के पश्चात् स्थायी रूप से दिल्ली में बस गए। वहाँ उन्हें हफ्त-हजारी की पदवी तथा मुहकीम उद्दौला एतकाद-ए-जगबहादुर की उपाधि प्रदान की गई।[४५]

रगीन चौदह-पन्द्रह वर्ष की आयु मे ही काव्य रचना करने लग गए थे। वे शाह हातिम के शिष्य थे परन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् मुहम्मद अमन निसार से काव्य-सशोधन कराने लगे। वस्तुत वे मीर के शिष्य बनना चाहते थे, परन्तु मीर ने उनकी प्रार्थना यह कह कर अस्वीकार करदी कि तुम्हारे लिए शारीरिक व्यायाम व घुडसवारी अधिक उपयुक्त हैं।[४६] पहले वे लखनऊ मे मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह के

---

४०. मिर्ज़ा अली लुत्फ 'गुलशन-ए-हिन्द', (लाहौर, १९०६), पृ० ८१।
४१. सक्सेना, पृ० ८८।
४२. वही, पृ० ८९।
४३. वही, पृ० ९०।
४४. 'दबिस्तान-ए-शायरी', पृ० २०४।
४५. वही।
४६. वही।

यहाँ नौकर हो गए, फिर कुछ दिनो तक निज़ाम के तोपखाने मे अग्रसर रहे। तत्पश्चात् वे स्वतन्त्र रूप मे घोडो का व्यापार करने लगे। वे एक कुशल अश्वारोही, शस्त्रकला मे पारगत, मिलनसार, हँसमुख तथा रगीन मिजाज के व्यक्ति थे। उन्होने अपना अधिकाश जीवन नर्तकियो तथा वेश्याओ की सगति मे व्यतीत किया।[४७] उनकी मृत्यु १८३५ मे हुई।[४८]

रगीन एक सिद्धहस्त लेखक थे। उनकी रचनाएँ निम्नलिखित है :—(१) नौरत्न-ए-रगीन जिसमे रेख्ती के एक दीवान सहित चार दीवान है, (२) मजमुआ-ए-रगीन, (३) मजालिस-ए-रगीन (फारसी मे) (४) इम्तहान-ए-रगीन (५) अखबार-ए-रगीन, जिसमे उस बात पर प्रकाश डालने वाली ६३ कथाएँ है, (६) ईजाद-ए-रगीन जिसमे कथाएँ एव चुटकुले हैं, (७) *अजायब ओ-गरायब-ए-रगीन*, (८) *शहर-आशाव*, (९) कहावत-ए-रगीन, (१०) हिदायत-ए-रगीन, (११) फर्स नामा, जिसम घोडो की पहचान तथा उनके रोगो की चिकित्सा आदि का वर्णन है।

इनके अतिरिक्त भी अन्यान्य रचनाएँ है।[४९]

रगीन रेख्ती कविता के जन्मदाता के रूप मे भी कुख्यात है।[५०] रेख्ती छन्द के विषय म कहा गया है कि वह "भ्रष्ट युग के भ्रष्ट मस्तिष्क द्वारा आविष्कृत गेय-छन्द का भ्रष्ट रूप है।'[५१] रचना के इस रूप मे पुरुष स्वय को स्त्री मान कर रचना करता था तथा प्रायः प्रत्येक स्थिति मे वह कामुक प्रेरणा से ही ऐसा करता था।[५२] इसका उद्देश्य हास्य की सृष्टि तथा वासनात्मक उद्दीपन था।[५३] कभी-कभी रेख्ती कवि स्वय जनाना वेश धारण करके मुशायरो मे अभद्र महिलाओ की भाँति हाव-भाव प्रदर्शित करते हुए कविता-पाठ किया करते थे, जिसके परिणामस्वरूप साथी कवि एव श्रोतागण खूब हँसते और आनन्दित होते थे।[५४] तत्कालीन मनुष्यो की ओछी रुचि का इससे अच्छा निरूपण नही हो सकता।

रगीन के अतिरिक्त जिन दो अन्य कवियो ने कविता के इस मार्ग का अनुसरण किया वे इन्शा तथा जान साहब थे।[५५] यद्यपि उनके पूर्वकालीन रेख्ती कवियो का भी पता चलता है, तथापि उनकी रचनाओ का रूप इतना विकृत नही था। परन्तु

---

४७ सक्सेना पृ० ६१।

४८ "दबिस्तान-ए शायरी", पृ० २०४।

४९. वही, पृ० २०५।

५०. इन्शा अल्ला खाँ, "दरिया-ए-लताफत", अनुवादक पडित बृजमोहन दहलवी, सम्पादक अब्दुल हक (औरगाबाद दक्षिण, १९३५) पृ० १७१।

५१. अब्दुस्सलाम नदवी, "शेरुलहिन्द", भाग–२ (आजमगढ़, १९२६) पृ० ८१।

५२. बेली, पृ० ५६।

५३. सक्सेना, पृ० ९४।

५४ वही, पृ० ९५।

५५. बेली, पृ० ५६।

इन तीनों कवियों द्वारा लम्पटता, क्षुद्रता तथा ऐन्द्रिय सुख का वर्णन, रचनाओं के मुख्य आधार के रूप में हुआ।[५६] रेख़्ती कविता यद्यपि अतीत की एक निन्तनीय उपज है तथापि वह "लखनऊ के तत्कालीन विकृत समाज को सफलतापूर्वक प्रतिबिम्बित करती है, जब अमीरों की महफ़िलों में वासुक्ता और भोग-विलास का बोलबाला था तथा कामिनियों का फ़ैशन एवं आदर का प्रतीक समझा जाता था। नर्तकियों तथा वेश्याओं की संगति कोई निन्दनीय बात नहीं थी। नगर के विलासप्रिय, रसिक, लोक-निन्दा से निडर युवक ऐसी विलासिनाओं में तल्लीन रहा करते थे। कविता उनकी विकृत रुचि एवं विलासिता का एक साधन मात्र थी। ऐसी निम्नस्तर की अभद्र रचनाएँ युवकों के चरित्र को दूषित और भ्रष्ट ही कर सकती थी।"[५७] इन्शा रेख़्ती कविता के इस दुष्प्रभाव के प्रति जागरूक अवश्य थे, जैसाकि उनके 'दरिया-ए-लताफ़त' से प्रकट होता है।[५८]

(८) 'जान साहब (१८१६–१८८२)

मीर यार अली खाँ, जिनका कवि नाम जान साहब था, मीर अम्मान के पुत्र थे। उनका जन्म १८१६ ई० में फर्रुखाबाद में हुआ था।[५९] छोटी अवस्था में ही वे लखनऊ चले गए तथा नवाब आशोर अली खाँ के शिष्य बन गए।[६०] जान साहब की रचनाओं में रेख़्ती कविता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। वे मुशायरों में स्त्रियों का वेश धारण कर, स्त्रियों की ही भाव-भंगिमाओं में कविता-पाठ किया करते थे, जिससे श्रोताओं में हास्य और उत्तेजना उत्पन्न होती थी।[६१]

आर्थिक संकट की अवस्था में जान साहब जीविकोपार्जन निमित्त भोपाल और दिल्ली भी गए परन्तु उनके प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए। उनके जीवन का अन्तिम समय रामपुर में व्यतीत हुआ, जहाँ उनकी मृत्यु १८८२ ई० में ६३ वर्ष की आयु में हुई। उन्होंने 'दीवान-ए-जान' नामक एक दीवान की रचना की है।

(९) 'नज़ीर' अकबराबादी (१७३५–१८३०)

शेख़ वली मुहम्मद नज़ीर का जन्म १७३५ ई० में दिल्ली में हुआ था। वे सय्यद मुहम्मद फ़ारूक़ के पुत्र थे, जिनके बारह बच्चों में एक मात्र वही जीवित रह थे। अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण के समय नज़ीर आगरा चले गए तथा ताजमहल के निकट ताजगंज में रहने लगे।

नज़ीर ने फ़ारसी का सम्यक् अध्ययन किया था, तथा वे अरबी भी जानते

५६ सक्सेना, पृ० ६४।

५७ वही, पृ० ६५।

५८ "दरिया-ए-लताफ़त", पृ० ६६–६७।

५९. तमकीन काज़मी, "तज़किरा रेख़्ती" (हैदराबाद दक्षिण, १९३०), पृ० २८।

६०. वही।

६१. सक्सेना, पृ० ६५।

थे। नज़ीर को प्रारम्भ से ही उर्दू कविता से प्रेम के अतिरिक्त शारीरिक व्यायाम, मगीन, सैर-सपाटे, मेले तथा उत्सवों का भी बहुत शौक था। युवावस्था में वे विलासिता में फँस गए। वे वेश्यागामी बन गए तथा कुछ समय के लिए तो वस्तुत मोती नाम की एक वेश्या के वशीभूत रहे।[६२] परन्तु आयु के साथ-साथ उनमें परिवर्तन आता गया और वे अधिक समय तक कामुक न रहे। जीवन के उत्तरकाल में वे बहुत कुछ सूफियाना ढंग में परिवर्तित हो गए थे। जीवन के अन्तिम समय में पक्षाघात के कारण, उनकी ९५ वर्ष की आयु में-१८३० ई० में मृत्यु हो गई और वे ताजगंज में ही दफनाए गए।

नज़ीर सभी प्रलोभनों से मुक्त स्वतन्त्र विचारों के कवि थे। उस समय के अनेक कवि संरक्षण की खोज में रहते थे, तद्विपरीत नज़ीर ने दो बार ऐसे निमन्त्रणों को ठुकरा दिया—प्रथम तो लखनऊ के नवाब सआदत अली खाँ का तथा द्वितीय भरतपुर के राजा का।[६३] आत्मतुष्ट कवि की जीविका का एकमात्र साधन शिक्षण-कार्य था, जिसके लिए उन्हें अपने दुर्बल टट्टू पर सवार होकर ताजगंज से आगरा शहर के मध्य स्थित माईथान तक रोज लम्बी दूरी तय करनी पड़ती थी।[६४]

नज़ीर अकबराबादी बहुमुखी प्रतिभा के सिद्धहस्त लेखक थे। शायद ही कोई ऐसा विषय हो जो कविता में उनकी दृष्टि से ओझल रह गया हो। समकालीन कवियों में वे सौदा और मीर से छोटे तथा इन्शा, जुरअत और नासिख से बड़े थे। नज़ीर का व्यक्तित्व विशिष्ट कोटि का था। कोई भी तत्कालीन कवि विषय-बाहुल्य तथा शब्द-चयन में उनकी प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता। सत्य तो यह है कि जो विशेषताएँ पृथक्-पृथक् रूप से विभिन्न कवियों में पाई जाती हैं, वे सभी सम्मिलित रूप से उनमें विद्यमान थीं।[६५] शब्द-चयन में उनकी तुलना टेनीसन से की जाती है।[६६] उस काल के सभी उर्दू कवियों में केवल वे ही शेक्सपीयर के सर्वाधिक निकट प्रतीत होते हैं।[६७] वास्तव में नज़ीर 'बनज़ीर' (अनुपमेय) है, या उनकी तुलना केवल उनसे ही की जा सकती है।[६८]

नज़ीर ऐसे कवि थे, जो अपने वातावरण की सभी वस्तुओं से प्रेम और आनन्द-अनुभव करते थे, उन्होंने उन सबका सजीव विवरण प्रस्तुत किया है। वे बालक वृद्ध, धनी-निर्धन-सभी को समान रूप से आकर्षित करते हैं। 'वे यथार्थत भारतीय विषय-वस्तुओं और भारतीय आकांक्षाओं के ऐसे भारतीय कवि हैं, जो

---

६२ मुहम्मद अब्दुल गफूर शहबाज, 'जिन्दगानी-ए-बेनज़ीर', (लखनऊ १९००), पृ० ८४।

६३ सक्सेना, पृ० १४०।

६४ अब्दुल लैस सिद्दीकी, 'नज़ीर अकबराबादी और उनका अह्द', (कराची, १९५७) पृ० ३३।

६५ नियाज़ फतेहपुरी, "नज़ीर मेरी नज़र में", 'निगार' जनवरी, १९४० (नज़ीर नम्बर) पृ० ४।

६६ सक्सेना, पृ० १४४।

६७. वही, पृ० १४५।

६८. बेली, पृ० ५६।

मतभेदो एव सम्प्रदायो से परे हैं। अपने दृष्टिकोण और विषय-वस्तु की व्यापकता, रचनाओ की प्रबोधक प्रवृत्ति, प्रत्येक वर्ग के लोगो के आकर्षण, भारतीय विषय-वस्तु और भाषा, तथा एक नवीन मार्ग की अन्त प्रेरणा के लिए, नज़ीर उर्दू साहित्य के सर्वोपरि कवियो एव लेखको की पक्ति मे स्थान ग्रहण करने के सुयोग्य हैं।"[६६]

नज़ीर नगर के हिन्दू तथा मुसलमानो के बीच साम्प्रदायिक एकता और सद्भावना के प्रतीक थे। उन्होने होली, दीवाली तथा रक्षाबन्धन जैसे हिन्दू त्यौहारो का सजीव वर्णन उतनी ही श्रद्धा से किया है जितना कि इदुलफित्र तथा शब-ए बरात का। वे हिन्दू त्यौहारो और पर्वों मे उतने ही आनन्दोत्साह की अनुभूति करते थे जितनी कि मुस्लिम त्यौहारो मे। वस्तुत हिन्दू तथा मुसलमान दोनो के प्रति, उनकी सवेदना मे कोई अन्तर न था। नज़ीर हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए दृढ रहे तथा सीधे-सादे शब्दो मे सामाजिक-आदर्शों का उपदेश देते रहे। उन्होने किसी प्रकार का जाति भेद अथवा साम्प्रदायिक भेद नही माना। उनको आगरा की जनता का प्रतीक कहा जा सकता है। जब वह आगरा के बाजारो से गुजरते थे, तो लोग उनको कविता सुनाने के लिए रोक लिया करते थे। नज़ीर जन-समुदाय की भावनाओ का आदर करते हुए तुरन्त ही अपने टट्टू से उतर पडते तथा उपस्थित श्रोताओ—युवक-वृद्ध, धनी-निर्धन, हिन्दू मुसलमान द्वारा सुझाए गए विषय पर तत्काल ही आशु रचना कर लयबद्ध स्वर से सुनाने लग जाते थे।

नज़ीर ने जो कुछ लिखा, वह सब आज उपलब्ध नही है, क्योकि उन्होंने कभी भी उसे सुरक्षित रखने की चिन्ता नहीं की। विश्वास किया जाता है कि उन्होंने दो लाख छन्दो की रचना की थी परन्तु उनमे से अब केवल छ सहस्र ही उपलब्ध हैं।[७०]

(१०) 'नासिख' (मृ०–१८३८)

शेख इमाम बख्श नासिख लखनऊ के अत्यधिक प्रसिद्ध कवियो मे से थे। उनका जन्म फैज़ाबाद मे हुआ था। युगानुरूप नासिख को शारीरिक व्यायाम मे बडी रुचि थी तथा उनकी गठन भी अच्छी थी। उस युग मे नवाब तथा रईस बाके व्यक्तियो को अपनी सेवा मे रखने के शौकीन होते थे।[७१] नासिख ऐसे ही व्यक्ति होने के नाते, फैज़ाबाद के नवाब मुहम्मद तक़ी खा की सेवा मे आगए। उनकी सेवा मे रहते हुए वे लखनऊ के रईस मीर काज़िम अली के सम्पर्क मे आए, जो उनके सर्वाधिक प्रशसक तथा सरक्षक ही नहीं बन गए वरन् उन्होंने उन्हें दत्तक पुत्र भी मान लिया।[७२] कहा जाता है कि नासिख अपने सरक्षक के कारण समृद्ध हुए। लखनऊ मे वे आनन्द

---

६६. सक्सेना, पृ० १४१।
७०. वही।
७१. 'इख्तिखान-ए-शायरी' पृ० २१३।
७२. 'गुल-ए रअना' पृ० १४१।

पूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे और यहीं पर, जीवन में कुछ विलम्ब से, उनमें कविता के प्रति रुचि जाग्रत हुई।[७३] लखनऊ में ही उन्हें एक प्रसिद्ध रईस मिर्जा हाजी की सरक्षता भी प्राप्त हुई।

अपने जीवन काल में नासिख़ को दो बार लखनऊ छोड़ना पड़ा। कहा जाता है कि एक बार नवाब गाजीउद्दीन हैदर ने नासिख़ की कविता की प्रशसा सुनकर उन्हें अपने दरबार में उपस्थित होकर क़सीदा सुनाने और मलिकुश्शुअरा (कवि सम्राट) की उपाधि ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। परन्तु प्रणयोन्मत्त कवि ने नवाब का प्रस्ताव इस टिप्पणी के साथ अस्वीकार कर दिया कि "एक नवाब मात्र के द्वारा प्रदान की गई उपाधि, जिसके पास न तो दिल्ली के सम्राट की मान-प्रतिष्ठा है और न ही 'कम्पनी बहादुर' की शक्ति है व्यर्थ से भी बदतर है।"[७४] इस प्रकार, वे नवाब के कोप-भाजन बन गए तथा उन्हें लखनऊ छोड़ना पड़ा। कुछ लोग उनके निर्वासन का कारण दलगत राजनीति में भाग लेना बताते हैं।[७५]

नवाब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर की मृत्यु के पश्चात् वे लखनऊ आगए, परन्तु उन्हें अवध-सरकार के मुख्तार, हकीम मेंहदी के विद्वेष के कारण पुन. उसे छोड़ना पड़ा। परन्तु शीघ्र ही इस विरोधी की मृत्यु से उनका स्थायी रूप से लखनऊ लौटना सुलभ हो गया। कवि का देहान्त १८३८ ई० में हुआ।

नासिख़ की कविताओं के तीन दीवान है। प्रथम "दफ्तर-ए-परेशान" है, जो इलाहाबाद में १८१६ में पूर्ण हुआ। द्वितीय और तृतीय क्रमशः १८३१ तथा १८३८ में पूर्ण हुए। उन्होंने "नजम-ए-सिराज" शीर्षक से एक मसनवी तथा हज़रत मुहम्मद के जन्म के विषय में एक कविता की रचना भी की थी।

(११) 'आतिश' (१७७८–१८४६)

ख्वाजा हैदर अली 'आतिश' ख्वाजा अली बख्श के पुत्र थे। उनका जन्म १७७८ में फैज़ाबाद में हुआ था।[७६] आतिश के लड़कपन में ही पिता की मृत्यु के कारण उनकी शिक्षा की उपेक्षा हुई। उन्होंने नवाब मिर्जा मुहम्मद तकी खाँ की नौकरी कर ली। १८०५ ई० के लगभग, जब नवाब स्थायी रूप से लखनऊ आ गए तो वे अपने साथ, आतिश को भी ले आए।[७७] लखनऊ आने पर उन्होंने 'इन्शा' और 'मुसहफ़ी' के जोरदार मारके देखे जिनमें उन्हें बड़ा आनन्द आता था। यहीं से उनमें कविता के प्रति रुचि जाग्रत हुई और वे शीघ्र ही 'मुसहफ़ी' के शिष्य बन गए।

आतिश सभी प्रकार के दरबारी प्रभाव से मुक्त थे क्योंकि उन्होंने कभी किसी के सरक्षण या कृपा की आकांक्षा नहीं की; उन्होंने फ़क़ीरों के समान मस्त जीवन

---

७३. 'दबिस्तान-ए-शायरी,', पृ० २१८
७४. सक्सेना, पृ० १०३.
७५. 'दबिस्तान-ए-शायरी', पृ० २१६-२०।
७६. वही, पृ० ३३८।
७७. वही, पृ० ३३६।

व्यतीत करना अधिक पसन्द किया। वस्तुत वे रईसो एव नवाबो के प्रति उदासीन थे, जबकि निर्धनो के प्रति कृपालु थे। वे सिपाहियाना वेश-भूषा मे रहना पसन्द करते थे तथा मुशायरो म भी तलवार बाँध कर जाते थे। स्वतन्त्र प्रकृति के कारण उनका अपने उस्ताद 'मुसहफी' के साथ मतभेद हो गया। फलस्वरूप उन्हे अपनी रचनाओ के संशोधन-परिमार्जन के लिए अपने ही साधनो पर निर्भर होना पडा। विश्वास किया जाता है कि उनमे तथा नासिख म भी मतभेद था। उनकी कविताओ म इस प्रकार के सामयिक प्रहारो के सकेत प्राप्त होते है, परन्तु ये प्रहार इन्शा और मुसहफी अथवा जुरअत और नवा की भाँति न होकर शालीन रूप मे होते थे। इतना होते हुए भी आतिश अपने प्रतिद्वन्द्वी का बडा सम्मान करते थ। इसी भावना के फलस्वरूप उन्होने नासिख की मृत्यु के पश्चात् कविता करना छोड दिया, क्योकि अब उनके लिए इसमे कोई आकर्षण शेष नही रहा। आतिश की मृत्यु ७१ वर्ष की परिपक्वावस्था म, १८४६ म हुई।

उर्दू गजल लेखन म मीर तथा गालिब के पश्चात् आतिश का ही स्थान आता है। उनकी गजलो के दो दीवान है, जिनमे से प्रथम को तो उन्होंने स्वय ही तथा द्वितीय को उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके प्रिय शिष्य खलील न सगृहीत किया।

(१२) 'सरूर' (१७८७–१८६७)

मिर्जा रजबअली बेग 'सरूर', मिर्जा असगर अली बेग के पुत्र थे, तथा १७८७ ई० मे लखनऊ मे पैदा हुए थे।[७८] वे एक प्रतिष्ठित परिवार के रत्न थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा लखनऊ के साहित्यिक वातावरण मे हुई थी। उन्होने फारसी और अरबी का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। वे एक उच्चकोटि के सुलेखक (कातिब) थ। प्रसिद्ध कवि होने के साथ वे एक ख्याति-प्राप्त सगीतज्ञ भी थे।[७९] कविता मे वे आगा नवाजिश हुसैन के शिष्य थे।

सरूर का व्यक्तित्व आकर्षक था। वे हँसमुख प्रकृति के एव अच्छे साथी थे। कहा जाता है कि नवाब गाजीउद्दीन हैदर की निर्वासन-आज्ञा के फलस्वरूप उन्हे कानपुर आकर रहना पडा, जहाँ उन्होने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'फसाना-ए-अजायब' की रचना की।[८०] १८४६ ई० मे वे पचास रुपये मासिक वेतन पर नवाब वाजिद अली शाह के दरबारी कवि हो गए। इसके अगले वर्ष उन्होने वाजिद अली के आदेश से 'शमशेर खानी' का अनुवाद 'सरूर-ए-सुलतानी' के नाम से किया। 'शरर-ए-इश्क' उन अनेक छोटी कहानियो मे से एक है जिनकी रचना उन्होने १८४७ तथा १८५१ के मध्य की। १८५६ मे उन्होंने 'शगूफा-ए-मुहब्बत' की रचना की।[८१]

---

७८ हामिद हसन कादरी, "दास्तान-ए-तारीख-ए उर्दू" (आगरा, १९५७) पृ० १५८।

७९. सक्सेना, पृ० २५८।

८० वही।

८१. वही।

अवध के अधिनहन तथा अपने सरक्षक के कलकत्ता-निर्वासन के पश्चात् व निराश्रित हो गए, तथा उनके जीवन मे साधनहीनता एव अभावो के वही पुराने दिन फिर आगए। १८५७ के विद्रोह से उनके सकटो मे और अधिक वृद्धि हुई। जो हो, १८५६ में बनारस के शासक ने उन्हे अपने दरबार मे आमन्त्रित किया। वहाँ पर उन्होने अपनी रचनाओं—'गुलजार-ए-सरूर', 'शबिस्तान-ए-सरूर' एव इक्के-दुक्के गद्य-पद्य खण्डो के सकलन किए। उनको पटियाला के महाराजा ने भी आमन्त्रित किया था। सरूर ने अपने एक पत्र मे, जो 'इन्शा-ए-सरूर' नामक पुस्तक मे प्रकाशित हुआ है, अपनी दिल्ली, लखनऊ, मेरठ आदि स्थानो की यात्राओ मे हुए कष्टो व असुविधाओ का वर्णन किया है। १८६२ म वे नेत्र चिकित्सा के लिए कलकत्ता गए तथा वहाँ निर्वासित शासक वाजिद अली शाह से भी मटियाबुर्ज म मिले। वे कलकत्ते से वापस आए तथा बनारस म १८६७ म उनकी मृत्यु हुई।

सरूर लखनऊ के प्रबल प्रेमी थे। 'फसाना ए-अजायब' म, जिसे उन्होंने अस्थायी निर्वासन के समय कानपुर म लिखा था, मातृ भूमि के प्रति प्रेम और लालसा भरा एक अत्यन्त ही भावपूर्ण गीत है। 'फसाना ए-अजायब' उनकी सर्वाधिक विख्यात कृति है इसन उर्दू साहित्य म उनका नाम अमर कर दिया है। इसकी प्रस्तावना अत्यन्त रोचक है जो तत्कालीन लखनऊ के जीवन और समाज, रईसा एव साधारणजन के स्वभाव तथा प्रवृत्तियाँ, उनकी रीतिया और प्रथाओ को प्रतिबिम्बित करती है। यह उस समय के साहित्यिक एव अन्य क्रिया-कलापो, मेलो आदि का भी वर्णन प्रस्तुत करती है।[८२] प्राचीन वर्ग क गद्य लेखको म सरूर का उच्च स्थान है। उनका तत्कालीन लखनऊ के जीवन तथा समाज का चित्रण अत्यन्त रोचक है।

(१३) 'ज़ौक' (१७८६-१८५४)

शेख इब्राहीम 'ज़ौक' दिल्ली के एक निर्धन सिपाही शेख मुहम्मद रमज़ान के एकमात्र पुत्र थे। उनका जन्म १७८६ मे हुआ था। बचपन मे उन्होने हाफिज गुलाम रसूल से शिक्षा प्राप्त की थी। 'ज़ौक' की शीघ्र ही कविता म रुचि उत्पन्न हो गई तथा वे अपने छन्द सशोधनार्थ अपने उस्ताद के सम्मुख प्रस्तुत करने लगे। पश्चात् वे शाह 'नसीर' से परामर्श लने लगे परन्तु उनसे विवाद हो जाने के कारण वे स्वतन्त्र रूप से कविता करने लगे। उनके अनेक विख्यात शिष्य थे जिनमे सर्वाधिक महत्त्व के एव उनकी प्रतिष्ठा-वृद्धि करने वाले बहादुरशाह 'ज़फर' थे।[८३]

ज़ौक के भूतपूर्व उस्ताद शाह 'नसीर' ने दक्षिण से लौटकर जब उन्हे उनके सम्मानित स्थान से अपदस्थ करने का प्रयत्न किया, तो उन्होने अपनी काव्य-प्रतिभा और विद्वत्ता से सिद्ध कर दिया कि ऐसा करना सरल कार्य नही था। ज़ौक ने अकबर शाह द्वितीय से 'खाक़ानी ए हिन्द' की उपाधि अर्जित की।[८४] उन्होने बहादुरशाह

---

८२ रजब अली बेग सरूर, 'फसाना-ए-अजायब (लखनऊ, १९४१), पृ० ४-११।

८३ वेनी, पृ० ७१।

८४. 'दीवान-ए ज़ौक", सम्पादक मुहम्मद हुसैन आजाद (लाहौर, १९२२), प्रस्तावना, पृ० १५।

'ज़फर' से जागीर तथा अन्य भेंटों के अतिरिक्त 'खान बहादुर' की उपाधि प्राप्त की।[८५] जौक की मृत्यु १८५४ ई० में हुई।

जौक अपनी कुशाग्र बुद्धि एवं तीव्र स्मृति के लिए विख्यात थे। कविता के अतिरिक्त उन्हें संगीत, ज्योतिष, औषधिज्ञान तथा धर्म में भी रुचि थी। दिल्ली से उन्हें इतना अधिक प्रेम था कि उन्होंने हैदराबाद दक्षिण के दीवान चन्दूलाल 'शादाँ' का निमन्त्रण अस्वीकार कर दिया तथा निम्नलिखित शेर लिखकर भेज दिया

इन दिनों गरचे दक्खिन में है बड़ी कदरे सुखन,
कौन जाये जौक पर दिल्ली की गलियाँ छोड़कर।[८६]

जौक एक सिद्ध-हस्त लेखक थे, परन्तु उनकी अधिकांश रचनाएँ १८५७ के अशान्ति काल में नष्ट हो गईं। मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' तथा जौक के अन्य प्रिय शिष्यों ने अथक परिश्रम से जौक रचित १२ हजार पंक्तियों का संग्रह किया है, जो उनकी काव्य प्रतिभा का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

(१४) 'ग़ालिब' (१७९७–१८६९)

मिर्ज़ा असदुल्ला बेग खाँ (उर्फ मिर्ज़ा नौशा) जो पहले 'असद' और फिर 'ग़ालिब' तखल्लुस रखते थे, १७९७ में आगरा में पैदा हुए।[८७] पालन पोषण उनकी ननिहाल में आगरा में हुआ। आरम्भ में उन्होंने मौलवी मुहम्मद मुअज्ज़म से शिक्षा प्राप्त की। परन्तु ग़ालिब के फारसी के गम्भीर ज्ञान का श्रेय मौलाना अब्दुस्समद हुरमुज़द को है, जो दो वर्ष तक उनके विशेष शिक्षक रहे थे। ग़ालिब ने उर्दू कविता की रचना ८ या ९ वर्ष की अवस्था से ही प्रारम्भ कर दी थी, फारसी कविता की रचना के समय वे कठिनता से १० या ११ वर्ष के रहे होंगे।[८८]

ग़ालिब अपनी प्रारम्भिक अवस्था में शतरंज खेलने और पतंग उड़ाने के शौकीन थे।[८९] ये शौक उनकी साहित्यिक गतिविधियों में बाधक नहीं बने। १३ वर्ष की आयु में उनका विवाह दिल्ली के एक प्रतिष्ठित और ख्यातिप्राप्त घराने में हुआ। इस सम्बन्ध से उन्हें समाज की उच्चश्रेणी तथा साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश का अवसर मिला। रंगीन प्रवृत्ति के कारण वे यदा-कदा सुरा सुन्दरी में भी तल्लीन रहते।[९०] ग़ालिब सम्पन्न और अपव्ययी जीवन व्यतीत करने के अभ्यस्त थे, जिसके परिणामस्वरूप वे कभी कभी अपने साधनों के सीमातीत हो जाते थे।[९१] जीवन भर उन्हें

---

८५ सक्सेना, पृ० १५४।

८६. "आबे-हयात" पृ० ४८८।

८७. पी० एल० लखनपाल, "ग़ालिब द मैन एण्ड हिज़ वर्स", (दिल्ली, १९६०), पृ० १३।

८८. वही पृ० २२।

८९. असदुल्ला खाँ ग़ालिब, "उर्दू-ए-मुअल्ला" (इलाहाबाद, १९२७) पृ० २६७।

९०. लखनपाल, पृ० २४।

९१ कर्ज़ की पीते थे मै लेकिन समझते थे कि हाँ,
रंग लायेगी हमारी फाकामस्ती एक दिन।
("आबे-हयात", पृ० ५१८)।

अभिजातवर्गीय प्रतिष्ठा प्राप्त करने की आकांक्षा रही परन्तु वे सदैव निर्धन तथा निराश ही रहे। यौवन मे पडे अपव्ययी स्वभाव के कारण उनकी कठिनाइयाँ और भी बढीं। उनको महाजनो से ऋण लेने की आदत पड गई। जुआर अथवा पराजय उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। शनै शनै आर्थिक स्थिति बिल्कुल बिगड गई। गालिब का ऐसा विश्वास था कि चाचा की जागीर के बदले, पेंशन का जो भाग उनके लिए सन् १८०६ मे निर्धारित किया गया था उसमे उनके साथ अन्याय हुआ था। अत अपना भाग अधिक सिद्ध करने के लिए उन्होने कलकत्ते की लम्बी यात्रा की तथा गवर्नर जनरल से मिले। दुर्भाग्यवश, कलकत्ता मे लम्बी अवधि तक ठहरने तथा प्रिवी कौंसिल मे अपील करने के बावजूद भी उनके प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हुए।[६२]

कलकत्ता से लौटने पर गालिब कष्टपूर्ण दुविधा मे पड गए। सन् १८३५ मे उनके दो कर्जदाता साहूकारो ने, उनके विरुद्ध डिग्री प्राप्त कर ली। गिरफ्तारी के अपमान से बचने के लिए उन्हें महीनो घर के अन्दर बन्द रहना पडा।[६३] सन् १८४७ म वे जुआ खेलने के अपराध मे पकडे गए तथा तीन महीनो का कारावास भोगना पडा।[६४] तत्पश्चात् १८५० म बहादुरशाह 'जफर' ने उन्हे 'नज्मुद्दौला' 'दबीरुलमुल्क' तथा 'निजाम जंग' की राजकीय उपाधियाँ प्रदान की और छ सौ रुपये वार्षिक वेतन पर तैमूरी वंश का इतिहास लिखने को कहा। १८५४ मे 'जौक' की मृत्यु के पश्चात् बादशाह न उन्हे अपना काव्य गुरु भी नियुक्त किया।[६५] परन्तु यह आराम कुछ ही समय तक रहा। १८५७ के विप्लव के पश्चात् उनकी दरबारी आय तो बन्द ही हो गई, अंग्रेजी सरकार की पेंशन से भी वे वंचित हो गए। इसके अतिरिक्त उन्हे विभिन्न कष्टप्रद तकलीफों का सामना करना पडा। अनेक परिवर्तनों के पश्चात् उन्होंने कुछ अच्छे दिन देखे तथा पुन प्रतिष्ठा और सम्मान उन्हे पुन प्राप्त हो गए। १८६० म रामपुर के नवाब यूसुफ अली खाँ के निमन्त्रण पर वे वहाँ गए तथा नवाब के उस्ताद नियुक्त हुए। नवाब ने उनके लिए १०० रुपये महीना नियत कर दिया जो अन्त समय तक उन्हे बराबर मिलता रहा। सन् १८६९ मे ७२ वर्ष की आयु मे मिर्जा गालिब का देहावसान हो गया।

उल्लेखनीय है कि गालिब के पत्रो के द्वारा उर्दू गद्य शैली को एक नवीन दिशा निर्देश मिला है, किन्तु कवित्व मे उनकी प्रसिद्धि के कारण यह तथ्य उजागर नही हो सका है। उर्दू गद्य के विकास म गालिब की देन महान् है। इस प्रकार, व एक महान कवि ही नही थे अपितु अग्रगण्य गद्य लेखक भी थे। उनकी रचनाएँ अग्रांकित है

---

६२ मालिक राम, जिक्र ए गालिब' (दिल्ली १९३८), पृ० ३०-३२।

६३ मुफीउद्दीन कादरी जोर, सरगुजश्त ए गालिब (हैदराबाद, १९३९) पृ० २२, 'जिक्र ए गालिब', पृ० ३७।

६४ अल्ताफ हुसैन हाली, "यादगार ए गालिब (अलीगढ) पृ० २७-२८।

६५. "जिक्र ए गालिब पृ० ४३।

(१) 'उर्दू हिन्दी', (२) 'उर्दू-ए-मुअल्ला', (३) फारसी पद्य तथा गद्य का कुल्लियात, (४) 'दीवान-ए-उर्दू', (५) 'सनायफ ए-ग़ैबी', (६) 'तेग-ए-तेज़', (७) 'बाग़ बुरहान', (८) 'पंज आहंग', (९) 'नामाए-ग़ालिब', (१०) 'मेहर-ए-नीमरोज़', (११) 'दस्तंबो', (१२) 'कब्द चीन'।

(१५) 'मोमिन' (१८००-१८५३)

दिल्ली के मोमिन खाँ 'मोमिन' हकीमों के प्रसिद्ध घराने से सम्बन्धित थे। वे हकीम गुलाम नबी खाँ के पुत्र थे। मोमिन के पितामह हकीम नामदार खाँ, शाह आलम के शाही हकीम थे तथा उन्हें नारनौल परगने में कुछ जागीर मिली हुई थी। अंग्रेजों के सत्ता-ग्रहण करने पर उनको पेन्शन मिलने लगी, जिसका एक भाग मोमिन खाँ को भी मिलता था।[६६]

प्रारम्भ में साधारण शिक्षा के पश्चात् मोमिन ने शाह अब्दुलक़ादिर से अरबी की शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् अपने पिता व चाचाओं से यूनानी चिकित्सा शास्त्र की शिक्षा ग्रहण की तथा उन्हीं के औषधालय में चिकित्सा कार्य करने लगे। परन्तु यह कार्य केवल उनके मन-बहलाव का साधन था। उनकी बुद्धि प्रखर तथा स्मृति तीव्र थी। उन्होंने ज्योतिष में भी ख्याति अर्जित की। ज्योतिष के अतिरिक्त शतरंज का भी उन्हें बड़ा शौक था, नगर में दो एक ही खिलाड़ी ऐसे थे जो उनसे अच्छी शतरंज खेल सकते थे। परन्तु कविता से अधिक रुचि उनको किसी भी अन्य विषय से नहीं थी, जिसमें उन्होंने प्रारम्भ से ही प्रतिभा प्रदर्शित की थी।

मिर्ज़ा ग़ालिब की भाँति मोमिन भी प्राचीन व्यवस्था के अभिजात्य वर्ग से सम्बन्धित थे तथा समय परिवर्तन के साथ सङ्गति बैठाने में कठिनाई अनुभव कर रहे थे। उन्होंने दिल्ली कॉलेज में फारसी के प्रोफेसर-पद का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था।[६७] इसी प्रकार, महाराजा कपूरथला का २५० रुपये प्रति मास का प्रस्ताव इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि महाराजा के दरबार का एक साधारण गवैया भी वही वेतन प्राप्त कर रहा था।[६८] एक अन्य अवसर पर, टोंक के नवाब वज़ीरुद्दौला ने उनके समक्ष टोंक में निवास करने का प्रस्ताव रखा परन्तु अपने दिल्ली-प्रेम के कारण उन्होंने उसे भी अस्वीकार कर दिया।

अन्य कवियों की भाँति मोमिन ने कविता को अपनी जीविका का साधन नहीं बनाया। यह उनका प्रिय व्यसन था जो अधिक विराग द्वारा उनके संवेदना में गहरा प्रवेश कर, उनके अस्तित्व का अनिवार्य अंग बन गया।[६९] मोमिन इतने गर्वीले और स्वतन्त्र प्रकृति के कवि थे कि उन्होंने कभी धनवानों तथा रईसों की कृपादृष्टि प्राप्त करने के लिए उनकी प्रशंसा नहीं की।

---

६६ 'आब-ए-हयात' पृ० ४७१।

६७. सक्सेना, पृ० १४६।

६८. 'आब-ए-हयात' पृ० ४२५।

६९ 'दीवान-ए-मोमिन', सम्पादक ज़िया अहमद ज़िया (इलाहाबाद, १९३४) पृ० २१।

मोमिन खाँ प्रधानत शृंगारिक कवि थे। वे प्रेम की केवल चर्चा ही नही करते थे, अपितु हृदय की गहराइयों से उसकी अनुभूति भी करते थे। उनके शिष्य 'शेफ्ता' ने अपनी पुस्तक 'तज़किरा गुलशन ए-बेखार' मे मोमिन के एक प्रेम-प्रसग का वर्णन किया है। इसके अनुसार, उमतुलफातिमा बेगम नामक एक सुन्दर नर्तकी उनके पास रुग्णा के रूप मे आई। उसके उपचार करने के पूर्व मोमिन उसके प्रेम मे स्वय ही रुग्ण हो गए। ऐसी स्थिति मे फातिमा बेगम को लखनऊ चले जाने को विवश किया गया। अत्यधिक प्रेम के कारण मोमिन भी उसका अनुगमन करना चाहते थे, परन्तु सामाजिक स्थिति एव प्रतिष्ठा के विचार से ऐसा सम्भव नही हो सका। बाद मे फातिमा बेगम ने आत्महत्या कर ली और कवि के जीवन के अतिम वर्ष करुण एकाकीपन तथा विवशता मे व्यतीत हुए। सन् १८५२ मे घर की छत से गिर जाने के कारण उनकी मृत्यु हो गई।

मोमिन ने एक दीवान की रचना की जिसको उनके शिष्य शेफ्ता ने सकलित किया तथा करीमुद्दीन ने १८४६ मे प्रकाशित किया। उन्होंने छ मसनवियाँ, कुछ पहेलियाँ तथा अन्य रूपो मे भी रचना की।

(१६) 'जफर' (१७७५-१८६२)

मिर्जा अब्दुल मुजफ्फर सिराजुद्दीन मुहम्मद बहादुर शाह, जिनका तखल्लुस 'जफर' था, अतिम मुगल बादशाह थे। उनका जन्म १७७५ ई० मे हुआ था। वे १८३७ मे सिहासनासीन हुए। वे एक बादशाह की अपेक्षा कवि अधिक थे तथा इसी रूप में सप्रेम स्मरण किये जाते हैं। पहले वे जौक के शिष्य एव मित्र थे, तदुपरान्त गालिब के हुए।

जफर केवल उर्दू के प्रतिभाशाली कवि ही नही थे, वरन् फारसी के विद्वान और अद्भुत सुलेखक भी थे। वे भारतीय सगीत मे दक्ष थे। वे उत्तम चरित्र एव परिष्कृत रुचियो के व्यक्ति थे। चूँकि वे सूफी मनोवृत्ति के व्यक्ति थे अत उन्हें साधारण जीवन व्यतीत करना अधिक रुचिकर था। बाद के वर्षों मे उनकी गति-विधियाँ पढ़ने-लिखने, कुरान के अध्ययन, कविताओ की रचना तथा सूफी सन्तो की समाधियों के दर्शन तक सीमित रह गईं। बहादुर शाह "धार्मिक पुरुष थे परन्तु धर्मान्ध नहीं थे, विद्वान थे परन्तु विद्यादम्भी नहीं थे।"[१०१] उनकी रुचियाँ साहित्यिक तथा दृष्टिकोण सौन्दर्यात्मक था। उन्हे कविता, दर्शनशास्त्र, उद्यानों एव प्राकृतिक दृश्यों से प्रेम था। उन्होंने 'सुलोना' अथवा 'पखा' उत्सव को सरक्षण प्रदान किया जो प्रतिवर्ष वर्षा-ऋतु के अन्त मे मनाया जाता था, इसमें अपने पूर्ण वैभव और उल्लास के साथ एक जुलूस कुतुब साहब की दरगाह तक ले जाया जाता था।

सन् १८५८ मे बहादुर शाह जफर को सिहासन से उतार कर रगून निर्वासित कर दिया गया जहाँ वे एक दरवेश की भाँति रहे तथा १८६२ मे मृत्यु को प्राप्त हुए।

---

१००. जिया अहमद, पृ० ३९।

१०१ पर्सीवल स्पीयर, 'ट्वाइलाइट ऑव द मुगल्स' (कैम्ब्रिज, १९५१), पृष्ठ ७४।

एक कवि के रूप मे जफर की प्रसिद्धि 'मुख्यत उनके गजलो के दीवान पर आधारित है जो अत्यधिक लोकप्रिय एव सर्व प्रशंसित है । कुछ लोग जफर की अधिकाश गजलो का श्रेय उनके कवि-शिक्षकों जौक तथा गालिब को देते हैं । इस विचार मे कुछ सचाई हो सकती है, परन्तु तथ्य यह है कि जफर स्वय एक अच्छे कवि थे तथा उनकी अधिकाश गजलें उन्ही के द्वारा रचित हैं ।[१०२] उदाहरणार्थ, अपनी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचनाओ मे से एक मे वह क्रूर नियति पर विलाप करते हैं, जिसने उन्हें मातृभूमि म दफन के लिए दो गज भूमि से भी वचित रखा

> कितना है बदनसीब 'ज़फर' दफ्न के लिए
> दो गज़ ज़मीं भी न मिली कूए-यार में ।[१०३]

(१७) 'अख्तर' (१८२७-१८८७)

लखनऊ के उन समस्त नवाबों मे, जो स्वय कवि थे, वाजिद अली शाह सर्वाधिक प्रबुद्ध थे । वे कविता के प्रेमी थे तथा 'अख्तर' नाम से रचनाएँ करते थे । उन्होंने २० वर्ष की आयु मे सन् १८४७ मे सिंहासनारूढ़ होकर केवल १८५६ तक शासन किया, इस वर्ष अग्रेजो ने उन्हें गद्दी से उतार कर कलकत्ता निर्वासित कर दिया ।

वाजिद अली शाह, अमजद अलीशाह (१८४२-४७), जो कला और साहित्य के सरक्षक थे, के ज्येष्ठ पुत्र थे । उनके पिता उन्हे विद्वानों की सगति मे रखना चाहते थे, परन्तु उनका रुझान प्रकृत्या विलासिता की ओर था । उन्होने सगीत-कला सीखी । वे सगीतज्ञो एव नर्तकियो के समर्ग में रहा करते थे, उनकी महफिलो मे वाजिद अलीशाह को अत्यधिक आनन्द अनुभव होता था । [१०४] अपव्यय मे वे धन पानी की तरह बहाते थे । उन्होंने अस्सी लाख रुपये की लागत से कैसर बाग़ बनवाया [१०५] जो उनमत्त रगरलियो तथा मदनालय का रगमच था ।[१०६] लखनऊ में उनकी विलास क्रीडाएँ १८५६ तक आनन्दपूर्वक चलती रही । तत्पश्चात् अपने निर्वासन काल में कलकत्ता के मटियाबुर्ज मे भी उन्होंने पूर्वकालीन रगश्री को पुन-रुज्जीवित किया तथा उसे 'लखनऊ का सक्षिप्त प्रतिरूप' बना दिया ।[१०७]

वाजिद अली शाह ने अपनी कलात्मक प्रतिभा का परिचय, सगीत नाट्य के आविष्कार मे, नाट्य-कला के प्रस्तुतीकरण मे, सगीत की नवीन लयो के निर्माण मे तथा परिधानो की डिजाइन बनाने मे दिया । उन्हे सगीत से अनुराग था तथा वे

---

१०२ सक्सेना, पृ० ६७
१०३. कुल्लियात-ए-ज़फर,' (लखनऊ, १८८७) भाग ४, पृ० १६८ ।
१०४ अब्दुलहलीम शरर, 'गुज़िश्ता लखनऊ (लाहौर), पृ० ५२ ।
१०५. मुशी रामविशार, 'नादिरुलअस्र (लखनऊ, १८६३) पृ० १४७ ।
१०६ सक्सेना, पृ० ११७
१०७ वही ।

स्वयं एक श्रेष्ठ गायक थे। वास्तुकला में अभिरुचि होने के कारण उन्होंने लखनऊ को अनेक भव्य भवनों से सुशोभित किया। उन्हें हर प्रकार के जंगली पशु पक्षियों के संग्रह तथा संरक्षण में भी विशेष रुचि थी। उनके द्वारा स्थापित लखनऊ तथा कलकत्ता के चिड़िया-घर दूर-दूर के दर्शकों को आनन्द प्रदान करते थे। वे श्रेष्ठ आकर्षक व्यक्तित्व तथा रूप के स्वामी थे। लखनऊ में वे 'जाने आलम पिया' के नाम से प्रसिद्ध थे।[१०८]

वाजिद अलीशाह एक सिद्ध-हस्त लेखक थे। उनकी कुछ अत्यधिक महत्वपूर्ण रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) गज़लों के छः दीवान-'शुआ-ए-फ़ैज़', 'कसर-ए-मजमून', 'मुख्न-ए-अशरफ', 'गुलदस्ता-ए-आशिका', 'अख्तर-ए-मुल्क' तथा 'नजम-ए-नामवर' शीर्षकों से संग्रहीत हैं (२) अनेक मसनवियाँ जिनमें, 'हुज्न-ए-अख्तर', 'खिताबात-ए-महल्लात', 'बानी', 'नाजो', 'दुल्हन', 'दरफ्न-ए मौसीकी', 'दरिया ए-तअश्शुक' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं (३) मरसियों के तीन संग्रह (४) 'कसायदुल-मुबारक' जिसमें उर्दू तथा फारसी में कसीदे हैं (५) 'मुबाहिसा बैनुल नफ्सुलअक्ल' (६) 'सहीफा-ए-सुल्तानी' (७) 'नसाहए अख्तरी' (८) 'इश्क नामा' (९) 'रिसाला-ए-ईमान' (१०) 'दफ्तर ए-परीशा (११) 'मक्तो-मौतबिर' (१२) 'दस्तूर-ए-वाजिदी' (१३) 'सौतुल-मुबारक' (१४) 'हैब्रत-ए-हैदरी' (१५) 'जौहर-ए-उरूज' (१६) 'इरशाद-ए-खाकानी' आदि।

---

१०८. वही पृ० ११७।

३

मुस्लिम आभिजात्य वर्ग एवं जन-साधारण का जीवन तथा प्रवृत्तियाँ

विभिन्न क्षेत्रों के निवासियों की वेश-भूषा तत्तत्क्षेत्रीय जलवायु से प्रभावित होती है। निःसन्देह सम्पन्नता वेश-भूषा को परिष्कृत एवं समृद्ध करती है। मुस्लिम जन-साधारण अपनी वेश-भूषा के प्रति विशेष रूप से सचेत नहीं रहता था; तद्विपरीत आभिजात्यवर्ग अपनी वेश-भूषा को अत्यधिक महत्त्व की दृष्टि से देखता था, जिसे उसने कतिपय सुनिश्चित सामाजिक प्रतिष्ठाओं के अनुरूप अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से विकसित किया था। अतः यह असम्भव था कि समाज का उच्चस्तरीय व्यक्ति मूल्यवान एवं बोझिल परिधान धारण किए बिना ही घर से बाहर चला जाय, भले ही सूर्य प्रचण्ड रूप से क्यों न तप रहे हों। भड़कीले वस्त्रों के प्रदर्शन की होड़, जो एक प्रथा बन चुकी थी, १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक भी प्रचलित रही। इसके कारण कुलीन व्यक्ति दारिद्र्य में भी उसका पालन करने में ही अपनी कुलीनता समझते थे।

(अ) पुरुष-परिधान :

दिल्ली में मुगल राज्य के अन्तिम चरण में, दरबारी वेश-भूषा के अन्तर्गत ये वस्त्र थे :—पगड़ी, जामा, पटका, तंग मुहरी का पाजामा तथा ऊँची एड़ी के कफश नुमा जूते।[१] पगड़ी शिरोवस्त्र थी जिसे चीरा अथवा दस्तार[२] भी कहते थे। यह चालीस से सत्तर हाथ लम्बा एवं बारह से अठारह इंच चौड़ा वस्त्रखण्ड होता था।[३] नीमा[४],

---

१. शरर, पृ० २२८।

२. कुल्लियात ए-नज़ीर', पृ० १२।

३. जाफ़र शरीफ़, 'कानून-ए-इस्लाम', अनुवादक जी० ए० हर्कलोट्स (लन्दन, १८३२), परिशिष्ट ३, पृ० ६; 'दरिया-ए-लताफ़त', पृ० २८; उदयशंकर शास्त्री (सम्पादक), 'नज़ीर काव्य संग्रह' भाग-१ (आगरा, १९७२), पृ० ८६, ९९।

४. शरर, पृ० २२८।

जामा की भाँति होता था, परन्तु सीने पर उतना अधिक स्थूल नही होता था, तथा इसके घेर मे कपडा कम होता था। नीमा आस्तीन, आधी बाहो वाली एक विशेष प्रकार की कचुक होती थी, जिसमे सीने पर इकहरा पर्दा होता था तथा सीने के मध्य मे बटन लगे होते थे, इसे जामे के नीचे धारण किया जाता था। इस प्रकार, यह अजमी कबा का सशोधित रूप थी।[५] जामा[६], पैराहन[७] की भाँति एक लम्बा चोगा होता था परन्तु उसके घेर मे कपडा अधिक मात्रा मे होता था, जो ऊपरी भाग मे असख्य चुन्नटो मे मुडा रहता था। यह सीने पर दोहरे पर्दो का होता था तथा इसके शरीर का भाग दो स्थानो पर प्रत्येक ओर से बाँधा जाता था। दाहिनी ओर का ऊपरी भाग प्राय अनेक डोरियो से बाँधा जाता था। मुसलमान अपने जामो को दाहिनी ओर बाँधा करते थे जबकि हिन्दू इसके विपरीत बायी ओर।[८] बादशाह एव कुलीनो के लिए यह प्राय बढिया ढाके की मलमल और जामदानी का बनता था।[९] पटका, कटिबन्ध अथवा एक लम्बा वस्त्रखण्ड होता था, जो कमर के चारो ओर बाँधा जाता था, इसे कमरबद भी कहते थे।[१०] पाजामा[११], लम्बा अधोवस्त्र अथवा ढीला पादावार होता था जो टाँगों पर असाधारण रूप से चौडा होता था, अर्थात् परिधि में एक से तीन हाथ तक।[१२] परन्तु बादशाह व कुलीन-जन चुस्त पाजामा पहनते थे, जो मशरू एव गुलबदन जैसे उत्कृष्ट कोटि के कपडो के बनते थे।[१३]

उपर्युक्त परिधान व्यावहारिक रूप मे १६वीं शताब्दी से मुगल दरबार मे प्रचलित रहा, तथा हमारे अध्ययन काल मे भी यह आभिजात्यवर्ग द्वारा धारण किया

---

५ वही, 'कुल्लियात ए-आतिश' (लखनऊ, १६०६) पृ० ४८, 'कुल्लियात ए-नजीर', पृ० ७८, कबा एक लम्बा चोगा होता था जिसके घेरे में वेष्टक होते थे, घेरा तथा सीना खुला होता था तथा कभी कभी बाँहों में झिरी होती थी ('कानून ए इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० ११)।

६ 'कुल्लियात ए मीर', पृ० ६६३, 'आब ए-हयात', पृ० २०५, मालिकराम, जिक्र ए गालिब' (दिल्ली, १६५०), पृ० १५८ 'काव्य सग्रह', पृ० ६६।

७ 'कुल्लियात ए नजीर', पृ० १३५, १४३, पैराहन कबा की भाँति होता था, परन्तु इसमे डोरियों के स्थान पर बटन होते थे—गले पर, नाभि पर तथा दोनों के मध्य ('कानून ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० ११)।

८ 'कानून-ए इस्लाम' परिशिष्ट ३, पृ० ११, 'दरिया ए लताफत', पृ० २८, ८६, 'दीवान ए नासिख', भाग १ (लखनऊ, १८८६), पृ० ३७, शरर, पृ० २२६, 'आब ए हयात, पृ० १८२, २०५।

९ शरर, पृ० २२६।

१० 'कानून ए इस्लाम', परिशिष्ट ३ पृ० १२।

११ 'दरिया-ए-लताफत', पृ० ६८, 'दीवान-ए नासिख' भाग २, पृ० १०४, 'रंगी इन्शा' (बदायू, १६२४), पृ० ४६, ५१ 'आब ए-हयात', पृ० २०५, मालिकराम पृ० १५८; फरहतुल्ला बेग, 'देहली की आखिरी शमा, (दिल्ली), पृ० ५० फुटनोट, ५१, 'काव्य सग्रह' पृ० ६६।

१२ 'कानून ए इस्लाम' परिशिष्ट ३, पृ० १३।

१३. शरर, पृ० २२६।

जाता रहा। इसी मध्य ईरानी क़बा के परिमार्जित रूप में दिल्ली में बालाबर प्रचलित हुआ।[14] इसमें एक गोल कालर होता था, जो बिलकुल खुला रहता था, क्योंकि सीने को ढकने के लिए नीमा पर्याप्त था, जो इसके नीचे पहना जाता था। क़बा की चुन्नट व घेर को इसमें से निकाल दिया गया। उद्देश्य यह था कि दामन आगे की ओर न खुले। दाहिने दामन में एक चौड़ी पट्टी लगादी जाती थी, जो बायीं ओर नीचे ले जाकर बन्द से बाँधी, अथवा हुक में अटका दी जाती थी।[15]

धीरे-धीरे बालाबर में कतिपय संशोधन करके अंगरखा[16] आविष्कृत किया गया, यह वस्तुतः जामा और बालाबर—दोनों के आधार से बनाया गया। यह क़बा के समान था, जिसमें खुले हुए वेष्टकों का अभाव था तथा वक्ष एवं काँखें ढकी रहती थीं।[17] अंगरखा न केवल दिल्ली में ही वरन् सम्पूर्ण भारत में अत्यधिक लोकप्रिय हो गया। लखनऊ में इसकी आकृति एवं कटाव में कुछ और संशोधन किया गया। चोली की चुन्नटों को पूर्णतः समाप्त करके इसको और अधिक चुस्त बनाया गया। इसके आँचल को गोट आदि लगाकर अलङ्कृत किया जाता था।[18]

अंगरखे को मध्यम-वर्गीय मुसलमान भी वरीयता से पाजामे के ऊपर पहनते थे। अमीरों व सर्वसाधारण के परिधान में प्रकार की अपेक्षा कोटि का अन्तर होता था। परिधान जितना अधिक मूल्यवान होता था, उसको पहनने वाला उतना ही धनवान समझा जाता था।

दिल्ली में अंगरखे के प्रचलित होते ही नीमा बहिष्कृत कर दिया गया। वक्षस्थल के वाम भाग को अनावृत रखना अशोभनीय नहीं बल्कि स्वीकृत शिष्टाचारों के अन्तर्गत समझा जाता था।[19] लखनऊ में उसके नीचे नीमे के स्थान पर शलूका[20] प्रचलित हुआ, जिसमें आगे की ओर बटन लगाए जाते थे। नाज़ुक-मिजाज लोग जाली आदि के कुर्ते शलूके पहनते थे, जिन पर कच्चे सूत से कसीदाकारी की जाती थी। कतिपय लोग रंगीन शलूके पहनते थे, जिससे कि उनके बेलबूटे तथा रंग तंजेब के अंगरखे के नीचे से अपनी झलक दिखाकर विशेष आकर्षण उत्पन्न कर सकें।[21]

---

१४. वही, 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० ११।

१५. शरर, पृ० २२६।

१६. 'आख़िरी शमा', पृ० ५० फुटनोट, ५१।

१७. 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० ११, 'अब्र-ए-गुहरबार', पृ० २५८, ४२८; 'दरिया-ए-लताफ़त', पृ० ६७; इसे जामा, कुर्ताई, बहादुरी, बन्दी अथवा कलीदार भी कहते थे। दक्षिण भारत में अंगरखे में अनेक और चुन्नटें होती थीं। ('कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० ११)।

१८. शरर, पृ० २१०।

१९. वही।

२०. 'शौकत-ए-नादिर', भाग २, पृ० ८२।

२१. शरर, पृ० २१०-२११।

बालाबर का एक अन्य संशोधित रूप चपकन[22] थी। यह एक प्रकार की चुस्त कबा थी, जिसमें वैसा ही गोल कालर तथा अंगरखे की भाँति सीने पर पर्दा भी लगाया गया, परन्तु वह पर्दा दाहिनी ओर हुक से अटकाया जाता था। यह चपकन प्रायः शाली अथवा किसी अन्य भारी कपड़े की बनती थी, और शरद-ऋतु के लिए अधिक उपयुक्त होती थी। यह लखनऊ दरबार की वेशभूषा बन गई। इसे अंग्रेज़ों ने भी पसंद किया, जिसे वे अपने परिचारकों को पहनाते थे।[23]

अन्त में चपकन व अंगरखा में कतिपय संशोधनों के फलस्वरूप अचकन[24] अस्तित्व में आई। इसमें दोनों वस्त्रों के कालरों को स्थिर रखा गया, जो बीच से काटकर, आधा-आधा दोनों ओर सी दिया जाता था तथा सिलाई के स्थान पर सजाफी गोट लगादी जाती थी। इसमें सामने कई बटन लगाए जाते थे। बालाबर की कली जो ऊपर लगाई जाती थी, वह इसमें नीचे लगाई जाने लगी। अचकन का निचला भाग बिलकुल चपकन तथा अंगरखे के समान ही रहा। शौकीन लोग अपनी अचकनों पर अत्यन्त श्रम से निर्मित दर्शनीय अलंकृत कशीदाकारी कराते थे।[25] शीघ्र ही अचकन सम्पूर्ण देश में अत्यन्त लोकप्रिय हो गई। हैदराबाद पहुँच कर कतिपय सुधारों तथा पश्चिमी कोट से ली गई प्रेरणा से यह शेरवानी[26] में परिणत हो गई। यह लम्बे कोट की भाँति घुटनों से कुछ नीची होती थी, तथा सामने से बन्द की जाती थी।[27] शेरवानी उत्तरी-भारतवासियों में भी लोकप्रिय हो गई। अंगरखे के नीचे जिस शलूके का प्रयोग किया जाता था, उसका स्थान कुरते[28] ने, तथा कुछ समय पश्चात् पश्चिमी कमीज़ ने ले लिया।[29]

शरद ऋतु में मिरज़ई[30] का प्रयोग किया जाता था। यह दुहरे पर्दे वाली सूती बण्डी थी, जिसके बाहरी कपड़े व अस्तर के मध्य रूई भरी रहती थी। यह साधारणतः कबा के नीचे पहनी जाती थी।[31] इकबाली अथवा लुंगी का प्रयोग प्रायः स्नान करते समय धनी एवं निर्धन दोनों ही करते थे। इसे तहबन्द अथवा तहमत भी कहते थे। यह एक वस्त्रखण्ड था जिसे शरीर के अधोभाग में लपेट कर,

---

२२. 'दरिया-ए-लताफत', पृ० २४६, 'दीवान-ए-नासिख', भाग २, पृ० १६४, १८८।
२३. शरर, पृ० २३१।
२४. 'दरिया-ए-लताफत', पृ० २४७, लखनपाल, पृ० ३३।
२५. शरर, पृ० २३१।
२६. 'आखिरी शमा', पृ० ५० फुटनोट।
२७. शरर, पृ० २३२।
२८. 'आब-ए-हयात' पृ० ३६७, ४८२ 'आखिरी शमा', पृ० ५० फुटनोट, ५१, सालिकराम, पृ० १५८, 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १०-११।
२९. शरर, पृ० २३२, 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १०, जाफर शरीफ का विचार कि कमीज़ एक अरबी शब्द है, असत्य है। वास्तव में इसकी उत्पत्ति पुर्तगाली है।
३०. 'तज़्किरा गुलज़ार-ए-इबराहीम', पृ० १६४ ब।
३१. 'आब-ए-हयात', पृ० २६७, 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १०।

इसके सिरो को, चुन्नटें डालकर कमर से बाँध लिया जाता था।[३२] यदि वस्त्रखण्ड रंगीन होता तो यह लुंगी कहलाता था।[३३] धनी व्यक्ति इसका प्रयोग केवल घर के अन्दर ही करते थे,[३४] जबकि निर्धन इसे कुरते सहित अथवा कुरते रहित ही पहन कर अपने काम पर चले जाते थे।[३५] रूमाल भी सामान्य रूप से प्रचलित था।[३६] कुछ लोग लंगोट[३७] का प्रयोग जाँघिये के रूप मे करते थे। यह लगभग दो फुट लम्बा और छ या आठ इंच चौडा वस्त्रखण्ड होता था। इसे टांगो के मध्य से निकाल कर, इसके सिरो को आगे-पीछे कटिबन्ध से बाँध लिया जाता था।[३८] साधारणत इसका प्रचलन फकीरो मे अधिक था।[३९]

१ शिरोभूषा :

वस्त्रो मे पगडी का महत्वपूर्ण स्थान था। यह न केवल धूप-ताप से सिर की रक्षा करती थी, वरन् व्यक्ति की सामाजिक स्थिति व धर्म को भी व्यक्त करती थी। व्यक्ति का नगे सिर घर से बाहर निकलना अकल्पनीय था। इस बात का अत्यधिक ध्यान रखा जाता था कि पगडी की तहें ठीक हो तथा वह उचित रूप मे बँधी हो।[४०]

पर्यवेक्षण-काल मे विविध प्रकार की पगडियाँ प्रचलित थी। साधारणतः यह मलमल अथवा तजेब की होती थी, यद्यपि अलंकरण के उद्देश्य से अन्य सामग्री का भी प्रयोग किया जाता था। खिडकीदार पगडी,[४१] जो जरी की पट्टियो के साथ धारण की जाती थी, सम्मान-सूचक पोशाक (खिलअत) का एक भाग होती थी।[४२] यह उसी प्रकार की होती थी जैसीकि चौकीदारों एव चोबदारो द्वारा प्रयुक्त होती थी।[४३] नस्तालीक को बादशाह व कुलीन आदि धारण करते थे। पटनाऊ का

---

३२. 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १२, 'कुल्लियात-ए इन्शा' (लखनऊ, १८७६), पृ० ३३, 'आब ए-हयात', पृ० ३०३।

३३ 'कानून-ए इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १२-१३, 'आब ए-हयात', पृ० ३१४।

३४. 'आब-ए-हयात', पृ० ४२।

३५ फरहतुल्ला बग, 'मजामीन-ए-फरहत', भाग २ (लाहौर), पृ० ३३।

३६ 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १३, 'कुल्लियात-ए-इन्शा', पृ० ४६, 'दीवान-ए-नासिख', भाग २, पृ० १२७, 'आखिरी शमा', पृ० ५० फुटनोट।

३७ 'कुल्लियात-ए-इन्शा', पृ० ३३, 'आब-ए-हयात', पृ० ३०३।

३८ 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १३।

३९. वही।

४० जमीला बृजभूषण, 'द कॉस्टयूम्स एण्ड टेक्सटाइल्स ऑव इण्डिया' (बम्बई, १९५८), पृ० ४१।

४१ 'आब-ए-हयात', पृ० २०५।

४२ 'द कॉस्टयूम्स एण्ड टेक्सटाइल्स', पृ० ४०।

४३. 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० ९।

प्रयोग बंगाल में होता था। जूड़ेदार, इस प्रकार बाँधी जाती थी जैसे स्त्रियाँ अपने केशों को पीछे की ओर गाँठ के रूप में बाँधती हैं। चक्रीदार, वृत्ताकार होती थी। गण्डी वर्तुलाकार तथा तिकोनी तीन कोने वाली होती थी। कदम-ए-रसूल, चीरा या फेटा का प्रयोग बादशाह व शाहज़ादे करते थे। सीपारी अली, ढाल के समान अधिक चौड़ी हुआ करती थी। बाँकी, वक्राकार होती थी तथा मशायखी, जैसी कि मशायख पहनते थे। पगड़ियों के अन्य प्रकार लट्टूदार, यकपेचा तथा मुर्गपेचा थे। अम्मामा बीस हाथ लम्बा वस्त्रखण्ड होता था जो सिर पर पगड़ी की भाँति धारण किया जाता था।[४४]

जो हो, सामान्य प्रवृत्ति हल्की पगड़ियाँ धारण करने की थी। अतः पगड़ी का आकार-प्रकार शनैः शनैः परिवर्तित होता गया। मुगल शासन-काल के अन्तिम चरण में पगड़ियाँ बहुत हल्की हो गई थीं। साथ ही पूर्वकालीन तुर्की कुलाह का भी बहिष्कार कर दिया गया, उसका स्थान कपड़े की एक लघु टोपी ने ले लिया, जिस पर पगड़ी बाँधी जाती थी। यह आवश्यकता भी अनुभव की जाने लगी कि घर में तथा अनौपचारिक बैठकों में पगड़ी उतार कर रख दी जाया करे। चूँकि नंगे सिर रहना निन्द्य समझा जाता था, अतः दिल्ली में ताज के समरूप एक हल्की कमरखी टोपी अविष्कृत हुई। यह चतुष्कोणीय होती थी तथा चौगोशिया[४५] कहलाती थी। लखनऊ पहुँचने पर इसमें कतिपय संशोधन किए गए। कालान्तर में नसीरुद्दीन हैदर के समय में यह पचगोशिया[४६] टोपी में परिवर्तित हो गई। शरद ऋतु में प्रयोग की जाने वाली टोपियों में अलंकरण कार्य किया जाता था, तथा ग्रीष्म-ऋतु के लिए यह चिकन के कपड़े से बनाई जाती थी। इसी मध्य एक अन्य टोपी, जिसे दो पलड़ी[४७] कहते थे, अधिक लोकप्रिय हुई। एक अन्य प्रकार की टोपी, जिसमें आगे-पीछे नोकें निकली रहा करती थीं, तथा जो नुक्केदार[४८] कहलाती थी, को शाहज़ादे, नवाब व कुलीन अधिक पसन्द करने लगे। इनके अतिरिक्त सम्भवतः गाज़ीउद्दीन हैदर अथवा नसीरुद्दीन हैदर के काल से एक गोल टोपी का भी प्रचलन हो गया जो मुन्दील[४९] कहलाती थी। वाजिदअली शाह ने भी अपने दरबारियों के लिए एक प्रकार की टोपी अविष्कृत की थी। इसका नाम आलम पसन्द[५०] रखा गया, परन्तु यह लोकप्रियता प्राप्त न कर सकी।

---

४४ वही, 'काव्य संग्रह' पृ० ६६।
४५ शरर, पृ० २३४ 'आखिरी शमा', पृ० ४६ फुटनोट, १५८।
४६ शरर, पृ० २३५, 'आखिरी शमा' पृ० ५० फुटनोट।
४७ शरर, पृ० २३५-३६, 'आखिरी शमा' पृ० ५० फुटनोट।
४८ शरर, पृ० २३६।
४९ वही।
५० वही पृ० २३७।

२. पादत्र

प्रचलित पादत्र विविध प्रकार के थे, यथा—चपश, चढवाँ, सलीमशाही, खुर्दनोका व घेतला।[५१] चपश ऊँची एडी का होता था[५२] तथा चढवाँ आगे से नुकीला और ऊपर से खुला होता था।[५३] सलीमशाही दिल्ली में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ था। इसमें छोटी नुकीली पत्ती होती थी, जो ऊपर की ओर मुडी रहती थी।[५४] खुर्दनोका, जिसका आविष्कार लखनऊ में हुआ था, भार में बहुत हल्का होता था।[५५] घेतला में पंजे का भाग एवं नुकीली लम्बी पत्ती द्वारा समाप्त होता था, यह पंजों के ऊपर भीतर की ओर मुडी रहती थी।[५६]

इनमें से कुछ जूते घनी और बहुमूल्य सामग्री से निर्मित होते थे। उन पर शानदार ढंग से सुनहरी व रुपहली कशीदाकारी होती थी तथा सलमें सितारे जडे रहते थे।[५७]

(ब) स्त्री-परिधान

स्त्रियों और पुरुषों के परिधान में अन्तर, कपडे की अपेक्षा डिजाइन का अधिक था। स्त्रियों के परिधान वस्तुतः अधिक शोख, भडकीले एवं चित्ताकर्षक होते थे।[५८]

मुस्लिम स्त्रियाँ साधारणतः अपना सिर दुपट्टा अथवा ओढनी[५९] से ढकती थीं। दुपट्टा सिर के पीछे धारण किया जाता था तथा शरीर पर लावण्यमयी तहों में गिरता था। खडे होने की स्थिति में यह सामने के भाग पर कासित होता था, इसका एक सिरा आंशिक रूप से वक्ष को आवृत किए रहता, और दूसरा विपरीत कन्धे पर पडा रहता था।[६०]

---

५१ 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १४, शरर, पृ० २४६–५१।

५२ शरर, पृ० २४६, 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १४; 'आखिरी शमा' पृ० ५० फुटनोट, मालिकराम, पृ० १५८।

५३ शरर, पृ० २४६–२५१।

५४. शरर, पृ० २४६–५०, 'आखिरी शमा', पृ० ५० फुटनोट, 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १४।

५५. शरर, पृ० २५०।

५६. 'कानून ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १४, शरर, पृ० २५१, 'आखिरी शमा', पृ० ५० फुटनोट; मालिकराम, पृ० १५८।

५७ 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १४, 'दरिया-ए-लताफत', पृ० ८६।

५८. 'मसनवी सिहरुल बियाँ' पृ० १०१ १०६, १३०, १३१, १४३, १४४, १५८, १६४, 'दरिया-ए-लताफत' (मूल पाठ) पृ० ५४–५५।

५९ 'मसनवियात-ए-मीर हसन', पृ० ५५, ६८, १२४, १५५; 'कुल्लियात-ए-नजीर', पृ० ४१, १४३, 'दरिया-ए-लताफत, पृ० २८, ४१, ४८, ८६, ९८, २३८, 'दीवान-ए-नासिख', पृ० १६, २८, 'कुल्लियात ए इन्शा', पृ० १६, १८६, 'रंगी इन्शा', पृ० ४६; 'दीवान-ए-जान साहब', पृ० ११०, 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १६; 'काव्य संग्रह', पृ० ८६, १२१

६० श्रीमती मीर हसन अली 'ऑब्ज़र्वेशन्स ऑन द मुसलमान्स ऑव इण्डिया', भाग-१ (लंदन, १८३२), पृ० १०६, शरर, पृ० २५४।

स्त्रीय-परिधान के अन्य मुख्य उपकरण इस प्रकार थे :—कुरती, यह एक प्रकार की लघु कमीज थी, जो कूल्हे तक जाती थी, तथा कभी-कभी यह सामने वक्ष के ऊपरी भाग पर खुली रहती थी। इसमें बाहें यदि होती, तो बहुत छोटी होती थी।[६१] चोली, एक प्रकार की कचुक थी, जो नीचे की ओर वक्षस्थल तक, कुचो के आकार को पूरे उभार में लाते हुए, फैली रहती थी। इसकी चुस्त बाहें कन्धों व कोहनी के मध्य तक या उससे कुछ कम, पहुँचती थी। इसके सभी किनारों पर एक भिन्न रग का सकीर्ण बारडर लगा होता था, जो कशीदाकारी अथवा रेशम आदि का होता था। इसे सदरी की भाँति पहना जाता था तथा सामने की ओर दोनों सिरे, एक दूसरे से बाँध लिए जाते थे।[६२] अगिया, कचुक की लम्बाई तथा बाहों की दृष्टि मे चोली के समान होती थी, परन्तु यह सामने व केवल अधोभाग मे कसने के स्थान पर सीधी कचुक की भाँति पहनी जाती थी। पृष्ठ भाग में लगभग चार अगुल की पीठ नगी छोडकर ऊपर तथा नीचे की ओर बाँध ली जाती थी।[६३] पेशवाज, पुरुषो के जामे की भाँति होती थी, परन्तु केवल घुटनो से नीचे तक पहुँचती थी। यह रगीन मलमल की दोहरे परदो वाली होती थी, जिसमे दो पल्ले दोनो ओर दो स्थानो पर बाँधे जाते थे।[६४] नीमताना, कचुक के समान होता था जिसे शरीर के मध्य भाग मे पहना जाता था। यह आधुनिक ब्लाउज के सदृश होता था।[६५]

सलवार, पहनने वालो की सामाजिक, आर्थिक स्थिति तथा साधनो के अनुसार सूती, रशमी या किमखाब आदि कपड़ो से निर्मित होती थी। इसकी बनावट पुरुषो की सलवार की भाँति ही होती थी, अन्तर मात्र इतना होता था कि स्त्रियाँ सामान्यत अधिक चुस्त सलवार पहनती थी।[६६] पाजामा, शरीर के निम्न भाग को ढकने का प्रमुख परिधान था। श्रीमती मीर हसन अली ने धनी-स्त्रियो द्वारा पहने जाने वाले पाजामो का रोचक वर्णन किया है —"स्त्रियो के पाजामे, बढ़िया साटन या सुनहरे कपडो, गुलबदन अथवा मशरू (बनारस मे निर्मित धारीदार धोने योग्य सिल्क),

---

६१ 'कानून ए इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १५, 'मसनवी सिहरुल बियान' पृ० ८५, १५७, 'दरिया-ए लताफत', पृ० ६८, रगीं इन्शा, पृ० २१ ३४, ४६, ५१, 'दीवान एन्नासिख', पृ० ७६, 'काव्य सग्रह' पृ १४०।

६२ 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १५, कुल्लियात ए-मीर', पृ० ८४६, शरर, पृ० २५२-५३।

६३ 'कानून-ए इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १५, 'मसनवियात-ए-मीर हसन', पृ० ५५, ६८, १५६, 'कुल्लियात-ए-नजीर, पृ० ११५, 'कुल्लियात-ए-इन्शा', पृ० १८६, 'दीवान-ए-नासिख' पृ० ४६, 'दरिया-ए लताफत' पृ० ६८, २४७, 'ऑब्जर्वेशन्स' भाग-१, पृ० १०७-८, 'काव्य सग्रह', पृ० १३८।

६४. 'कानून ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १५, 'दरिया ए-लताफत', पृ० २३७, 'रगीं इन्शा', पृ० २१,३४।

६५ 'ऑब्जर्वेशन्स', भाग-१ पृ० १०८।

६६. 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १५, शरर, पृ० २५३।

उत्तम छींट—अंग्रेज़ी निर्मित वरीयता से—रेशमी व सूती धारीदार कपड़ों से बनते हैं। संक्षेप में स्त्री के इस परिधान के लिए स्वदेशी छींट तक, ऐसे सभी कपड़े प्रयुक्त होते हैं, जो पर्याप्त मजबूत हों तथा पहनने वाले के साधनों के अनुकूल हों.......एक अत्यधिक चौड़ा रुपहला पट्टबन्ध पाजामे के शीर्ष से आबद्ध होता है। यह दोहरा होता है तथा इसमें इज़ारबन्द (एक रेशमी जालीदार डोरी) पड़ा रहता है जिसके द्वारा परिधान के इस भाग को कटि पर बाँध लिया जाता है। इज़ारबन्द के सिरे घने सुनहरी तथा रुपहली फुंदनों से युक्त होते हैं जो विशेष रूप से विलक्षणता के उद्देश्य से बनाए जाते हैं तथा घुटनों से नीचे तक लटके रहते हैं। सम्पूर्ण परिधान के लिए इन फुंदनों को मोतियों और रत्नों से भव्य बनाया जाता है।"[६७] लहँगा, एक प्रकार का पेटीकोट होता था जिसे कमर पर बांधा जाता था तथा जो चरणों अथवा पृथ्वी तक नीचा होता था, इसे प्राय. परिचारिकाएँ पहनती थीं।[६८] मुसलमान स्त्रियों में साड़ी[६९] का प्रयोग भी सामान्य हो गया था।[७०]

सम्भवत अभिजात वर्ग के अतिरिक्त सभी वर्गों की स्त्रियों द्वारा पर्दे का कठोरता से पालन किया जाता था। अत जब स्त्री घर की चहार-दीवारी के बाहर कदम रखती थी, तो बुर्का[७१] पहनती थी। यह एक श्वेत कपड़े की चादर होती थी जिसे सिर के ऊपर से पहना जाता था, तथा जो सम्पूर्ण शरीर को ढक लेती थी। इसमें देखने के लिए नेत्रों के समक्ष जालीदार स्थान होता था, किन्तु पूर्ण मुखाकृति सन्तुलित ढंग से छिपी रहती थी। इसका प्रयोग वे शालीन स्त्रियाँ करती थी, जो पैदल चलने को बाध्य थी, किन्तु जिनमें डोलियों अथवा पालकियों में जाने की सामर्थ्य नहीं थी।[७२] जो बुर्का धारण करने की क्षमता नहीं रखती थी वे उसके स्थान पर चादर का प्रयोग करती थीं। यह एक लम्बा वस्त्रखण्ड होता था जिसे सिर पर डाल लिया जाता था तथा जो पृथ्वी तक पहुँचते हुए समस्त शरीर को ढक लेता था। स्त्रियाँ प्राय. बाहर सड़कों पर जाते समय स्वयं को उसमें लपेट लेती थीं तथा अपनी मुखाकृतियों को इससे छिपाने का विशेष ध्यान रखती थीं। यदि वे वृद्धा व कुरूप होती तो इसका और भी ध्यान रखती थीं।[७३]

पापोश अथवा कफ़श[७४] स्त्रियों के पादत्र होते थे। मुस्लिम स्त्रियाँ मोजे नहीं

---

६७. "ऑब्जर्वेशन्स" भाग–१, पृ० १०६–७।
६८. "मसनवी सिहरुल बियां', पृ० १६८; "कानून-ए-इस्लाम", परिशिष्ट ३, पृ० १५।
६९. 'कानून-ए-इस्लाम", परिशिष्ट ३, पृ० १५।
७०. "दरिया-ए-लताफत' पृ० २८६।
७१. "दीवान-ए-मुसहफी', भाग–६, पृ० २४ ब, "मसनवी सिहरुल बियां", पृ० १३४, "कुल्लियात-ए इंशा", पृ० ६४, "आब ए-हयात', पृ० २२४,२२६।
७२. "कानून-ए-इस्लाम", परिशिष्ट ३, पृ० १६।
७३. वही।
७४. वही।

पहनती थी।[७५] पादत्रों के अन्य प्रकार चिनौल, पेशावरी, धेतली अथवा चन्दूरी थे।[७६] श्रीमती मीर हसन अली ने मुस्लिम स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त पादत्रों के चित्ताकर्षक रंगों, आकार-प्रकार तथा सौन्दर्य का विशद वर्णन किया है।[७७]

उच्चवर्गीय स्त्रियाँ अपने परिधानों के कपड़े व डिजाइनों के चयन पर विशेष ध्यान देती थीं। उन्हें ऋतु व अवसरानुकूल रंगबिरंगे परिधान धारण करना प्रिय था। उदाहरणार्थ, बसन्त ऋतु में वे बसन्ती वस्त्र धारण करती थीं।[७८] वे रूमाल का भी प्रयोग करती थीं।[७९] स्त्रियों की वेश-भूषा में हुए परिवर्तनों की चर्चा करते हुए जमीला बृजभूषण लिखती हैं "जैसे-जैसे मुगल साम्राज्य पतनोन्मुख होता गया तथा अनेक हिन्दू व मुस्लिम राज्यों का अभ्युदय हुआ, वैसे-वैसे मुसलमानों की वेश-भूषा में भी कतिपय परिवर्तन होते चले गए। इनमें सबसे बड़ा परिवर्तन लखनऊ के मुस्लिम परिधानों के विकास में देखने में आया। गरारा, जिसका विस्तृत विभक्त आँचल होता था तथा जिसे लखनऊ की मुसलमान स्त्रियाँ धारण किया करती थीं, वहीं विकसित हुआ था। इसकी प्रेरणा राजपूत स्त्रियों के घाघरे से ग्रहण की गई थी, पर इसकी रचना अत्यधिक जटिल तथा कठिन थी। यह आवश्यक रूप से साव-काश वर्ग की स्त्रियों का परिधान था जो बहुत पीछे तक लटकता रहता था तथा जिसे या तो अनुचर उठाकर चलता था या इसे उठाकर एक बाँह पर डाल लिया जाता था। इसके साथ कटि तक लम्बी एक चुस्त कंचुक, तथा एक दुपट्टा भी प्रयोग में लाया जाता था जो राजस्थान से प्रचलन में आए थे। मुगल हरम के चुस्त पाजामे तथा शिरोवस्त्र बहिष्कृत कर दिए गए, क्योंकि वे अधिक प्रदर्शनीय थे। लखनऊ संग्रहालय में राजभवन की स्त्रियों के गरारे तथा दुपट्टे धारण किये हुए चित्र, चित्रित हैं। यह फैशन निर्धन मुसलमानों के लिए एक अभिशाप था। वे दरबार के फैशनों का अनुकरण करते हुए ऐसे परिधान का एक जोड़ा बनवाने के लिए सदैव अधिक व्यय नहीं कर पाते थे। यह अधिक प्रचलित नहीं हो सका तथा केवल मुसल-मानों में लखनऊ नगर तथा उसके चारों ओर के क्षेत्र तक ही सीमित रहा।"[८०]

(स) स्त्रीय-रत्नाभूषण

आदिकाल से ही हिन्दू-स्त्रियाँ प्रकृत्या आभूषण प्रिया रही हैं। वे परम्परागत रूप से आभूषण धारण करती रही हैं। उनसे ही मुसलमान स्त्रियों ने यह अभिरुचि तथा आभूषण-विविधता भी ग्रहण की। शरीर के विभिन्न अंगों पर जिन विविध

---

७५ "ऑब्जर्वेशन्स, भाग-१, पृ० १११।
७६. "कानून ए इस्लाम', परिशिष्ट ३, पृ० १८।
७७ "आब्जर्वेशन्स', भाग-१, पृ० १११-१२।
७८ 'कुल्लियात-ए-इंशा", पृ० ४६।
७९. वही।
८०. 'द कॉसट्यूम्स एण्ड टेक्सटाइल्स, पृ० ३७-३८।

प्रकार के आभूषणों का प्रयोग किया जाता था, उनमें सर्वाधिक महत्त्व तथा प्रिय आभूषणों का उल्लेख नीचे किया जाता है :—

(१) शीर्षभूषण :—टीका अथवा माँग टीका, एक स्वर्णाभूषण होता था, जिसे माथे पर धारण किया जाता था। यह बहुमूल्य, रत्न-जटित वृत्ताकार होता था। इसे या तो माथे के बीच स्थिर कर लिया जाता, या चिपका लिया जाता अथवा झूलते रहने दिया जाता था।[८१] झूमर एक त्रिकोणीय आभूषण होता था जिसे माथे पर एक ओर धारण किया जाता था।[८२] इस आभूषण के अन्य प्रकार सूरज या शीशफूल[८३] तथा माँग अथवा माँगपट्टी होते थे।[८४]

(२) कर्णभूषण :—कर्णफूल अथवा करनफूल एक स्वर्णाभूषण था। इसमें लगभग डेढ़ इंच व्यास का तारे का आकार अथवा विकीर्ण केन्द्र होता था, जो कभी-कभी बहुमूल्य रत्नों से पूरी तरह अलंकृत होता था। यह कान की लौ में दोनों प्रकार से स्थिर किया जाता था—यथारीति छेदने की क्रिया द्वारा तथा कान के ऊपर से सोने की चेन लपेटकर, जिससे वह कर्णफूल के भार को वहन कर सके।[८५] झुमका, सदैव ठोस स्वर्ण का होता था, जिसमें लगभग एक इंच व्यास का खोखला गोलार्द्ध अथवा विलक्षण रूप से जरदोजी के काम से युक्त घण्टाकृति होती थी।[८६] मुरकी कानों के लिए एक लघु झुमका होता था।[८७] बाली, कानों में धारण किया जाने वाला एक रत्नजटित वृत्त होता था।[८८] बाला, एक वर्तुलाकार कर्णाभूषण था।[८९] लौंग, कानों के लिए लवंगाकृति का आभूषण होता था।[९०]

(३) नासिकाभूषण :—स्त्रियों की मुखाकृति के अलंकरण में नासिका का समभाग था। इस पर अनेकानेक आभूषण धारण किए जाते थे, यथा—नथ, बुलाक, नथनी आदि। नथ, एक आभूषण था जिसे बाम नथुने को छेद कर पहना जाता था। यह सूई के बराबर मोटे सोने के तार की होती थी, जिसमें यथारीति हुक तथा

---

८१ 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ४, पृ० १८।

८२ जमीला बृजभूषण, 'इण्डियन जुइलरि, ऑर्नमेन्टस एण्ड डिकोरेटिव डिजाइन्स' (बम्बई, १९६४), पृ० १८०, 'आब-ए-हयात', पृ० २६०, ४३८।

८३ कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ४, पृ० १७।

८४ वही, पृ० १८।

८५ वही, पृ० १९, 'कुल्लियात-ए-नजीर' पृ० १३४।

८६ 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ४, पृ० १९, 'कुल्लियात-ए-नजीर', पृ० १९, 'आब-ए-हयात', पृ० २६०, ४३८।

८७ 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ४, पृ० २०।

८८ 'कुल्लियात-ए-नजीर', पृ० २२।

८९ 'दीवान-ए-मुसहफी (पाण्डुलिपि) भाग ६, पृ० १२८ अ, 'कुल्लियात-ए-नजीर पृ० १९, ७८, ११६, १५०।

९० 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ६, पृ० २१, 'कुल्लियात-ए-इन्शा' पृ० १६६।

अक्षुण्ण होते थे। इसके मध्य भाग में अथवा उसके निकट, अनेकानेक रक्तमणि व रत्नादि होते थे, जो सख्या में सम्भवत सात या अधिक होते थे। वे एक-एक महीन स्वर्ण पत्रक द्वारा पृथक किए जाते थे, जिसके किनारे प्राय दाँतेदार होते थे, तथा नियंत्रण में तार पर स्थिर रहते थे, जो उनके तथा रक्तमणि व रत्नादि के मध्य होकर गुजरता था। साधारणत नथ के वृत्त का व्यास डेढ इच से ढाई इच तक होता था।[६१] बुलाक, नासिका का एक छोटा-सा आभूषण था जो आकार में चपटा होता था। इसके सकुचित भाग मे कुछ छेद होते थे। इसे नासिका के बीच के पर्दे अथवा कोमलास्थि के मध्य छेद मे होकर गुजरने वाले स्वर्णिम पेंच के माध्यम से अनुबद्ध कर लिया जाता था। यह आभूषण ऊपरी ओठ पर चौरस पड़ता था। इसके चौडे सिरे पर मोतियों की लटकन होती थी और सतह पर बहुमूल्य रत्न जडे रहते थे।[६२] नथनी, एक छोटी बाली होती थी जिसे कन्याएँ वाम नथुने पर धारण करती थी।[६३]

(४) ग्रीवाभूषण —ग्रपव्ययी अलंकरणों में, जो स्त्रियों को अतिप्रिय थे, ग्रीवा को विस्मृत नहीं किया गया था। ग्रीवा को विविध प्रकार के कण्ठाहारों द्वारा विभूषित किया जाता था,—जैसे चम्पाकली, दुलडी, तौक, ताबीज, ज जीर, धुक्धुकी, हमेल, चन्दनहार तथा जुगनू। चम्पाकली मे चम्पा-पुष्प की कली की अनुकृति करते हुए, छोटे-छोटे लटकन, स्वर्ण व रेशमी व्यावृत्त डोरी मे गुँथे होते थे।[६४] दुलडी, रेशमी धागे मे पिरी मोतियों की दो पत्तियों वाली माला होती थी। जब इसमे तीन पत्तियाँ होती, तो यह तिलडी कहलाती, चार होती तो चौलडी तथा पाँच होती तो पचलडी अथवा पचलडी कहलाती थी।[६५] तौक, हास अथवा हसली, स्वर्ण अथवा चाँदी का ठोस कठा होता था। यह कभी-कभी सम्पूर्ण लम्बाई मे अथवा सामने के भाग मे प्राच्य शैली मे नक्काशी युक्त होता था।[६६] अधिकाश स्त्रियाँ अपने गले मे काली रेशमी डोरी मे गुँथा हुआ ताबीज धारण करती थी जो एक प्रकार का चाँदी का खोल होता था। इसमे या तो कुरानशरीफ के उद्धरण या कोई रहस्यपूर्ण लेख

---

६१ 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ४, पृ० २१, 'दरिया-ए-लताफत' पृ० ६६, २५५, 'कुल्लियात-ए-नजीर', पृ० ६५८, 'आब-ए-हयात, पृ० २६०।

६२ 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ४, पृ० २१; 'दीवान-ए-मुसहफी, भाग ६, पृ० २।

६३. 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ४, पृ० २२।

६४ 'इण्डियन जुएलरि' पृ० १८१, 'मननत्री सिद्धान्त बियां', पृ० ६६, 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ४, पृ० २२-२३।

६५ 'कानून-ए-इस्लाम, परिशिष्ट ४, पृ० २३।

६६ वही; 'काव्य संग्रह', पृ० ८५।

या किसी पशु अथवा वनस्पति के अंश परिवेष्टित होते थे।[९७] ज़ंजीर, स्वर्ण अथवा चांदी की माला होती थी।[९८] धुकधुकी, एक अन्य आभूषण था जिसे, ग्रीवा में धारण किया जाता था।[९९] हमेल, कण्ठहार होता था जिसमें एक लघु कुरान ताबीज की भाँति लटकी रहती थी।[100] चन्दनहार, अनेकानेक ज़ंजीरों से युक्त लम्बा कण्ठहार होता था।[101] जुगनू, एक लघु अर्ध चन्द्राकार आभूषण था जो माला आदि के मध्य धारण किया जाता था।[102]

(५) भुजा तथा कलाई के आभूषण.—कोहनियों के ऊपर भुजाओं के ऊपरी भाग को भुजबन्धों द्वारा विभूषित किया जाता था, जो बाजूबन्द कहलाते थे। यह एक क्षुद्र आभूषण था जो अर्द्धचन्द्राकार अलंकरण युक्त होता था। यह खोखला बनाया जाता था जिसमें पिघली हुई गपराल भरी रहती थी। इसके सिरे उसी धातु के (जो प्राय. चाँदी होती थी), प्रत्यानत्तों से युक्त होते थे तथा रेशमी रस्सी द्वारा दृढ़ता से बंधे रहते थे।[103] नौरतन, नौरत्नों का सग्रह होता था जो स्वर्ण के एक टुकड़े पर जड़े होते थे।[104] कड़ा, स्वर्ण अथवा चाँदी का एक भारी वलय होता था, जिसे कलाई में पहना जाता था।[105] चूड़ियाँ, काँच अथवा लाख के बने कंकण होते थे जिन पर विविध रंगों की चमक-दमक का अलंकरण होता था।[106] करनी

---

९७. वही, पृ० २३-२४, 'कुल्लियात-ए-नज़ीर', पृ० ८०, १०५, 'मसनवी गुल्ज़ार-ए-इरम', पृ० १५६, 'दीवान-ए-नासिख़', भाग १, पृ० ५०, अन्य वस्तुएँ कुछ भी होती हों, उनकी प्रभावकारी शक्ति पर अत्यधिक विश्वास किया जाता था—कि वे रोग निवारण तथा जादू का प्रभाव हटाने की क्षमता रखते थे, जिसकी गम्भीर आस्था प्रत्येक सम्प्रदाय के लोगों की बनी रहती थी। अत यह असामान्य बात नहीं थी कि ऐसे आधे दर्जन या अधिक तावीज एक ही डोरी में गुँथे तथा कभी-कभी उनके साथ ही साथ बघनखा अथवा चीते के दाँत व नाखून भी बच्चे की ग्रीवा में लटके रहा करते थे ('कानून-ए-इस्लाम', वही तथा पृ० ३५६)।

९८. कुदरतुल्ला क़ासिम, 'मजमुआ-ए-नग़्ज़', सम्पादक महमूद शीरानी (लाहौर, १९३३), भाग १, पृ० १५६।

९९. 'मसनवी सिहरुल बियाँ', पृ० ६८।

१०० 'मजमुआ-ए-नग़्ज़', भाग १, पृ० १६८।

१०१ 'इण्डियन ज़्वैलरि', पृ० १८१, हसरत, 'दीवान-ए-हसरत' (पाण्डुलिपि, रज़ा ग्रन्थालय, रामपुर), पृ० १७१ ब, 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ४, पृ० २२।

१०२. 'कानून-ए-इस्लाम', वही; 'काव्य सग्रह', पृ० १४०।

१०३ वही, पृ० २४, 'मसनवी सिहरुल बियाँ', पृ० ६८।

१०४. 'इण्डियन ज़्वैलरि', पृ० १७८; 'मसनवी सिहरुल बियाँ', पृ० ६८; 'कुल्लियात-ए-नज़ीर', पृ० १०३, १४३।

१०५ 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ४, पृ० २४, 'दीवान-ए-मुसहफ़ी', भाग २, पृ० १२५, 'कुल्लियात-ए-नज़ीर', पृ० १०३, १५०; 'काव्य सग्रह', पृ० १३८।

१०६ 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ४, पृ० २५; 'दरिया-ए-लताफ़त', पृ० १०६; 'रंगीं इन्शा', पृ० ४१; 'इण्डियन ज़्वैलरि', पृ० १८१; 'दीवान-ए-मुसहफ़ी', भाग ६, पृ० १४ ब।

अथवा चूड़ी, एक आभूषण था जो कलाई में पहना जाता था। पहुँचियाँ, ठोस चाँदी के छोटे नुकीले त्रिपार्श्वों अथवा खोखले स्वर्ण की बनी होती थी जिसमें गधराल भरी रहती थी। प्रत्येक त्रिपार्श्व जौ के बड़े दाने के बराबर होता था, जिसके तल में एक वलय टंकित होता था। ये त्रिपार्श्व काली रेशमी पट्टी पर तीन-चार समानान्तर पंक्तियों में समीप समीप गुँथे रहते थे।[107] दस्तबन्द में स्वर्णिम जंजीरें अथवा मोतियों की लड़े, कुछ अन्तर पर स्वर्णिम अथवा रत्नजटित पट्टियों द्वारा गढ़ी रहती थी।[108] जोशन, एक प्रकार का भुजबन्द था। गोखरू, ठोस कंगन होता था जिसके किनारे दातेदार होते थे।[109] कंगन, एक ठोस कंकण था जिसमें घुण्डियाँ ऊपर की ओर होती थी।[110] तोड़ा भी एक प्रकार का भुजबन्द होता था।[111]

(६) अंगुलियों के आभूषण —अगूठी, किसी भी अगुलि में पहने जाने वाली विविध प्रकार तथा आकार की मुद्रिकाएँ होती थी। यह प्राय स्वर्ण-निर्मित होती थी।[112] आरसी, एक मुद्रिका होती थी, जिसे अगूठे में पहना जाता था। इसमें नग के स्थान पर एक छोटा-सा गोल दर्पण लगा होता था।[113] छल्ला, नगयुक्त अथवा नगविहीन एक साधारण वलय होता था।[114]

(७) कटि के आभूषण —इन आभूषणों में करधनी[115] सर्वाधिक महत्वपूर्ण थी। इसमें अनेकानेक जंजीरें होती थी, जिनमें प्रत्येक एक दूसरे से कुछ बड़ी होती थी और जिन्हे धातु के पट्टे मे परस्पर सम्बद्ध किया जाता था।[116] इसके अन्य

---

१०७ 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ४, पृ० २४-२५, 'मसनवी सिहरुल बियाँ,' पृ० ५६, 'कुल्लियात ए-नज़ीर', पृ० १४५; 'काव्य सग्रह', पृ० १३८।

१०८ 'इण्डियन जुइलरि', पृ० १८१, 'मसनवी सिहरुल बियाँ, पृ० ५६।

१०९ 'इण्डियन जुइलरि', पृ० १८१; 'मसनवी सिहरुल बियाँ', पृ० २४।

११० 'इण्डियन जुइलरि पृ० १८१; 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ४, पृ० २४।

१११ 'मसनवी गुलज़ार-ए-इरम', पृ० १५६, कानून ए-इस्लाम', परिशिष्ट ४, पृ० २५; 'आब-ए-हयात', पृ० ३०२।

११२ 'कानून-ए इस्लाम', वही, पृ० २५-२६; 'दीवान-ए-मुसहफी', भाग ६, पृ० ११६ अ; 'दरिया-ए-लताफत', पृ० २४७; 'कुल्लियात-ए-नज़ीर', पृ० ६६, १०३; 'आब-ए-हयात', पृ० १८२।

११३ 'कानून-ए-इस्लाम', वही, २६; 'इण्डियन जुइलरि', पृ० १८२; 'मसनवी सिहरुल बियाँ' पृ० १२४; 'कुल्लियात-ए-नज़ीर', पृ० ७४, १३४, १३६, ६१४; 'आब-ए-हयात', पृ० ४६८।

११४ 'इण्डियन जुइलरि', पृ० १८१; 'कानून-ए-इस्लाम', वही, पृ० २६; 'दीवान ए-मुसहफी', भाग, ६, पृ० १२५ अ; 'कुल्लियात-ए-नज़ीर', पृ० २२, १०३।

११५ 'दीवान-ए-नासिख', पृ० ११८।

११६. इण्डियन जुइलरी', पृ० १८२।

प्रकार बधीकमर[११७] तथा हैकल-ए-कमर[११८] कहलाते थे।

(८) चरणों के आभूषण :—चरणों में धारण किए जाने वाले आभूषण थे—तोड़े, कड़े, छड़े, पाज़ेब, लच्छे, पायजुन, घुंघरू तथा पायल। तोड़े, ज़ंजीर सदृश आभूषण था।[११९] कड़े, चाँदी अथवा सोने के वलय होते थे जिन्हें बहुत ठोस बनाया जाता था, तथा जो भार में पाव सेर से कम न होते थे।[१२०] छड़े, टखनों के चतुर्दिक पहने जाने वाले आभूषण थे।[१२१] पाज़ेब में पड़ेड़े के गले में पड़ी रहने वाली ज़ंजीर के समान भारी-भारी चाँदी के छल्ले होते थे, जिनमें छोटे-छोटे घुंघरुओं की झालर होती थी और जो अंग की प्रत्येक गति पर झुनझुनाते थे।[१२२] लच्छे भी टखनों के आभूषण थे, जिनमें सैकड़ों छोटे-छोटे घुंघरू होते थे तथा जो चलने पर छम-छम बजा करते थे।[१२३] पायजुन, छोटे घुंघरुओं से युक्त आभूषण होता था, इसे बच्चों के पैरों में बाँधा जाता था।[१२४] घुंघरू नामक आभूषण में प्रत्येक टखने के लिए प्रायः छः स्वर्ण घुंघरू होते थे, वे एक रेशमी कपड़े की पट्टी पर टके होते थे।[१२५] पायल, सामान्य रूप से प्रयोग किया जाने वाला टखनों का एक अन्य आभूषण था जो अपनी मधुर रोमाचपूर्ण ध्वनि के कारण युवतियों को अत्यधिक प्रिय था।[१२६]

(९) पादांगुलियों के आभूषण :—आवट, छोटे घुंघरुओं से युक्त एक वलय होता था जिसे पैर के अंगूठे में पहना जाता था।[१२७] बिछवे, पादांगुलियों में पहने जाने वाले वलय थे, जो पैरों के दोनों ओर पाज़ेब से सम्बद्ध रहते थे।[१२८]

(द) नारी प्रसाधन

मुसलिम स्त्रियाँ अपने केशविन्यास के प्रति विशेषरूपेण सजग रहा करती थीं। केशों को धोने, सुखाने तथा उनमें सुगन्धित चमेली का तेल लगाने के पश्चात् बड़े यत्न से उन्हें मस्तक से लेकर पीछे की ओर काढ़कर, वेणी के रूप में गूँथ लिया जाता था। वेणी सामान्यतः कटि के नीचे तक लटकती थी। इसके सिरे रश्मि,

---

११७ 'कारनामा-ए इश्क़' (पाण्डुलिपि), पृ० ४४ ब।

११८ 'मसनवी सिहरुल बियां', पृ० १५६; 'कुल्लियात ए-नज़ीर' पृ० १०३, १०५।

११९ 'कानून-ए इस्लाम', वही, पृ० २७; 'मसनवी सिहरुल बियां', पृ० ८२; 'आब ए हयात', पृ० ३०२।

१२० 'कानून-ए इस्लाम', वही, पृ० २७; 'मसनवी सिहरुल बियां', पृ० ३१।

१२१ 'मसनवी सिहरुल बियां', पृ० ८२; कुल्लियात ए-नज़ीर', पृ० १०३।

१२२ 'कानून-ए-इस्लाम', वही, पृ० २७; 'दरिया-ए-लताफ़त', पृ० २४८; 'आयात-ए मुगद्दसी' (लखनऊ, १९५३), पृ० १०६।

१२३ 'मसनवी गुलज़ार-ए इरम', पृ० १५५।

१२४. 'कानून ए इस्लाम', वही पृ० २७।

१२५ 'मसनवी सिहरुल बियां; पृ० २४।

१२६ 'कानून-ए इस्लाम', वही, पृ० २७।

१२७ वही।

१२८ वही।

रेशमी व रुपहले फीतो से गूँथ लिए जाते थे तथा जिनकी समाप्ति सुन्दर आकार के गुलाबवत् गुच्छे म होती थी।[१२९] केशो को गूँथने की यह प्रक्रिया चोटी कहलाती थी।[१३०] केश विन्यास का अन्य रूप जूडा था। इसमे केशो को शीर्ष के पीछे स्थूल गाँठ के रूप मे बाँध लिया जाता था। केशो को मध्य मे विभक्त कर लिया जाता था तथा विभाजक-रेखा माँग कहलाती थी।[१३१]

सुरमा[१३२] तथा कालिमा से निर्मित काजल[१३३] नेत्रो के लिए प्रयुक्त होता था। सुरमा एन्टीमोनी नामक तत्व से निर्मित महीन चूर्ण होता था। नेत्र गोलक पर इसका प्रयोग सलाई की सहायता से पक्ष्मो की नत्र म लगाकर किया जाता था। इसका प्रयोग प्राय भद्र पुरुषो द्वारा भी किया जाता था। यह 'नेत्र ज्योति के लिए लाभप्रद एव व्यक्तित्व को निखारने के लिए प्रभावी समझा जाता था।'[१३४] नि सदेह इसके प्रयोग से नेत्रो की सुदीर्घता अधिक हो जाती थी।[१३५]

मिस्सी[१३६] का प्रचलन उच्च व निम्न वर्गीय नारियो म समान रूप से था। यह एक चूर्ण होता था जो पीत आमलक, माजूफल लोह रेत तथा लवग के सम्मिश्रण से बनता था।[१३७] प्रत्येक विवाहिता स्त्री मिस्सी का प्रयोग दन्तावली पर करती थी। स्त्रियो म प्रतिस्पर्धा बनी रहती थी कि किसकी मिस्सी अधिक भडकीला रग लाती है।[१३८] श्रीमती मीर हसन अली लिखती हैं—'सौदर्य के प्रति रुचि म कितना अन्तर है कि जहाँ एक ओर हम[१३९] मुक्तिया दन्त की सराहना करते है वहाँ दूसरी ओर हिन्दुस्तानी नारियाँ काले रग का प्रयोग करके प्रकृति को पराजित करती हैं।[१४०] मुसलिम स्त्रियाँ मिस्सी का प्रयोग न्यायोचित बताती थी क्योंकि पैगम्बर की पुत्री फातिमा उसका प्रयोग करती थी।[१४१]

---

१२९ 'आब्जर्वेशस' भाग-१ पृ० १०४।
१३० 'कुल्लियात ए-नजीर', पृ० ३।
१३१ 'आब्जर्वेशस', भाग १ पृ० १०४-५।
१३२ कुल्लियात ए आतिश', पृ० १६, ४७; 'कुल्लियात ए मीर', पृ० ८४६; 'कुल्लियात ए-नजीर' पृ० १२५, आब ए हयात', पृ० ३०५।
१३३ 'ऑब्जर्वेशस, भाग-१, पृ० १०२, 'कुल्लियात ए नजीर पृ० ८ १०३ १३६।
१३४ 'आब्जर्वेशस, भाग-२, पृ० ७२।
१३५ वही।
१३६ 'दरिया ए लताफत', पृ० ८६, १६५, 'कुल्लियात ए नजीर', पृ० ८, १०३, १२५; कुल्लियात ए-आतिश, पृ० ४७ 'दीवान ए नासिख भाग-१, पृ० १४, 'आब ए हयात पृ० ३११, ३२१।
१३७ विलियम कुक (सम्पादक) 'इस्लाम इन इण्डिया (ऑक्सफोर्ड, १९२१), पृ० ३०६।
१३८ ऑब्जर्वेशस', भाग-१, पृ० १०२।
१३९ श्रीमती मीर हसन अली एक अगरेज महिला थी।
१४०. 'ऑब्जर्वेशस', भाग-१ पृ० १०२।
१४१ 'इस्लाम इन इण्डिया, पृ० ३०६।

अपने हाथों व पैरों को भड़कीला लाल रंग प्रदान करने के लिए मुस्लिम नारियाँ मेंहदी बहुधा प्रयुक्त करती थीं।[१४२] यह उंगलियों के नाखूनों पर लाली उत्पन्न करने में 'नेलपालिश' का कार्य भी करती थी। ताम्बूल चर्वण उनके अधरों को लालिमा युक्त बनाता था तथा 'लिपस्टिक' का कार्य करता था।[१४३] गाजा का प्रयोग मुख पर आधुनिक 'पाउडर' के स्थान पर किया जाता था।[१४४]

---

१४२ 'औं नुर्वेशम', भाग-१, पृ० १०३, भाग-२ पृ० ७१, ७२; 'कुल्लियात ए मीर', पृ० ८४६; 'कुल्लियात-ए-नजीर', पृ० १५, ४५, ११७, ११६, १३६, 'रती हशा', पृ० २८; शरर, पृ० २७३।

१४३ 'कुल्लियात-ए-आतिश' पृ० ४७, 'दीवान-ए-नासिख', पृ० ५४।

१४४ 'कुल्लियात-ए-कासिम (पाण्डुलिपि) पृ० ३८६।

४

मुस्लिम आभिजात्य वर्ग एवं जन-साधारण का जीवन तथा प्रवृत्तियाँ (क्रमशः)

(अ) खाद्य तथा पेय पदार्थ :

मुसलमानो की अनेक रुचियो मे से एक थी–सुस्वादु भोजन-प्रियता। इस रुचि के लिए वे मुक्त हस्त से व्यय करने मे भी सकोच नही करते थे। वे प्रकृत्या अपव्ययी प्रवृत्ति के होते थे तथा दुर्दिनो के लिए धन बचाकर रखना पसन्द नही करते थे। वे 'खाओ, पीओ व मौज उड़ाओ' के सिद्धान्त का अक्षरश पालन करते थे। साधारणत एक मुसलमान अमीर आधा सेर पुलाव बनवाने मे बीस रुपये व्यय करता था।[1] लखनऊ के नवाब अपने बावर्चीखाने के रख-रखाव पर, पानी की तरह धन बहाया करते थे।[2] दूर-दूर से मेधावी बावर्ची वहाँ एकत्र होते थे तथा नवीन विधियो के आविष्कार से अपनी कला का प्रमाण प्रस्तुत करते थे।[3]

मुसलमानों के विशिष्ट भोजन पुलाव, खिचड़ी तथा कबाब थे .—

(१) पुलाव .—पुलाव के अनेकानेक प्रकार प्रचलित थे।[4] यख़नी अथवा खारा की सज्ञाएँ चावल व मांस के शोरबे को दी जाती थी, जिसे मिश्रित रूप में बन्द बर्तन में देर तक उबालकर पकाया जाता था।[5] क़ोरमा[6] साधारणतः पुलाव की

---

१. 'दरिया-ए-लताफ़त', पृ० १११।

२. शरर, पृ० २०२।

३. वही, पृ० २०४।

४. 'दरिया-ए-लताफ़त', पृ० २३८, २५१; 'कुल्लियात-ए-नज़ीर', पृ० ३६, 'आब-ए-हयात', पृ० ३४८।

५. साधारण प्रकार चावल, घी, दही तथा मसालों से बनता था, जैसे–जीरा, इलायची, लौंग, दालचीनी, धनिया, धनिये की पत्तियाँ, कालीमिर्च, हरी अदरक, प्याज़, लहसुन तथा नमक। (कानून-ए-इस्लाम परिशिष्ट ५, पृ० २८) जाफ़र शरीफ़ ने इस विषय का अधिक विस्तार से वर्णन किया है।

६. 'आब-ए-हयात' पृ० ३४८।

भाँति ही निर्मित होता था, अन्तर केवल इतना था कि इसमे माँस के टुकडे बहुत ही छोटे-छोटे काटकर डाले जाते थे। मीठा पुलाव, चावल, शक्कर, घी, मसालो तथा अदरक के स्थान पर सौंफ से बनाया जाता था। मुज़फ्फर शोला, चावल, केसर, दूध, गुलाब जल व शक्कर से बनता था तथा बहुत पतला व ठडा होता था। मुज़फ्फर पुलाव अथवा शहसरगा पूर्वोक्त की ही भाँति होता था, परन्तु उतना पनीला न होता था। तडी पुलाव, चावल, माँस, हल्दी व घी से निर्मित होता था। सोया पुलाव मे मधुरिका बीज और पडता था। मच्छी अथवा माही पुलाव मे माँस के स्थान पर मछली का प्रयोग किया जाता था। इमली पुलाव में अम्लिका का प्रयोग किया जाता था। दमपुख्त पुलाव मे जब पुलाव बनकर लगभग तैयार व वाष्पित हो जाता था तो उसमे घी मिला दिया जाता था। जरदा पुलाव मे केसर मिलाई जाती थी। कूकू पुलाव, तले हुए अण्डो से बनता था। दोगोश्ता, चावल, माँस, घी व अत्यधिक गर्म मसालो से बनता था। पुलाव-ए-मग्जियात, बादाम, पिस्ते अथवा अन्य मेवो से युक्त मीठा पुलाव होता था। बिरयानी, कोरमा पुलाव की भाँति बनती थी जिसमे मज्जा, अधिक मात्रा मे मसाले, नीबू, दूध व मलाई का प्रयोग होता था।[७] मुतजन पुलाव मे चावल, माँस, शक्कर, घी तथा कभी-कभी अनन्नास अथवा गिरी पडे होते थे। कश, हलीम, बूँट अथवा चने की दाल पुलाव, चना, गेहूँ, माँस तथा मसालो से बनाया जाता था। लवनी पुलाव, मलाई, गिरी, मिश्री, घी, चावल तथा मसालो-विशेषत सौंफ से बनता था। जामुन पुलाव, जामुन के फल से बनता था। तीतर पुलाव, यखनी की भाँति होता था, परन्तु इसमे तीतर का माँस मिलाया जाता था। बटेर पुलाव, बटेर के माँस से बनता था। कोफ्ता पुलाव, कुचले हुए माँस के गोलो को तेज मसाले मिलाकर बनाया जाता था।[८]

पुलावो के कतिपय अन्य प्रकारो मे गुलज़ार पुलाव, नूर पुलाव, मोती पुलाव, चम्बेली पुलाव,[९] अनारदाना पुलाव,[१०] तथा मौला पुलाव[११] आदि थे।

लखनऊ मे ग़ाज़ीउद्दीन हैदर (१८१४-२७) के समय नवाब हुसैन अली खाँ नामक रईस पुलाव के अत्यन्त शौकीन थे। पुलाव के विविध प्रकार उनके दस्तरख्वान पर परोसे जाते थे। रोचकता तथा स्वाद में वे असाधारण और अद्वितीय हुआ करते थे। यहाँ तक कि स्वय बादशाह को भी उनसे ईर्ष्या हो गई थी। पुलाव-प्रिय होने के कारण वह 'चावल वाले' उपनाम से प्रसिद्ध हो गए थे।[१२]

---

७. 'क़ानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ५, पृ० २६, ३०।
८. वही, पृ० ३०।
९. शरर, पृ० २०७।
१०. वही, पृ० २०८-६।
११. 'क़ानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ५, पृ० २६।
१२. शरर, पृ० २०७।

जिन्हे घी मे तल लिया जाता था। पूरी, घी मे तली हुई टिकिया होती थी। सौग चीरा अथवा बेसन की रोटी, चने के आटे की तली अथवा सादा टिकिया होती थी। मथी रोटी अथवा कीमाव, आटा, अण्डे की सफेदी व प्याज के मिश्रण को तलकर बनाई जाती थी।[२९]

अन्य प्रकारो मे थी—चलपक, जो घी अथवा तेल मे तली एक पतली टिकिया होती थी, चीला, जो दालो को पीसकर बनाई पतली टिकिया होती थी, खारा अथवा मीठा रोटी, अण्डो की रोटी, जिसमे अण्डे मिलाए जाते थे, गुलगुला,[३०] दहीबडा अथवा माशदही, सौंफ रोटी, रोगनदार, जिसम घी की प्रचुरता होती थी।[३१]

(५) कबाब .—कबाब,[३२] मांस को महीन महीन लम्बे टुकड़ो म काटकर, धूप मे सुखाकर दहकते हुए कोयलो पर भूनकर अथवा घी मे तलकर बनाया जाता था। कोफ्ता कबाब, मांस खण्डो मे इमली के अतिरिक्त समस्त गर्म व शीतल मसाले मिलाकर, लकडी के खरल मे कुचल कर, उसकी समतल टिकियाएँ बनाकर, घी मे तलकर बनाया जाता था। हुसैनी कबाब, नमक तथा नीबू के रस से युक्त मांस खण्डो को अग्नि पर सेंक कर बनाया जाता था। शामी कबाब, खण्डो मे विभक्त मांस मे लाल मिर्चें, इमली, हरा अदरक व नीबू के रस के अतिरिक्त समस्त चटपटे व शीतल मसाले डालकर उगली के बराबर मोटा बनाकर, घी मे तलकर बनाया जाता था। कलेजी का कबाव, कलेजी, हृदय व अतडियो को लघु खण्डो म काटकर, मांसशलाकाओ पर बांधकर तथा नमक लगाकर भूनकर बनाया जाता था। लट्टू कबाब, कटे हुए मांस खण्डो म समस्त गर्म व शीतल मसाले, सुरभित द्रव्य, हरा अदरक तथा नीबू का रस मिलाकर गोलियां बनाकर अग्नि पर सेंका जाता था। इन गोलियो को चारो ओर से डोरे के माध्यम से बांध दिया जाता था जिससे कि वे बिखर न जाएँ। सीख कबाब भी इसी प्रकार बनाया जाता था, परन्तु इसमे काली मिर्च अधिक होती थी। इसे मांसशलाका पर स्थिर कर लकडी के कोयला की तीव्र अग्नि पर भूना जाता था। पत्थर का कबाब, यात्रा म प्रयोग किया जाता था। इसम मांस खण्डो को पत्थर पर भूना जाता था, जिसे पहले ही उस पर अग्नि प्रज्वलित कर खूब गर्म कर लिया जाता था। मच्छी का कबाब, भुनी हुई मछली का होता था। कलिया,[३३] कितने ही मसाला से युक्त भूना हुआ मांस होता था जिसे प्राय. पुलाव के साथ खाया जाता था।[३४]

---

२९ "कानून-ए-इस्लाम", परिशिष्ट ५, पृ० ३३, ३४।

३० यह गेहूँ के आटे, शकर, दही, सौफ व इलायची को मिलाकर गोलियाँ बनाकर, घी मे तल कर बनाया जाता था ("कानून-ए-इस्लाम", परिशिष्ट ५, पृ० ३४)।

३१. 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ५, पृ० ३४।

३२ 'फसाना-ए-अजायब", पृ० ५, ६; "आब-ए-हयात", पृ० ३४८।

३३. "दरिया-ए-लताफ़त', पृ० १६, कुल्लियात-ए-नजीर", पृ० ३६।

३४. "कानून-ए-इस्लाम", परिशिष्ट ५, पृ० ३४-३५।

(६) सालन :—सालन अथवा कढ़ी के अनेकानेक प्रकार थे, यथा—क़ोरमा, दो प्याज़ा, नर्गिस, बादामी, शब्देग, सालना, कलेजा, मीठा गोश्त, भरती, क़ीमा, कपूरे आदि के सालन।[३५] इनके अतिरिक्त, प्रत्येक प्रकार की खाद्य-वनस्पतियाँ सालन बनाने में प्रयुक्त होती थीं।[३६]

उन दिनों एक आदर्श-भोज, कतिपय विशिष्ट पदार्थों के बिना अपूर्ण समझा जाता था, जैसे—पुलाव, मुज़फ़्फ़र, मुतंजन, शीरमाल, सफ़ेदा (मीठे चावल जिनमें ज़ाफ़रान का रंग न दिया गया हो), बूरानी के प्याले, शीर बिरिञ्ज, क़ोरमा, तली अरवियाँ गोश्त में, शामी कबाब, मुरब्बा, अचार या चटनी।[३७] ये समस्त पदार्थ प्रत्येक व्यक्ति को पृथक्-पृथक् प्लेटों में परोसे जाते थे। इन सब का समूह तोरह कहलाता था, जो रस्मी अवसरों पर लकड़ी के ख़्वानों में विन्यस्त कर मित्रों व सम्बन्धियों के यहाँ भेजा जाता था।[३८]

बहरहाल, साधारण व्यक्ति बहुमूल्य एवं स्वादिष्ट व्यंजन बनवाने की क्षमता नहीं रखते थे। उन्हें साधारण भोजन से ही सन्तुष्ट रहना पड़ता था :

हम ग़रीबों की दाल रोटी है
गाह पतली है गाह मोटी है[३९]

बंगाली मुसलमान मुख्यतः चावल पर निर्भर रहते थे। उनमें खिचड़ी अत्यधिक लोकप्रिय थी। उत्तरी भारत के लोगों का प्रमुख खाद्य गेहूँ था तथा कढ़ी के लिए वे दालों का प्रयोग करते थे। इस प्रकार, ग्रामीण समुदाय तथा निम्न वर्गों का सामान्य भोजन दाल रोटी ही था जो पर्याप्त समझा जाता था, क्योंकि इससे उच्चकोटि के भोजन के व्यय को वहन करने की वे क्षमता नहीं रखते थे।[४०]

(७) शीरीनी :—शीरीनी विभिन्न प्रकार की होती थी। शीरबिरिञ्ज अथवा खीर, जल में उबले हुए चावलों को पुनः दूध में उबाल कर शक्कर, मेवा तथा गिरी आदि मिलाकर बनाई जाती थी।[४१] मलाई, दूध को गाढ़ा उबाल कर निर्मित की जाती थी।[४२] हलवा, सूजी को घी में भूनकर, उसमें चाशनी व सुवासित द्रव्य मिला

---

३५. विस्तृत विवरण के लिए देखिए, वही, पृ० ३५-३७।
३६. वही, पृ० ३७-४०।
३७. शरर, पृ० २१८; "आब-ए-हयात", पृ० ३४८।
३८ शरर, पृ० २१८।
३९. "कुल्लियात-ए-सौदा", पृ० १६८।
४० "ऑब्ज़र्वेशन्स", भाग-१, पृ० १८५-८६।
४१ "क़ानून-ए-इस्लाम", परिशिष्ट ५, पृ० ४०; "कुल्लियात-ए-नज़ीर", पृ० ३६; शरर, पृ० २१८।
४२ दूध के ऊपर की वस्तु होने के कारण नवाब आसफ़ुद्दौला ने, जो इसके अत्यधिक शौकीन थे, इसका नाम बालाई रख दिया था (शरर, पृ० २२३); साथ ही देखिए, "ऑब्ज़र्वेशन्स", भाग-२, पृ० ६४-६५।

कर, अग्नि पर बनाया जाता था।[४३] फालूदा, हलवे की भांति निर्मित किया जाता था, अन्तर केवल इतना था कि इसमें सूजी दूध में उबाली जाती थी, तथा जब यह कुछ पतला ही होता था तो इसे तश्तरी में उडेल दिया जाता था। जैसे ही यह ठण्डा व कड़ा होता, वैसे ही वर्गाकार टुकड़ों में काट लिया जाता था।[४४] मीठी थूली भी हलवे के समान बनाई जाती थी, परन्तु इसमें दूध मिलाया जाता था तथा इसमें गाढ़ापन कम होता था।[४५] शर्बत, जल में शक्कर अथवा गुलाबजल में मिश्री मिला कर बनाया जाता था। यदि इसमें नीबू का रस मिला दिया जाता, तो वह आबशोरा कहलाता था।[४६] शीरा, शक्कर की चाशनी होता था, जिसमें कभी-कभी गेहूँ का आटा, दूध, घी, शुष्क गोल की गिरी मिला दिए जाते थे। यह राब के सदृश होता था तथा रोटी डुबा कर खाया जाता था।[४७] पनभत्ता, एक प्रकार का पेय था, जो चावल से बनता था।[४८] सिकंजबीन, सिरका व शहद का मिश्रण होती थी अथवा नीबू का रस या अन्य अम्ल का शक्कर व शहद में मिलाकर बनाई जाती थी।[४९] मलीदा, चूर्ण की हुई रोटी, घी, शक्कर, सौंफ व इलायची को भली-भांति मिश्रित करके बनाया जाता था।[५०] हरीरा, सूजी, शक्कर, दूध, जल सौंफ व इलायची के सम्मिश्रण को मिलाकर कम गाढ़ा बनाया जाता था।[५१] सगोरा बताने में गेहूँ का आटा, घी, शक्कर, खसखस, छुहारे तथा बादाम के मिश्रण का, उँगलियों के मध्य लघु आकार के खण्ड बनाकर, दूध में उबाला जाता था।[५२] सवई, सरोले की भांति दूध में उबाली हुई सिवैयाँ होती थी।[५३]

(८) मिठाई.—मिष्ठान्नों के प्रकार असंख्य थे, अधिकांश मूलरूप से भारतीय थे, तथा अन्य भारत में स्वयं मुसलमानों द्वारा प्रचलित किए गए थे, यथा—बरफी, बालूशाही, खुरमा, नुक्तिया, गुलाबजामुन, दरबहिश्त तथा जलेबी इत्यादि।[५४] अन्य प्रकार थे —लड्डू, दूध पेडा, खाजा, ईमरती, हलवासोहन, इन्दरसा, गजक, रेवड़ियाँ, मीठे सेव, शक्करपारे, सावोनी, पपड़ी, बताशा, इलायचीदाना तथा पट्टी इत्यादि।[५५]

---

४३ 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ५, पृ० ४०; 'कुलियात-ए-नजीर'', पृ० ४१७।
४४. कानून-ए-इस्लाम'', परिशिष्ट ५, पृ० ४०-४१।
४५ वही, पृ० ४२।
४६ वही, पृ० ४१।
४७ वही।
४८. वही।
४९ वही।
५०. वही।
५१. वही।
५२. वही, पृ० ४२।
५३. वही।
५४. शरर, पृ० २२१।
५५. 'कानून-ए-इस्लाम'', परिशिष्ट ५, पृ० ४३; 'दरिया-ए-लताफ़त''. पृ० २३८-२५४, ''फुसाना-ए-अजायब'', पृ० ५।

उत्तरी भारत के प्रमुख नगरों में मिष्ठान्नों की प्रसिद्ध दूकानें समर्थ लोगों की रसलोलुपता को तृप्त करने के साधन रूप में थी। जब मीर हसन देहलवी भ्रमणार्थ फैजाबाद गए तो उन्होंने वहाँ अनेक मिष्ठान्न विक्रेताओं की दूकानें पायीं :

वो पेड़े रौशन उद्दौला के हां के
यह कहते हैं पुकारे और हांके
मजा पड़ जाए बरफी का जिन्हों को
सदा चाटा करे अपने लबों को
न देखा हमने ऐसा हलवा सोहन
कि हो देखे के जिसके शीरीं तन।[५६]

इसी प्रकार, लखनऊ जलेबियों, इमरतियों व बालूशाहियों के लिए प्रसिद्ध था।[५७] उत्सवादि के अवसरों पर मिष्ठान्नों को विशेष रूप से महत्त्व प्रदान किया जाता था। निर्धन व्यक्ति भी औसतवित्त मन स्थिति से अपनी क्षमता से ऊपर व्यय कर दिया करता था। ऐसे ही एक औसतवित्त अवसर का वर्णन करते हुए नजीर अकबराबादी लिखते हैं :

मिठाइयों के भरे थाल सब इकट्ठे हैं
तो उनपे क्या ही खरीदारों के झपट्टे हैं
गुलाबी बरफियों के मुंह चमकते फिरते हैं
जलेबियों के भी पहिये ढुलकते फिरते हैं
हर एक दांत से पेड़े अटकते फिरते हैं
इमरती उछले हैं लड्डू लुढ़कते फिरते हैं
जो बालूशाही भी तकिये लगाए बैठे हैं
तो लोज खजले भी मसनद बिछाए बैठे हैं
इलाची दाने भी मोती लगाए बैठे हैं
तिल अपनी रेवड़ी ही में समाए बैठे हैं
मगद का मूंग के लड्डू से बन रहा सजोग
दुकां दुकां पै तमाशा ये देखते हैं लोग[५८]

(ब) मादक एवं उत्तेजक पदार्थ :

(१) अफीम :—अफीम,[५६] अहिफेन का जमाया हुआ रस होती थी। यह मुसलमानों तथा विशेष रूप से नगरवासियों द्वारा विविध प्रकार से प्रयोग की जाती थी। यह गोलियों के रूप में ली जाती थी, जिसके पश्चात् शक्कर या मिष्ठान्न ले लिया

५६. "मसनवियात-ए-मीर हसन", पृ० १५०-५१।
५७ शरर, पृ० २२०।
५८. "काव्य-संग्रह", पृ० १२५।
५६ "कुल्लियात-ए-सौदा", पृ० ३३२; "दीवान-ए-नासिख", भाग २, पृ० १७०; 'फसाना-ए-अजायब", पृ० ८, १६; "आब-ए-हयात", पृ० ३०३।

जाता था अथवा यह जल मे मिलाकर ली जाती थी ।[६०] यदि यह अशुद्ध होती तो छानकर या केसर मिलाकर प्रयोग की जाती थी । इसके निकृष्ट रूप चण्डू व मदक होते थे ।[६१] चण्डू का धूम्रपान एक विशेष प्रकार की नलिका अथवा नगाली से किया जाता था, परन्तु मदक साधारण चिलम द्वारा ही पी जाती थी ।[६२]

लखनऊ मे अफीम का सेवन अत्यधिक लोकप्रिय था । इसकी प्रवृत्ति इतनी बद्धमूल हो गई थी कि व्यसनी का इसके बिना जीवित रहना दुष्कर था

फ़ुरक़ते खाले स्याह मे मुर्दा मैं महज़ून हुआ
मौत अफ़्यूनी की आई जब कि बे अफ़्यून हुआ ।[६३]

कवि मीर वज़ीर अली सबा (१७९५–१८५४ ई०) तथा उनकी मित्र मण्डली के लोग अति अफीम-सेवी थे । वे इसके इतने अभ्यस्त थे कि "उनके मनोरंजनार्थ रात बीतने तक एक सेर अफीम समाप्त हो जाती थी ।"[६४]

(२) भाँग —भाँग एक मादक पेय था, जो विजया पौधे की पत्तियो से निर्मित किया जाता था ।[६५] यह विजया म काली मिर्च मिलाकर सिल पर बट्टे की सहायता से पीस कर, तैयार की जाती थी । इसको जल मिलाकर छानने के पश्चात् पिया जाता था ।[६६]

अत्यधिक सस्ता मादक द्रव्य होने के कारण यह समाज के निम्न वर्गीय व्यक्तियो मे अधिक प्रचलित थी । नज़ीर अपनी कविता 'आशिको की सब्ज़ी'[६७] मे अन्य समस्त मादक पदार्थों की अपेक्षा भाँग को वरीयता प्रदान करते हैं ।[६८] उन्होने इसकी प्रशसा मे अनेक रचनाएँ की हैं ।[६९] भाँग सबसे सस्ती होने के कारण प्रत्येक और सब की पहुँच मे थी, यहाँ तक कि एक फकीर भी इसे सुगमता से प्राप्त कर सकता था । अपनी कविता 'ईद-उल-फित्र'[७०] म नज़ीर मैखानो की भाति भँगखानो

---

६० यह प्रकार कसुम्भा कहलाता था तथा राजपूतो द्वारा सामायत प्रयुक्त होता था (टॉड, ॲनल्स एण्ड ॲन्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान, संस्करण १९२०, भाग १, पृ० ३४१, ५४१) ।

६१ चण्डू तथा मदक के विषय मे विस्तृत विवरण के लिए देखिए, "इस्लाम–इन–इण्डिया", पृ० ३२५ ।

६२. वही ।

६३ 'दीवान-ए-नासिख़', पृ० ५ ।

६४. सक्सेना, पृ० ११५ ।

६५. इसकी युक्ति के लिए देखिए, 'क़ानून-ए-इस्लाम', शब्दावली, पृ० ६२ ।

६६. 'इस्लाम इन इण्डिया', पृ० ३२६ ।

६७. 'कुल्लियात-ए-नज़ीर', पृ० ५८६-८८ ।

६८. वही, पृ० ५८७　　यह सुब्ज़ तो सब नशेबाज़ो में अब हैगा मचा
यानी सब्ज़ी का नशा अब सब नशो का है चचा

६९. वही, पृ० ५८३-८८ ।

७०. वही, पृ० ४१८-२० ।

की स्थापना का उल्लेख करते हैं, जहाँ लोग आराम से बैठ कर इसका आनन्द ले सकते थे .

बैठे हैं फूल फूल के मैखानों में कलाल
और भँगखानों मे भी हैं सरसब्जियाँ कमाल
छनती है भँगें उड़ते हैं चरसों के दम निढाल।[७१]

यह मादक द्रव्य इतना अधिक लोकप्रिय था कि इसे विविध नाम प्रदान किए गए थे, यथा–सिद्धि, सब्जी, ठण्डाई, विजया अथवा विजया तथा बूटी आदि।[७२] बहरहाल, इसका प्रचलन मुसलमानो की अपेक्षा, जो स्पष्टत मदिरा को वरीयता प्रदान करते थे, हिन्दुओ मे अधिक था।

(३) चरस —चरस[७३] एक अल्प मूल्य वाला अन्य मादक द्रव्य था। यह भाँग के पुष्पो का नि स्रावण होता था, जिन्हे ओस सहित एकत्र कर लिया जाता था। इसका उपयोग मादक औषधि के रूप मे किया जाता था।[७४] समाज के निम्न-स्तरीय व्यक्तियो मे यह सामान्य रूप से प्रचलित था।

(४) गाँजा —गाँजा का स्थान भी सस्ते प्रकार के मादक द्रव्यो मे था, जिसके कारण इसका प्रयोग भी साधारणत निर्धनो मे प्रचलित था।[७५] यह विजया की पत्तियो अथवा ताजा कोपलो को दोनों हथेलियो के मध्य तीव्र गति से रगड कर बनाया जाता था। तम्बाकू मे मिश्रित कर तथा कभी कभी वैसे ही इसका धूम्रपान किया जाता था।[७६]

(५) माजून —माजून,[७७] एक अवलेह होता था, जिसका प्रयोग मुसलमानो विशेषत अधिक कामुक लोगो के द्वारा, कामोद्दीपक और मादक द्रव्य के रूप मे, तथा पीडा-दमन के लिए किया जाता था।[७८] इसकी अतिमात्रा प्राय अस्थायी मानसिक असन्तुलन उत्पन्न करती थी।[७९] लौकिक विश्वास के अनुसार मादकता के अतिरिक्त यह शक्ति (कुव्वत) प्रदान करती थी तथा यह कामोत्तेजन के लिए प्रयुक्त होती थी।[८०] इसके बनाने मे इन वस्तुओ का प्रयोग किया जाता था—गाँजा अथवा विजया

---

७१. वही, पृ० ४१६।
७२. 'इस्लाम इन इण्डिया', पृ० ३२६, 'कुल्लियात-ए-नजीर' पृ० ५८३-८४।
७३ 'कुल्लियात-ए-नजीर' पृ० ४१६, ५८६।
७४. विस्तृत विवरण के लिए देखिए, 'कानून-ए इस्लाम', शब्दावली, पृ० ६५।
७५ 'कुल्लियात-ए-नजीर', पृ० ५८६।
७६. 'कानून-ए इस्लाम', शब्दावली, पृ० ७४-७५।
७७ 'कुल्लियात ए-नजीर', पृ० ५८६।
७८ 'कानून ए-इस्लाम', शब्दावली, पृ० ८३।
७९ वही।
८० 'इस्लाम इन इण्डिया', पृ० ३२७।

की पत्तियाँ, दूध, घी, खसखस, धतूरे के पुष्प, कुचला का चूर्ण तथा शक्कर।[८१] लोग कदाचित् ही माजून के व्यसनी होते थे। इसका प्रयोग प्राय अय्याशों द्वारा कामोत्तेजन तथा उद्दीपन हेतु किया जाता था।[८२]

(६) **मदिरा** —मदिरापान के विरुद्ध धर्म की कठोर निषेधाज्ञा[८३] होते हुए भी मुसलमान लोग इस दुर्गुण के विशेष व्यसनी थे। यह व्यसन उन्हें परम्परा से प्राप्त हुआ प्रतीत होता है। एक आमोद प्रमोद सम्बन्धी भोज जितना रोचक मनोरंजन स्थल होता था उतना ही मिलन का मिलन स्थान भी होता था तथा इसका एक सामाजिक महत्त्व था। साधारण व्यक्ति कुलीनों का अनुकरण करते थे, तथा प्राय सभी अवस्थाओं मे यह कुलीनों का व्यक्तिगत व्यसन बन गया था। इसमें सन्देह नहीं कि मदिरा लोगों को एक मधुर विस्मृति प्रदान करती थी तथा जीवन की उन यथार्थ कठोर वास्तविकताओं से समय विशेष के लिए पलायन का मार्ग सुलभ करती थी, जो उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे अत्यधिक प्रखर हो गई थीं।

कवि आतिश केवल दो ही वस्तुओं की तमन्ना रखते थे—एक 'नान' तथा एक प्याला शराब

दो न्यामतें यह मेरी हैं मै हू फकीर मस्त
एक नान खुश्क एक प्याला शराब का।[८४]

नासिख लिखते हैं कि लखनऊ के बादशाह का तो कहना ही क्या वहाँ के फकीर भी मदिरापान करते थे

बादशाह ए-लखनऊ की हो बयान किससे शिकवा
हाथ मे रखते हैं जाम गदा ए लखनऊ।[८५]

स्वयं उनकी दिनचर्या मे नमाज के पश्चात् मदिरा सेवन का ही स्थान था:

वाइजा मस्जिद से अब जाते हैं मैखाने को हम
फेर कर जर्फ ए वजू लेते हैं पैमाने को हम।[८६]

जान साहब अपने व्यक्तिगत मदिरा-व्यसन का नि सकोच उल्लेख करते हैं

अब जान बे पीए नही आता है दिल को चैन
वे डौल पड गया मुझे चसका शराब का।[८७]

---

८१ 'कानून ए इस्लाम', शब्दावली, पृ० ८३, विस्तृत विवरण के लिए देखें, वही, पृ० ८२-४।

८२ ई०टी० एटकिन्सन, 'द हिमालयान डिस्ट्रिक्ट ऑफ द नार्थ वेस्ट प्रॉविन्सेज ऑफ इण्डिया', (इलाहाबाद १८८२) भाग-१, पृ० ७६५।

८३ अब्दुल्ला यूसुफ अली, 'द होली 'कुरान', भाग-१, सूरा ४, ६३ पृ० २३० ३१।

८४ 'कुल्लियात ए आतिश', पृ० ३८।

८५. 'दीवान ए-नासिख' भाग-२, पृ० ११७, वह इस दुर्गुण का उल्लेख बार-बार करते हैं, देखिए वही, पृ० १३, २०, ७३, ८८, १७०, भाग-१, पृ० ३१, ४२, ५६ ८५, ८६, १०५।

८६. वही, पृ० ८०।

८७ 'दीवान-ए जान साहब', पृ० ५।

गालिब भी मदिरा के अति-अनुरागी थे तथा विदेशी मदिरा को वरीयता प्रदान करते थे, जिसे वह अपनी क्षमता से अधिक व्यय करके प्राप्त करते थे।[८८] वे गुलाब जल में सम्मिश्रण करके[८९] इसका अपने ही ढंग से सेवन करते थे।[९०] वे मदिरा के इतने अधिक व्यसनी थे कि इसको नमाज से अधिक वरीयता प्रदान करते थे। उनके कथनानुसार 'जिसको शराब मैस्सर है उसको और क्या चाहिए जिसके लिए दुआ मांगे ?"[९१] यह केवल उनका व्यक्तिगत विचार ही न था वरन् यह उनकी ही गम्भीरता से तत्कालीन सामान्य प्रवृत्ति को प्रतिबिम्बित करता है।[९२]

(७) हुक्का :—हुक्का, एक प्रिय मनोरंजन तथा स्वस्थ उत्तेजक था। यह धनी तथा निर्धनों में समान रूप से लोकप्रिय था। प्रत्येक के पास अपने साधनों के अनुरूप रंग-ढंग का अलङ्कृत हुक्का होता था। हुक्का विश्रामदायक, उत्तेजनाप्रद तथा समय व्यतीत करने का उत्तम साधन था। इसका आनन्द व्यक्तिगत रूप से तो लिया ही जाता था, प्राय: जलसों में भी लिया जाता था, जहां इसका विशेष आयोजन होता था।[९३] यह इतना अधिक लोकप्रिय था कि इसके विविध प्रकार विकसित हो गए थे। नासिख हुक्कों के अतिशय अनुरागी थे, उनके यहां कुलियाँ, गुड़गुड़ियाँ, सटक, पेचवाँ, चौगानी, मदरिये आदि[९४] विविध प्रकार के हुक्कों से एक कोठरी भरी रहती थी तथा जलसों में वे प्रत्येक को अपनी-अपनी पसन्द का हुक्का पेश करते थे।[९५] प्राय सभी साहित्यकार हुक्का पीने के शौकीन थे। गालिब का हुक्का हरदम ताजा रहता था, जिससे वे इच्छानुसार चाहे जब, दो-चार कश ले आनन्द-लाभ कर लिया करते थे।[९६] नजीर ने फारसी भाषा में हुक्के की प्रशंसा में यह रचना की थी :

हुक्का आमद व बज्मे अहले जमाल
ताकुन्द तबए दिल वरां खुश हाल
नेचा सरपोश हम चिलम खूब अस्त
व अन्दरीं जुमता खूब तर मुँहनाल
दूर अज तावे बिल्लौर व नजदीकश
मीं शवद अज़ बिल्लौर लाल मिसाल

---

८८. 'उर्दू-ए मुअल्ला', पृ० ३१५-१६।
८९. 'यादगार-ए-गालिब', पृ० ६४।
९० लखनपान, पृ० ३५।
९१. 'यादगार-ए-गालिब', पृ० ६२।
९२. सय्यद अबुल हसन अली नदवी, "सीरत-ए सय्यद अहमद शहीद", 'उर्दू अदब', जून १९५७, पृ० ६।
९३. आगे देखिए, पृ० ७२।
९४. 'आब-ए-हयात', पृ० ३२०।
९५. वही।
९६ लखनपान, पृ० ३४।

यानी बज़्म खुमरत चैन याकूत
गाह आँ हाल गाह ईं अहवाल
गर शुनीदे कि हुक्का मी आयद
मी नमूदे नज़ीर-ए-इस्तक़बाल।[६७]

(हुक्का सुन्दर व्यक्तियों की गोष्ठी मे आया जिससे इसके द्वारा चित्त को प्रसन्नता प्राप्त हुई। नेचे के कपड़ो का रंग और चिलम का रंग अत्यन्त मनोहारी है और इन सबमे मुंह की नाल बहुत सुन्दर है। सुन्दर अधरो से दूर चिलम है और उसके पास लाल अगार है। कभी हुक्का लाल लाल दिखाई देता है और कभी (पीते समय) राख चढने से उस पर आलस्य-सा आ जाता है। यदि कभी चलते समय हुक्के के आने का सन्देश मिला तो उसका स्वागत करने को नज़ीर रुक गए।)

लखनऊ नज़ाकत के लिए प्रसिद्ध था। जब हुक्का दिल्ली से लखनऊ पहुँचा, तो उसकी आकृति, रूपरेखा व अलंकरण मे प्रचुर परिष्कार हो गया।[६८] यहाँ तक कि उसके कशो को आनन्ददायक, सुगन्धित तथा सुगात्मक बनाने के लिए उसमे प्रयुक्त होने वाले तम्बाकू मे भी परिमार्जन किया गया। आभिजात्य-समाज की शालीन रुचि तक इसका स्तर उठा दिया गया। कलात्मक प्रतिभा के लिए हुक्के ने एक नवीन क्षेत्र प्रदान किया। इसकी ऊँचाई बढ़ाकर तीन फुट करदी गई। रग-बिरगी मीनाकारी तथा सुन्दर पत्तियो से युक्त, सुनहरी अथवा रुपहली रेखांकित नाल के साथ इसने भव्य, दर्शनीय और अपरिमित अलंकरण का मार्ग प्रस्तुत किया। अब्दुल हलीम शरर के शब्दो मे

"गरज यहाँ की सोसाइटी ने हुक्के को सवार के और आरास्ता करके दुल्हन बना दिया।"[६९]

हुक्के की लोकप्रियता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि अंग्रेजों तक ने अपने घरो मे हुक्का रखना प्रारम्भ कर दिया था तथा उसकी देखभाल के लिए स्थाई रूप से हुक्का-बरदारो को नियुक्त करते थे। भोजन के पश्चात् यह व्यावहारिक रूप से पेश किया जाता था। इसके प्रति सामान्य रुचि और आकर्षण का कारण, इसका स्वच्छ, निर्दोष, हानिरहित तथा प्रयोग मे गौरवानुभव का होना था।

(स) दुर्व्यसन ·

(१) वेश्यावृत्ति —वेश्यावृत्ति किसी न किसी रूप मे सदैव ही वैभव-विलासपूर्ण राजमहलो के जीवन का एक महत्वपूर्ण अग रही है। भारत के इतिहास मे अत्यन्त प्राचीन काल से ही इसके विविध रूप देखे जा सकते हैं। परन्तु तुर्क-मगोलो का वेश्यावृत्ति के प्रति रुझान सम्भवत कुछ असामान्य ही था। यद्यपि मुसलमानों

---

६७ 'कुल्लियात ए-नज़ीर', पृ० ६३०।
६८. शरर, पृ० ३२६।
६९. वही, पृ० ३२७।

को एक ही समय मे चार पत्नियाँ तक रखने तथा अपनी सामर्थ्यानुकूल चाहे जितनी उप पत्नियाँ रखने की अनुमति प्राप्त थी,[१००] तथापि नृत्य गान की महफिलो के माध्यम से, वे अपने मन मे छिपी अतृप्त वासनाओ की पूर्ति करते थे। प्रत्यक्ष रूप से इन महफिलो का आयोजन साधारणत मनोरजन के लिए किया जाता था, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से ये उनके कामुक आचरण का द्योतक भी थी, जिनसे उनकी कामुक-प्रवृति का परिचय स्पष्ट ही प्राप्त हो जाता है। शनै-शनै महफिलो का आयोजन सामाजिक आयोजनो मे ही गिना जाने लगा। कालातर मे, सभ्य समाज मे शिष्टाचार-वश इन निद्य महफिलो का आयोजन आवश्यक एव महत्वपूर्ण हो गया, ये तत्कालीन सभ्य व कुलीन समाज का एक अपरिहार्य अग बन गई।

उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे वेश्यावृत्ति अत्यन्त लोकप्रिय थी, किन्तु कुख्यात रूप से। तत्कालीन कवियो ने अपने-अपने काव्यो मे इन प्रसगो को लेकर तत्कालीन प्रवृत्तियो को तो स्पष्टत सम्मुख रखा ही है, साहित्य मे भी रोचकता और माधुर्य की सृष्टि कर उसे महत्त्वपूर्ण योग दिया है। नसीरुद्दीन हैदर गणिकाओ का एक विशाल अनुचरवर्ग रखते थे[१०१] तथा कुलीनवर्ग के लोग उनकी रुचि का अनुसरण करते थे। दूसरी ओर कवि नज़ीर मुसलमान जनसाधारण म इसके प्रचलन का उल्लेख ऐसे करते हैं —

जो रण्डीबाज हैं वो बहुत दिल मे शाद हो
क्या क्या अनार छोडे हैं बशनो हो रूबरू।[१०२]

उन्होने 'मोती' नामक अपनी प्रिय वेश्या पर एक कविता की रचना की थी।[१०३] अपनी एक अन्य रचना 'कोठा' मे उन्होने वेश्यावृत्ति का विशद वर्णन किया है —

रहे जो शब को हम उस गुल के सात कोठे पर
तो क्या बहार से गुजरी है रात कोठे पर
खुदा के वास्ते जीने की राह बतलाओ
हमे भी कहनी है कुछ तुमसे बात कोठे पर।[१०४]

गालिब को भी वेश्याओ से राग-रुचि थी, वे युवावस्था मे उनके ससर्ग का

---

१०० मध्यकालीन भारत के मुसलमान शाहजादो में मुहम्मद बिन तुगलक (१३२५-५१) तथा जहाँगीर के पुत्र खुसरो (१५८७-१६२२) ही केवल अपवाद थे, जो एक पत्नीव्रत थे। वे अन्त तक अपनी पत्नियो के प्रति निष्ठावान रहे, जो उस युग की मनोवृत्ति तथा विधि व्यवस्था के प्रतिकूल था।

१०१ 'फसाना-ए अजायब', पृ० ११।

१०२ 'कुल्लियात-ए-नज़ीर', पृ० ४१७।

१०३. वही, पृ० ६९३-९४।

१०४ वही, पृ० ८३।

आनन्द-लाभ उठाते रहे।[१०५]

वेश्यावृत्ति रामपुर में अत्यधिक लोकप्रिय थी; यहाँ तक कि जैसाकि अब्दुल हलीम शरर उल्लेख करते हैं, वहाँ की जनसख्या का प्रत्येक वर्ग इस दुराचार मे निर्बाधरूप से लिप्त रहता था। सूर्यास्त होते ही व्यसनियो का बाजार मे जमघट आरम्भ हो जाया करता था, जहाँ वेश्याएँ अपने पूर्ण प्रसाधनो से अलकृत अभ्यागतो की प्रतीक्षा करती रहती थीं।[१०६]

लखनऊ मे तो यह दुराचार प्राय एक फैशन ही बन गया था। शरर के शब्दों में :

"लखनऊ मे शुजाउद्दौला के जमाने मे रण्डियो से ताल्लुकात पैदा करने की जो बुनियाद पडी तो रोज-बरोज उसे तरक्की ही होती गई। अमीरो की वजे मे दाखिल हो गया कि अपना शौक पूरा करने या अपनी शान दिखाने के लिए किसी न किसी बाजारी हुस्न फरोश मे जरूर ताल्लुक रखते। हकीम महदी का सा काबिल और होशियार और मुहज्जिब व शायस्ता शख्स जो वजीर-ए-आजम के रुतबे तक पहुँच गया था, उसकी तरक्की की बुनियाद प्याजो नामक एक रण्डी से पडी जिसने घडवट (घरावट) की रकम अपने पास से अदा करके उसे एक सूबे की निजामत का ओहदा दिलवाया था। इन के ऐतदालियो का एक अदना करिश्मा यह था कि लखनऊ मे मशहूर था कि 'जबतक इन्सान को रण्डियो की सोहबत न नसीब हो आदमी नही बनता'। आखिर लोगो की अखलाकी हालत बिगड गई और हमारे जमाने तक लखनऊ में बाज ऐसी रण्डियाँ मौजूद थी जिनके घर मे ऐलानियाँ और बेबाकी मे घुसा जाना और उनकी सोहबत मे रहना मयूब न समझा जाता। बहर तकदीर इस चीज ने एक बडी हद तक उनके आदात-ओ-खसाइल बिगाड दिए। गोकि इसके नतीजे मे उन्हें निशस्त ओ बरखास्त का सलीका भी आ गया।"[१०७]

उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट ज्ञात होता है कि शनैः-शनैः वेश्याओ को तत्कालीन समाज मे एक महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हो गया था, परिणामत वेश्यावृत्ति समाज का एक अभिनन्दनीय अग बन गई। किन्तु समाज के प्रबुद्ध वर्ग का आदर पाने के लिए उसे शिष्टाचार की शिक्षा प्राप्त करने का साधन बनना पडा। मात्र आत्मरजन के लिए वेश्यावृत्ति को सम्मानित रूप देना सभ्य समाज के साहस से परे की बात थी। आत्मरजन की अपेक्षा शिष्टाचार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समझा

---

१०५ लखनपाल, पृ० २३-२४, मिर्जा मुहम्मद बशीर, 'सरगुजश्त ए गालिब', (आगरा १९४२), पृ० ७, समकालीन उर्दू शायरी में वेश्यावृत्ति के असंख्य उल्लेख प्राप्त होते हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश (उदाहरणार्थ जान साहब द्वारा रचित, 'दीवान ए जान साहब', पृ० ८५, ११२, १४२) अश्लील होने के कारण यहाँ उद्धृत करने योग्य नहीं हैं।

१०६. 'दरबार ए-हुर्रामपुर' (कानपुर), पृ० १३-१४।

१०७. 'गुजिश्ता लखनऊ', पृ० २७५-७६।

जाता था। इसी कारण, कतिपय महानुभाव तो अपने पुत्रों को वेश्याओं के पास काम-तुष्टि *अथवा मनोरंजनार्थ नहीं*, अपितु सद्व्यवहार व सामाजिक शिष्टाचार अर्जित करने हेतु भेजते थे।[१०८] निःसंदेह वेश्याओं का व्यवहार इतना परिष्कृत व सुसंस्कृत होता था कि जनसाधारण उससे अत्यन्त प्रभावित हो उठता था, परन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि दुराचार के इस पक्ष का प्रयोग, वेश्याओं तथा उनके आभिजात्य अभ्यागतों के लिए एक सामाजिक आधार की अपेक्षा, एक सुरक्षा-कपाट के रूप में अधिक किया जाता था, जिससे कि इस व्यवसाय को न्यायसंगत सिद्ध किया जा सके।

दिल्ली की नृत्यबालाएँ एक विशिष्ट प्रतिष्ठा का उपभोग करती थीं तथा वृद्धजन भी उनके ठिकानों पर जाने में संकोच का अनुभव नहीं करते थे। जैसा कि एक समालोचक ने लक्ष्य किया है कि यदि मोहसिन ने अपने शहर-आशोब में वेश्याओं के जीवन का चित्रण न किया होता तो दिल्ली का चित्र अपूर्ण ही रह गया होता।[१०९] वेश्याएँ धार्मिक सभाओं में भी सम्मिलित हुआ करती थीं।[११०] इन्शा अल्ला खाँ ने भी इस दुराचार की लोकप्रियता का प्रचुर उल्लेख किया है।[१११]

(२) समलिंग मैथुन —भारत में अप्राकृतिक समलिंग मैथुन के यौनभाव-अनर्थ का सूत्रपात मुसलमानों द्वारा हुआ था तथा यह मुगल काल से पूर्व एवं मुगल-काल में प्रचलित था।[११२] मुगलों के पतन तथा अराजकतापूर्ण स्थिति के प्रादुर्भाव के साथ ही विलासी समाज की संयमित वासनाएँ खुलकर समक्ष आ गई। अठारहवीं शताब्दी में किसी नैतिक, धार्मिक अथवा प्रशासकीय प्रतिबन्ध के अभाव में यह दुराचार एक फैशन बन गया था। सुलभ मनोरंजन के अन्तर्गत आने के कारण यह जनसाधारण में भी सामान्य बन गया था।

तत्कालीन उर्दू शायरी, तत्कालीन सामाजिक-निम्न-स्तर का समुचित रूप से यथार्थ चित्रण करने में पूर्णतः सक्षम एवं सफल है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कवि तार्बा की जीवनी इसका ज्वलन्त उदाहरण है। वे अत्यन्त सुन्दर थे, तथा मज़हर, मीर व सौदा जैसे विख्यात कवियों के अतिरिक्त स्वयं बादशाह भी उनसे प्रेम करते थे। *एक बार बादशाह जुलूस में उन्हें भली प्रकार एक नजर देखने के उद्देश्य मात्र में* उनकी अविख्यात बस्ती में गए थे।[११३] तार्बा भी, अपनी बारी में, सुलेमान नामक एक लड़के से दिलोजान से प्रेम करते थे।[११४]

---

१०८ सय्यद अब्दुल हसन अली नदवी, पृ० ६।

१०९ सय्यद अब्दुल्ला, 'वहम-ओ-नजर' (लाहौर, १९५२), पृ० १०६।

११० सय्यद अब्दुल हसन अली नदवी पृ० ६।

१११. 'दरिया-ए-लताफ्त', पृ० ३०, ६१, ६८, ६६, १६७ २८१, २६३, २६६, ३१०, ३११, ३१२।

११२. इस दुर्व्यसन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के लिए, देखिए परिशिष्ट—'अ'।

११३ 'आब-ए-हयात', पृ० १३६।

११४ मिर्ज़ा अली लुत्फ पृ० ८२।

मीर तकी मीर भी, जिनकी गणना इस युग के महानतम कवियों में की जाती है, इस रुग्ण दुराचार से ग्रसित थे। वे एक अत्तार के लड़के पर आसक्त हो गए थे जिसका उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है :

कैफ़ियतें अत्तार के लौंडे में बहुत हैं
इस नुस्ख़ा की कोई न रही हमको दवा याद।[११५]

तथा पुन

मीर क्या सादे हैं बीमार हुए जिसके सबब
उसी अत्तार के लड़के से दवा लेते हैं।[११६]

यह तथ्य, कि वे इस सीमा तक जा सकते थे, भ्रष्ट समाज के लोगों की निकृष्ट रुचियों को ही स्पष्ट करता है।

समाज का नैतिक पतन केवल दिल्ली तक ही सीमित न था अपितु फैज़ाबाद व लखनऊ इससे कहीं अधिक बड़े तथा सक्रिय केन्द्र थे। लखनऊ स्थानान्तरित होने से पूर्व फैज़ाबाद अवध प्रान्त की राजधानी था। मीर हसन देहलवी ने फैज़ाबाद के बाजारों का विशद वर्णन किया है जिन्हें उन्होंने स्वयं देखा था। वे लिखते हैं

कहीं बन ठन के लौंडे ही खड़े हैं
उन्हों के गिर्द आशिक़ जा अड़े हैं।[११७]

लड़कों का सज सवर कर बाजारों में खड़े होने का निर्बाध उल्लेख इस तथ्य का द्योतक है कि यह दुर्व्यसन समाज में एक प्रथा का रूप धारण कर चुका था। मीर हसन लखनऊ में इस दुराचार के सामान्य प्रचलन का उल्लेख और अधिक वाक्पटुता से करते हैं।[११८]

१६वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में राजनैतिक व सामाजिक परिस्थितियाँ और अधिक बिगड़ती गईं तथा नैतिकता का पतन होता गया। प्रतीत होता है कि इस युग में समलिंग मैथुन का अप्राकृतिक दुराचार अपनी लोकप्रियता की पराकाष्ठा पर था।

---

११५. 'आब-ए हयात', पृ० २२१।

११६ वही, पृ० २२२, कवि की इसी प्रकार की अन्य रचनाओं के लिए देखिए, 'कुल्लियात-ए मीर', सम्पादक इबादत बरेलवी (कराची १९५८), पृ० १६० ५७३, अठारहवीं शताब्दी में दिल्ली के समलिंग सम्बन्धित व्यक्तियों के जीवन के लिए देखिए, 'मुरक्का-ए-देहली', (दरगाह कुली खाँ, ताज प्रेस, हैदराबाद, दक्षिण), पृ० ५२, यह दुराचार आवला में (काज़ी मुर्तज़ा हुसैन, 'हदीक़तुल आक़ालीम' (१७८१) न० कि० प्रेस, लखनऊ १८७६) तथा मुर्शिदाबाद में (ग़ुलाम हुसैन खाँ तबतबाई, 'सियारुलमुताखिरीन, भाग–३, पृ० ८०१) सामान्य रूप से प्रचलित था।

११७ 'मसनवियात ए मीर हसन', पृ० १५१।

११८ वही, पृ० १४४, 'कुल्लियात-ए हिदायत' (पाण्डुलिपि, अंजुमन तरक्की ए-उर्दू, अलीगढ़) पृ० २७६, सय्यद ग़ुलाम अली नक़वी, 'इमदुस्सआदत' (पाण्डुलिपि, मौलाना आज़ाद लाइब्रेरी, अलीगढ़, फ़ेहरिस्त उर्दू फारसी न० २) पृ० २१४, लेखक ने अपनी रचना १८०७ ई० में सम्पूर्ण की थी।

इश्कबाज[११६] के द्वारा किसी लड़के को सफलतापूर्वक फँसा लेना एक हुनर समझा जाता था जो उसकी मित्र मण्डली में विशेष रूप से सराहनीय व चर्चा का विषय होता था। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए लड़कों के 'शिकारी' विविध युक्तियाँ प्रयोग में लाते थे। जन कवि नज़ीर अकबराबादी इस बात का उल्लेख निम्नलिखित पंक्तियों में निःसंकोच करते हैं :

> सैरादी होकर हमने लट्टू चकई बनाए।
> इसमें भी कितने लड़के सैराद पर चढ़ाए।[१२०]

वे एक पग और आगे बढ़ जाते हैं, जब उद्देश्य प्राप्ति के लिए लट्टू व चकई के स्थान पर पशु-पक्षियों के प्रयोग को वरीयता प्रदान करते हैं। वे अपनी 'बया' शीर्षक कविता[१२१] में विस्तार से वर्णन करते हैं कि एक शोख व चपल लड़के को फँसाने के उद्देश्य से वे किस प्रकार एक सुन्दर बया को अपने साथ ले जाते हैं जिसे दिखाकर वे उस लड़के को आकृष्ट कर लेते हैं तथा उससे भी अद्भुत वस्तु—कौड़ियों का झाड़, दिखाने के बहाने उसे एकान्त स्थान पर ले जाकर अन्त में उसके साथ कुकृत्य करने में सफल होते हैं —

> बोसे भी खूब ले लिए मतलब भी कर लिया
> और यूं कहा कि जान न तुम मानना बुरा
> मेरी खता नहीं यह गुनहगार है बया।[१२२]

अन्य स्थल पर वे एक रोचक घटना का वर्णन करते हैं, जिसमें किसी कुलीन व्यक्ति ने उत्सुकतावश इस फन के उस्ताद से मिलने की इच्छा व्यक्त की। भाग्यवश अथवा दुर्भाग्यवश, इसके लिए स्वयं कवि को ही चुना गया। उन्होंने एक गिलहरी के बच्चे को अपने साथ लिया, तथा उसे दिखाकर उसी कुलीन व्यक्ति के पुत्र को आकृष्ट करने में सफलता प्राप्त की, परिणामस्वरूप उस व्यक्ति ने क्रोधित होकर उनको वहाँ से बाहर निकाल दिया।[१२३]

यह अनैतिक आचरण साधारणतः सभी लोगों में एवं विशेषतः मुसलमानों में व्याप्त था तथा तीव्र गति से प्रचलित हो रहा था। यह तथ्य इसी कवि द्वारा रचित 'शहर-ए-अशोब' नामक कविता के निम्नांकित पद्य से प्रकट होता है :

> फिरते हैं इश्क़बाज़ जो लड़कों की घात में
> टोंटा ही लेके देते हैं लड़कों के हाथ में।[१२४]

---

११६. 'कुल्लियात-ए-नज़ीर', पृ० ४७५।
१२०. नियाज़ फतेहपुरी, पृ० ६।
१२१. 'कुल्लियात-ए-नज़ीर', पृ० ४८०–८२।
१२२. वही, पृ० ४८१–८२।
१२३. वही, पृ० ४७५–७६।
१२४. वही, पृ० ४१३।

इससे एक भ्रष्ट युग तथा भ्रष्ट समाज की निम्नस्तरीय अभिरुचियो का बोध होता है, जिसका यथार्थ चित्रण कवि नज़ीर ने अपनी अनेक कविताओ मे किया है। इसी प्रकार के उदाहरण रगीन तथा जान साहब की कविताओं मे विद्यमान हैं, जो नि सदेह इस दुराचार की लोकप्रियता प्रतिबिम्बित करते है।[१२५]

उपर्युक्त तथ्यो व उद्धरणो से मन मे आश्चर्य व खेद मिश्रित भावनाएँ उभरती हैं। तत्कालीन समाज का नैतिक स्तर इतना अधिक पतित हो चुका था कि सभ्य-समाज व आभिजात्यवर्ग द्वारा, समलिंग मैथुन की निन्दा व भर्त्सना तो दूर, साधारण आलोचना का एक उदाहरण तक भी नहीं मिलता। इसी सभ्य-समाज का प्रश्रय पाकर कवियो को एक सरस व सुकोमल काव्य-विषय प्राप्त हो गया। तत्कालीन काम-लोलुप और विलासियो ने इसका सहर्ष स्वागत कर इसे ग्रहण किया। इन तथ्यो से १६वी शता०दी के पूर्वार्द्धकालीन मुस्लिम-समाज के पूर्ण नैतिक पतन का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है।

(द) सामाजिक शिष्टाचार

इल्बरी तुर्क भारत मे वस्तुत सैनिको के रूप मे ही आए थे। वे प्रकृत्या अशिष्ट व असस्कृत थे। बलबन (१२६५–८६ ई०) को उन्हें कठोरता से सिखाना पडा कि दरबार म किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। बहरहाल, दरबारी अनुशासन, खलजियों अथवा तुगलको की उग्र प्रकृति को परिवर्तित न कर सका। अफगान लोग दरबार मे किसी शिष्टाचार की चिन्ता कठिनता से ही करते थे, वे बहलोल लोदी की कालीन का प्रयोग समानता के आधार पर करते थे जो उन्हें प्राय. निश्चयात्मक रूप से प्राप्त थी। उसके उत्तराधिकारियो तथा विशेष रूप से इब्राहीम लोदी द्वारा उन्हें दरबारी शिष्टाचार की सीमा के अन्तर्गत लाने के प्रयास सफल नही हुए।

यह अकबर के काल म ही सम्भव हो सका कि दरबारी-शिष्टाचार की एक प्रथा के रूप म स्थापना हुई। मनसबदार उचित रूप से वस्त्र धारण कर, अपेक्षित व स्वीकृत उपकरण सहित, अपना निश्चित स्थान ग्रहण करता था। वहाँ पर वह नतमस्तक हो तथा हाथ बाँधे खडा होता था। वह केवल तभी बोलता था, जब उसे सम्बोधित किया जाता था। वातावरण पूर्णत अनुशासित व शालीन होना था। उन समस्त भाग्य-परिवर्तनो के अनन्तर भी जिनसे होकर सुसस्कृत मुगल-राज्य को गुजरना पडा, यह प्रथा निरन्तर विकसित होती रही तथा थोडे ही समय मे मुगलो के जीवन का अविच्छिन्न अग बन गई। यह उनकी सस्कृति का आवश्यक तत्त्व था

---

१२५ नजमुल गनी रामपुर क पठानो मे अति विकृत रूप म यौन सम्बन्धी अनर्थ का उल्लेख करते हैं जिसके वे स्वय प्रत्यक्षदर्शी थ (अखबार उस्सनादीद, भाग–२, लखनऊ, १६१८, पृ० ५०७)।

गई तथा इसी के अनुसार मुग़ल शाहज़ादे व अमीर, कुलीन और ज़मींदार तथा मध्यम श्रेणी के व्यक्ति भी व्यवहार करते थे। यद्यपि उत्तरकालीन मुग़ल-काल में राजनैतिक पतन आरम्भ हो गया था, तथापि यह प्रथा उसके चतुर्दिक व्याप्त अराजकता व अस्तव्यस्तता से वस्तुत: अप्रभावित ही रही।

उच्चवर्गीय मुसलमानों में प्रचलित सामाजिक व्यवहार के तत्कालीन परिष्कृत मानदण्ड क्या थे, इसका परिचय स्पष्ट रूप से हमें अपने पर्यवेक्षण काल में प्राप्त होता है। दो सम्भ्रान्त व्यक्ति परस्पर मिलने पर सादर झुककर अभिवादन करते थे। तत्पश्चात् अत्यधिक मनोरम व शालीन शब्दावली में वे परस्पर कुशल-क्षेम पूछते। यह 'मिज़ाज पुर्सी' कहलाता था।[१२६] अतिथियों का स्वागत अत्यन्त सौहार्द्र से किया जाता था, मानो आतिथेय उन्हें अपने निवास स्थान पर पाकर अत्यन्त कृतज्ञ हुआ हो।

बड़ों के प्रति अत्यधिक सम्मान तथा एकाग्रता प्रदर्शित करने हेतु उनके समक्ष बैठने का एक विशेष ढंग होता था, जो 'दो ज़ानू' बैठना कहलाता था।[१२७] वार्तालाप अल्प शब्दों में ही सीमित होता था तथा वह भी धीमे, सम्मानयुक्त तथा विनम्र स्वर में यथोचित संयम के साथ। ज़ोर से बोलना तथा खिलखिलाकर हँसना शिष्टाचार के विरुद्ध समझा जाता था।[१२८]

समकक्ष व्यक्तियों में भी सामान्य व्यवहार विनम्रतापूर्ण रहता था। पहल कभी नहीं की जाती थी वरन् सदैव दूसरे को प्रथम अवसर प्रदान किया जाता था जो 'पहले आप' शब्दों के साथ उसका प्रत्यावर्तन करता था।[१२९] अत: यहीं से अत्यधिक हँसी उड़ाई जाने वाली 'पहले आप' की लौकिक कथा का सूत्रपात हुआ। लखनऊ में इसका प्रचलन आज भी विद्यमान है।

अतिथियों को प्राय नियमित रूप से पान प्रस्तुत किया जाता था। मिलन-काल में पान का प्रयोग अनेक बार किया जाता था। न केवल कलात्मक तश्तरियों में रखे हुए सुगन्धित पान ही, वरन् जिस नज़ाकत के साथ उन्हें पेश किया जाता था, उसका भी अपना एक विशेष प्रभाव था। पान समस्त सामाजिक सभाओं का एक अविच्छिन्न अंग था।

सामाजिक सभाओं में हुक्के का भी विशिष्ट स्थान था तथा सामाजिक शिष्टाचार की नियमावली में उसका विशेष महत्त्व था। श्रीमती मीर हसन अली का वर्णन है कि "हुक्का एक व्यसन अथवा एकस्य के रूप में शिष्टाचार का एक महान व्याख्याता

---

१२६ शरर, पृ० २८४, व्यवहार में सामान्यरूप से अत्यधिक प्रचलित वाक्यांश थे : मिज़ाज-ए शरीफ़; मिज़ाज-ए-अक़दस; मिज़ाज-ए-मुबारक, मिज़ाज-ए-मुअल्ला, इत्यादि (वही, पृ० २८८)

१२७. शरर, पृ० २८०; 'आख़िरी शमा' पृ० ४०, फुटनोट।

१२८. वही।

१२९. शरर, पृ० २८०।

है। बादशाह अथवा शासक नवाब की उपस्थिति में कोई प्रजाजन, चाहे वह रक्त सम्बन्धी अथवा कितना ही राजकीय उच्च स्थान प्राप्त क्यो न हो, धूम्रपान करने का साहस नही कर सकता। देशी दरबारो में राजकीय अवसरो पर पद म समान समझे जाने वाले-गवर्नर जनरल, सेनाध्यक्ष अथवा दरबार के रेजीडेण्ट आदि जो उसके साथ धूम्रपान करने की विशेष सुविधा के अधिकारी होते हैं, उन्हे हुक्का पेश किया जाता है। यदि उन्हे धूम्रपान अरुचिकर होता है, तो सामग्री से युक्त पर अग्नि रहित हुक्का लाने का सकेत हुक्का बरदार तत्काल समझ जाता है। मुनाल का होठो से स्पर्श करना प्रदत्त सम्मान की भावना का द्योतक होता है।"[१३०]

यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि मुसलिम समाज की यह विशेषता भारत के सास्कृतिक इतिहास मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। शिष्टाचार के प्रदर्शन मे मुसलमान हिन्दुओं की अपेक्षा कही अधिक आगे थे। उन्होने शिष्टाचार का विकास व्यापक रूप स किया था, जो कभी-कभी उनके लिए असुविधाजनक भी सिद्ध होता था। उनके अत्यन्त परिमार्जित शिष्टाचार प्राय उनके समाज की विशिष्टता बन गए थे।

(य) प्रदर्शन प्रियता (जाहिरदारी) :

कभी-कभी मुसलमानों के आडम्बरपूर्ण व्यवहार और शिष्टताएँ हास्यास्पद स्थिति तक पहुँच जाते थे, क्योंकि वे उन्ह अपनी वास्तविक भावनाओं तथा परिस्थितियो को छिपाने के लिए विवश करते थे। ऐसे लोग अपने महत्त्व के विषय मे अतिशयाक्तिपूर्ण कल्पनाएँ ग्रहण करते थे। वे शब्दाडम्बरपूर्ण नामो व उपाधियो का प्रयोग करते थे, स्वय को उच्च कुलोत्पन्न व्यक्ति प्रकट करते थे तथा आडम्बरयुक्त जीवन म विश्वास रखते थे। कभी-कभी तो उनके जीवन यापन की वास्तविक परिस्थितियो का ज्ञान उनके अभिन्न मित्रो तक को नही हो पाता था। इसका प्रतिपादन एक प्रत्यक्षदर्शी, मौलवी नजीर अहमद ने अपने प्रसिद्ध लेख 'कलीम और मिर्जा जाहिरदार बेग'[१३१] म स्पष्ट एव प्रभावोत्पादक रूप से किया है। यह मनोरजक बात है कि मिर्जा जिन्हे आय के रूप मे केवल सात रुपये प्रतिमाह किराया मिलता था, स्वय को कुलीन प्रदर्शित करते थे। वे भड़कीली पोषाक धारण करते थे जिसका वर्णन इस प्रकार किया गया है —

'मिर्जा को जब देखो पाओं म टेढ हाशिये की जूती। सर पर दोहरी बेल की भारी कामदार टोपी। बदन म एक छोड दो दो अगरखे। ऊपर शबनम या हल्की तनजेब। नीचे कोई तरहदार-सा ढाके का नैनू। जाडा हुआ तो बानात मगर सात रुपये गज से कम नही। खैर यह तो सुबह व शाम। और तीसरे पहर काशानी मखमल की आसमानी जिसम हरीर की सजाफ के अलावा गगा जमनी कमख्वाब की उम्दा बेल टकी हुई। सुर्ख नेफा। पायजामा अगर ढीले पाइचो का हुआ तो कलीदार और

---

१३०. 'आब्जर्वेशन्स', भाग-१, पृ० ३३४-३५।

१३१ 'तौबतुन्नसूह' (लखनऊ, १९३२) पृ० १६१-७४।

इस कदर नीचा कि ठोकर के इशारे से दो-दो कदम आगे और अगर तङ्ग मुहरी का हुआ तो निस्फ साक तक चूड़ियाँ और ऊपर जिल्दे बदन की तरह मढा हुआ। रेशमी इज़ारबन्द घुटनो म लटका हुआ और उसमे वे कुफल की कुन्जियो का गुच्छा। गरज देखो तो मिर्ज़ा साहब इस हैयत कज़ाई से छैला बने हुए भरे बाज़ार छम-छम करते चले जा रहे हैं।"[132]

बहरहाल, मिर्ज़ा के बाह्याडम्बर के पीछे छिपी वास्तविकता का पर्दाफाश उस समय हुआ जब एक रात उन्हे अपने धनी मित्र कलीम का आतिथेय बनने के लिए विवश होना पडा। बेचारे मिर्ज़ा के पास अतिथि के लिए अपने बहुचर्चित 'महल' मे कोई स्थान न था। जब मित्र को पडौस की एक अन्धकारमयी खण्डित तथा वीरान मस्जिद मे ठहराया गया तब उसे नितान्त आश्चर्य तथा अविश्वास हुआ। जब कलीम ने चिराग़ भिजवाने के लिए प्रार्थना की तो उसे विनम्रतापूर्वक क्षुद्र बहाने बनाकर टाल दिया गया .

"मिर्ज़ा—चिराग क्या मैंने तो लैम्प रौशन कराने का इरादा किया था, लेकिन गर्मी के दिन है परवाने बहुत जमा हो जावेंगे और आप ज्यादा परेशान होजियेगा और इस मकान मे अबाबीलो की कसरत है रौशनी देखकर गिरने शुरु होगे और आपका बैठना दुशवार कर देंगे। थोडी देर सबर कीजिये कि माहताब निकला आता है।"[133]

स्थिति उस समय और भी गम्भीर हो गई जब कलीम को भोजन के लिए कहना पडा। मिर्ज़ा नितान्त विवशता की अवस्था म अपने क्षुधा पीडित मित्र के लिए बाज़ार से मुट्ठी भर चने ले आए, परन्तु इस पर भी वे चने जैसे मोटे अनाज की विस्तृत रूप से प्रशसा के पुल बाँधना नही भूले।[134]

अभिजातवर्ग का अनुकरण करते हुए जिस मिथ्याडम्बर का प्रदर्शन अन्य वर्ग करते थे उसका सटीक व सार्थक उदाहरण इससे अधिक अन्य कोई नही हो सकता। इस सन्दर्भ मे यह उल्लेखनीय है कि एक निम्नकुलोत्पन्न मुसलमान की सामाजिक स्थिति, उसकी आर्थिक अवस्था मे सुधार के साथ परिवर्तित हो सकती थी। मुसलिम समाज म निम्नतर स्थान रखने वाले व्यक्ति के लिए आर्थिक प्रगति के माध्यम से उच्चतम स्थान प्राप्त कर लेना, आज की भाँति १६वी शताब्दी के पूर्वार्ध मे भी सुलभ था। इसी आशय की एक उक्ति पारसी भाषा मे प्रचलित है, जो यह है

अव्वलन नद्दाफ़ बूदम
बाद ऱू गश्तम शेख़

---

१३२. वही, पृ० १६५।
१३३ वही, पृ० १६८।
१३४. वही, पृ० १६६-७०।

गल्ला अरजां शूं सय्यद
इमसाल सय्यद नी शवम्

(सर्वप्रथम मैं एक धुनियाँ था, तत्पश्चात् मैं शेख़ हो गया, इस वर्ष यदि अनाज सस्ता हो जाय तो मैं सय्यद हो जाऊँगा।)

५

मनोरंजन के साधन

उच्च वर्गीय मुसलमान राजकीय संरक्षण व नियुक्तियों के इतने अभ्यस्त हो गए थे कि उनमें अकर्मण्यता आ गई। राजनैतिक शक्ति के क्षीण हो जाने के पश्चात् भी उन्होंने व्यवसाय तथा व्यापार में परिश्रम नहीं किया। वे इसका सम्पूर्ण दोष भाग्य और ईश्वर पर थोप कर स्वयं निश्चिन्त हो गए। पूर्ण सन्तुष्टि और सुलभ आय पर निर्भर रहने की भावना के कारण उनमें व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से नवीन कार्यायोगों को खोजने की किंचित्मात्र इच्छा भी शेष नहीं रही थी। अनेकानेक विपथगामी साधनों से मनोरंजन में समय व्यतीत करना उनके लिए कठिन नहीं था। मनोरंजन के जिन अन्यान्य साधनों का उन्होंने आश्रय लिया, उनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण का उल्लेख नीचे किया जाता है

(अ) पतंगबाज़ी :

हमारे अध्ययन काल में पतंगबाज़ी अतिलोकप्रिय मनोरंजन के साधनों में से एक था। दिल्ली में सम्भवत: शाहआलम प्रथम (१७०७–१७१२) के समय में इस व्यसन को लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। प्रारम्भ में इने गिने व्यक्ति ही चंग उड़ाया करते थे।[१] यह कागज की दुमदार पतंग हुआ करती थी। कन्दील का रूप प्रदान करने के लिए इसे लकड़ी की खपाचों व कागज की सहायता से अत्यधिक सावधान से बनाया जाता था। इसके भीतर एक कपड़े का बना हुआ तेल में डूबा गेंद तार से बांधकर लटका दिया जाता था तथा उसे जलाकर रात को लोग मज़बूत सूती या रेशमी डोर पर उड़ाते थे। चंग ऐसी प्रतीत होती थी, मानो एक लालटेन आकाश में इधर-उधर डोल रही हो, तथा गुब्बारे के विपरीत उड़ाने वाले के अधिकार में हो जब चाहें उड़ाएँ और जब चाहें उतार लें। वह हवा में स्थिर रहती। कभी उलटी होती कभी सीधी हो जाती।[२]

---

१. शरर, पृ० १२६।

२. वही।

इसी प्रकार, उस समय दिल्ली में कागज की मनुष्याकृति बनाना प्रारम्भ हुआ, जिसे डोर की सहायता से आकाश में उड़ाया जाता था। इसे 'रोशन-पुतला' कहते थे।[3] अपनी लम्बाई व चौड़ाई के अनुपात के कारण इसे अपेक्षाकृत सरलता से उड़ाया व लाया जा सकता था। सम्भवतः जीव चित्रण इस्लाम के सिद्धान्तों के विरुद्ध होने के कारण, 'रोशन पुतला' मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं में अधिक लोकप्रिय हुआ।

चंग का आनन्द केवल रात्रि में ही लिया जा सकता था, जबकि तुक्कल के साथ ऐसा न था। इच्छानुसार चंग का संचालन भी कठिन ही था। अतः उस हल्की तथा अधिक सुविधाजनक वस्तु का आविष्कार करना पड़ा जिसका संचालन सुगमता से किया जा सके। तुक्कल की सहायता से अब प्रतिद्वन्द्वी के चंग की डोर को काटना भी सम्भव हो गया। वास्तव में तुक्कल के अस्तित्व में आ जाने के कारण कन्दील व रोशन-पुतला दोनों ही पृष्ठभूमि में पड़ कर, कालान्तर में विलुप्त हो ही गए। तुक्कल मुसलमान अमीरों एवं सम्मानित हिन्दुओं में समान रूप से लोकप्रिय हुआ। अनेक लोग इस व्यसन पर धन पानी की तरह बहाया करते थे। तुक्कल का एक परिष्कृत रूप जो पतंग कहलाया, एक महँगा धन्धा ही था।[4]

इसी मध्य दिल्ली से लखनऊ स्थानान्तरित होने वाले व्यक्ति अपने साथ पतंगबाजी का शौक भी ले गए। पतंग उड़ान से अब पतंग लड़ाने का शौक निकला। ऐसी जोरदार तुक्कलें बनाई जाने लगी कि साधारण शक्ति वाले व्यक्ति के लिए उन्हें सम्भालना कठिन था। आठ आठ तार की मजबूत डोर चर्खियों पर चढ़ाई जाती थी और उन्हीं चर्खियों के द्वारा तुक्कलों का जोर सम्भाला जाता।[5] लड़ाई की यह विशेषता थी कि दो तुक्कलों की डोर एक दूसरी में डाल कर दोनों ओर से ढील दी जाती। दोनों तुक्कलें चक्कर खाती हुई ऊपर चढ़ती और ऊँची होती चली जाती तथा दोनों ओर से चर्खियाँ पर चर्खियाँ खाली होती रहती।

लखनऊ में पतंगबाजी के पुराने विख्यात उस्ताद मीर उम्दू, ख्वाजा मिट्ठा व शेख इम्दाद थे। एक जुलाहे ने भी उन दिनों इस कला में ख्याति अर्जित की थी जिसके कारण उमरा की सुहबत में उसका बड़ा आदर होता था।[6]

अमजद अली शाह (१८४२–४७) के समय में एक छोटे आकार की पतंग आविष्कृत हुई जो गुड्डी कहलाई।[7] वह तुक्कल की अपेक्षा सरलता से बनती थी, क्योंकि उसमें दो के स्थान पर एक ही काँप होती थी। वाजिद अली शाह (१८४७–५६) के समय में एक अन्य प्रकार की पतंग अस्तित्व में आई जिसमें नीचे की ओर

---

३. वही, पृ० १६० ।
४. वही ।
५. वही, पृ० १६१ ।
६. वही ।
७. वही ।

गज का एक फुंदना लगा होता था। उसे कनकौआ कहते थे।[८] कुछ समय पश्चात् म्मद हुसैन खाँ, आगा अबू तालिब खाँ तथा दो-एक शौकीन रईसों ने फुंदने के यान पर नीचे पत्ता लगाकर वह कनकौआ बना दिया जो शनैः-शनैः सम्पूर्ण भारत लोकप्रिय हो गया।

सामान्यतः पतंग लड़ाने में दो प्रकार की विधि, यथा–ढील व खैंच को पनाया जाता था। पहले ढील का प्रचलन अधिक था। बड़े-बड़े कनकौए बनते और रो डोर पीते चले जाते। उस्ताद विलायत अली खाँ, इलाही बख्श टण्डे आदि इस ला में प्रवीण थे। कालान्तर में 'खैंच लड़ाने' का प्रचलन हुआ। इसका प्रारम्भ उन टे लड़कों द्वारा हुआ जिनके पास अल्प मात्रा में डोर होती, वे दूसरे के कनकौए में पेच डाल कर अपनी ओर बेतहाशा खींचे जाते और काट देते। पुराने उस्ताद उन लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते और अपने कनकौओं को उनसे अलग रखते। परन्तु आगे चलकर खैंच ही पतंगबाजी की सर्वोत्कृष्ट कला समझी जाने लगी, इसमें अनेक उस्तादों ने दक्षता प्राप्त की।[९]

हमारे पर्यवेक्षण काल में पतंगबाजी की लोकप्रियता सम्पूर्ण उत्तरी भारत में व्याप्त हो गई थी। मिर्जा गालिब अपने बाल्यकाल में, जब आगरा में रहते थे, तो इसके अत्यन्त शौकीन थे। आगरा के मुन्शी शिवनारायण को लिखे एक पत्र में वे अपने उन दिनों का स्मरण करते हैं, जब वे पतंग उड़ाया करते थे तथा राजा बलवान सिंह की पतंग से पेच लड़ाया करते थे।[१०] मनोरंजन के इस लोकप्रिय साधन के शौक का सजीव वर्णन कवि नजीर ने अपनी 'पतंग की तारीफ' कविता में किया है।[११] उन्होंने तत्कालीन प्रचलित लगभग डेढ़ दर्जन पतंग के नामों का तथा उन्हें उड़ाने की विविध विधियों का उल्लेख किया है।[१२] ऐसा प्रतीत होता है कि पतंगबाजी आगरावासियों को, चाहे वे धनी हों या निर्धन, वृद्ध हों या युवा, अत्यधिक प्रिय थी। वे वर्णन करते हैं

---

८. वही।

९. वही, पृ० १६२।

१०. 'उर्दू ए-मुअल्ला', पृ० २६२।

११. 'कुल्लियात-ए नजीर', पृ० ४६२-६४।

याँ जिन दिनों में होता है आना पतंग का
टट्टे है हर मकाँ में बनाना पतंग का
होता है बाजारों में मँगाना पतंग का
करता है शाद दिल को उड़ाना पतंग का
क्या-क्या कहूँ मैं शोर मचाना पतंग का

१२ यथा, दो बाज लगलगा; लंगोटिया; चाँद तारा; पहाड़िया; कन्ना; दो पन्ना; ढेढ़; अधकना; तिरहरिया; दो पट्टियाँ; माँग दार; गुरबुजिया; पेंदी पान; चमना; दो कोरिया; तुक्कल; छक्कड़ आदि।

कटता है जो पतंग तो फिर लूटने उसे
दो दो हजार दौड़ते हैं छोटे और बड़े
इस आगरे में यह भी तमाशा है दिलपजीर
होते हैं देख शाद जिसे खुर्द और कबीर[१३]

पतंगबाजी के विषय में श्रीमती मीर हसन अली का कथन महत्त्वपूर्ण है। वे लिखती हैं: "सभी आयु के लोग पतंग उड़ाया करते हैं। यहाँ तक कि मैंने वृद्ध व्यक्तियों को इस मनोरंजन में रत देखा है जो इस बात से अनभिज्ञ थे कि वे अपना समय नष्ट कर रहे हैं अथवा ऐसे कार्य में इसे लगा रहे हैं जो केवल बच्चों के लिए उपयुक्त है। उन्हें घरों की समतल छतों से उड़ाया जाता है, जहाँ सूर्यास्त के पश्चात् साधारणतः लोग बैठते हैं। उन्हें पतंग के एक प्रकार के मुकाबले में बड़ा आनन्द आता है जो इस प्रकार होता है : पड़ोसी सम्भ्रान्त लोग, पिसे हुए काँच में सुती हुई डोर की पूर्व व्यवस्था करके, अपनी पतंगें बढ़ाते हैं। वे जब हवा के वेग से एक दूसरे के सम्पर्क में लाई जाती हैं, तो ऊपर वाली डोर नीचे की डोर को काट देती है। जब पतंग कट कर नीचे गिरती है तो गलियों व सड़कों में बेकार घूमने वाले लोगों का अच्छा खासा मनोरंजन होता है। वे उस खिलौने को प्राप्त करने के लिए इतनी अधिक अधीरता से चीखते चिल्लाते हैं, मानो वह कोई बहुमूल्य निधि हो। परन्तु असंख्य प्रतिद्वन्द्वियों तथा उसको प्राप्त करने के असीम उत्साह के कारण प्रायः पतंग टुकड़े टुकड़े हो जाती है। प्रत्येक दल अपनी डोर को ऊपर रखने में प्रचुर कौशल प्रदर्शित करता है जिससे वह अपने प्रतिद्वन्द्वी की पतंग को काट सके।"[१४]

अन्य मेलों के समान पतंगबाजी का मौसम भी विशेषरूप से बसन्त ऋतु के समय होता था। जब मौसम समाप्त हो जाता था तो पतंग बनाने वाले अपना ध्यान खिलौने बनाने में लगा देते थे।[१५]

(ब) कबूतरबाज़ी

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में कबूतरबाज़ी मनोरंजन का एक अन्य प्रमुख साधन था। कुलीन व जनसाधारण-समानरूप से इसमें बड़ी रुचि लेते थे। उस समय विविध प्रकार के कबूतर पाले जाते थे। लोग अपने पास में प्रत्येक प्रकार के प्राप्य कबूतर रखना पसन्द करते थे। कुछ तो अत्यधिक व्यय करके विश्व के विभिन्न भागों से लाए जाते थे।[१६] कवि नज़ीर अपनी कविता 'कबूतरबाज़ी'[१७] में पचास प्रकार के कबूतरों का उल्लेख करते हैं, जिनमें से अनेक को तो अब पहचानना भी

---

१३ 'कुल्लियात-ए-नज़ीर' पृ० ४६४।
१४. 'ऑब्जर्वेशन्स', भाग-२, पृ० १४-१५।
१५ विलियम क्रुक, 'थिंग्स इण्डियन', पृ० १२।
१६ 'ऑब्जर्वेशन्स', भाग २ पृ० १५।
१७. 'कुल्लियात ए नज़ीर', पृ० ४७२।

कठिन है।[१८]

उस समय पाले जाने वाले विभिन्न प्रकार के कबूतरों में गिरहबाज तथा गोले अपनी उड़ान-क्षमता के लिए प्रसिद्ध थे।[१९] केवल सौंदर्य की दृष्टि से पाले जाने वालों में शीराज़ी, गुली, निसावरी, गलरे, लका, लोटन तथा याहू आदि अधिक प्रसिद्ध थे।[२०] सम्भवत: गिरहबाज़ सर्वप्रथम काबुल से लाए गए। गोले की नस्ल अरब व अजम तथा तुर्किस्तान से आई।[२१] गिरहबाज़ की यह विशेषता थी कि सुबह को उड़े तो दिन-दिन भर उड़ते रहते और शाम को उतरते तथा अपने निश्चित स्थान पर लौटकर आना न भूलते। परन्तु गिरहबाज़ का दस बारह से अधिक का झुण्ड नहीं उड़ता था। जब लोगों को सौ-सौ, दो-दो सौ कबूतरों के झुण्डों को उड़ाने का शौक हुआ तो, गोले उपलब्ध किए गए।[२२] दिल्ली में यह शौक बहादुरशाह ज़फर के समय में बहुत लोकप्रिय हो गया था।[२३]

लखनऊ के नवाब शुजा उद्दौला को कबूतरों का बड़ा शौक था। उनके दरबार में सय्यद यार अली बरेली वासी को एक कुशल कबूतरबाज़ के रूप में सम्मानित किया गया था।[२४] नवाब आसफ उद्दौला (१७७५-६७) तथा सआदत अली खाँ (१७६८-१८१४) को भी इसका बड़ा शौक था। गाज़ी उद्दीन हैदर (१८१४-२७) तथा नसीर उद्दीन हैदर (१८२७-३७) के समय में तो कबूतरबाज़ी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी।[२५] मीर अब्बास उस समय इसका एक विख्यात विशेषज्ञ था। यह शौक उस समय इतना अधिक बढ़ा हुआ था कि किन्हीं-किन्हीं अमीरों के यहाँ नौ सौ कबूतरियाँ एक साथ उड़ाई जाती और कोई कोई रईस उतने ही या उससे अधिक संख्या में कबूतर उड़ाते थे।[२६]

एक विशेष रंग के कबूतर जो पटेत कहलाते थे, खोस्त (अफगानिस्तान) से लाए गए थे। वे बहुत मूल्यवान हुआ करते थे। बहुधा धनिक हज़ारों रुपये व्यय करके

---

१८ ये थे गोला, गिरहबाज़, दमरई, काबुली, शीराज़ी, निसावर, चोया, चन्दन, मक्खा, मुखी, शस्तू, आज़र, ताम्बोपी, कनपोटिया, नीना, गुली, पम्मड, लका, पीना, जोगिया, खीरा पटेत, चुप, नफरा, मुक़रा, ज़रबा, गुल आँख, लस-आँख, ऊदा, ज़रदा, कबरा, तीरा, मसी, तोसी, पल्ला, सैमाविया, घपरा, तम्बोलिया पन नार, अगरई, सुरमई, अम्बरी, घल, भूरा, ममसी, हम्बड़ा बबरा, दस्तरा, कमनी तथा लोटन इत्यादि।

१६. शरर, पृ० १५५।

२०. वही।

२१. वही।

२२. वही, पृ० १५६।

२३. वही।

२४. वही।

२५. वही।

२६. वही।

केवल उन्ही को उडाया करते थे।[२७]

एक वृद्ध विशेषज्ञ ने लखनऊ म यह कमाल किया कि कबूतर के दो पट्ठो को लेकर एक का दाहिना और दूसरे का बाया बाजू काट दिया, कटे हुए बाजुओ के स्थान पर उन दोनो मे टांके लगाकर एक दोहरा कबूतर बना लिया और ऐसी सावधानी से पाला कि वे बड़े होकर उडने लगे। उसने ऐसे बहुत से दोहरे कबूतर तैयार किए। प्राय जब नसीरुद्दीन हैदर छतर मन्जिल से बजरे पर सवार होकर पार जाते और कोठी दिलाराम मे बैठ कर नदी की सैर देखते तो वह इस पार से अपने उन अद्‌भुत दोहरे कबूतरो को उडा देता जो पार जाकर बादशाह के निकट बैठ जाते। बादशाह उन्हे देख कर बहुत प्रसन्न होते तथा उसको इनाम देते।[२८]

मीर अमान अली नामक एक अन्य विशेषज्ञ ने यह आश्चर्यपूर्ण कार्य किया कि वह कबूतर को मन चाहे रग का बना देता था। जिस कबूतर का रग उसको परिवर्तित करना होता, वह उसके पख विशेष को उखाड कर अन्य उपयुक्त रग का पख उसी के छिद्र मे इस प्रकार लगा देता कि वह असली पखो की भांति जम जाता। इसके अतिरिक्त वह अनेक स्थानो पर पक्के रग से भी काम लेता था। उसके इन कबूतरो मे से प्रत्येक पन्द्रह बीस रुपये मे बिकता तथा उमरा बड़े शौक से उन्हे लेते थे।[२९]

वाजिद अली शाह भी कबूतरबाजी मे विशेष अभिरुचि रखते थे। यहाँ तक कि अपने निष्कासन काल मे कलकत्ता के मटिया बुर्ज मे भी उनके पास कबूतरो का असाधारण सग्रह था। कहते है कि उन्होने रेशम परे कबूतरो का जोडा पच्चीस हज़ार रुपये म लिया था तथा एक प्रकार के सब्ज़ कबूतरो की नस्ल बढ़ाई थी।[३०] उनकी मृत्यु के समय उनके पास चौबीस हज़ार से भी अधिक कबूतर थे, जिन पर सैकडो कबूतरबाज नौकर थे।[३१] उनके दारोगा गुलाम अब्बास का कबूतरबाज़ी की कला म जवाब नही था।

कबूतरबाजी के प्रति मुसलिम समाज की गहरी रुचि का उल्लेख करते हुए श्रीमती मीर हसन अली लिखती हैं "कबूतरो के झुण्ड का प्रत्येक स्वामी अपने पक्षियो की अलग पहचान रखता है। सामान्यत उन्हे घरो की समतल छतो पर बनी बाँस की काबुको मे बन्द रखा जाता है। वहाँ पर उनका स्वामी प्रात काल तथा सायकाल अपने पालतू पक्षियो को दाना चुगाया करता है, एव कुछ देर हवा खिलाया करता है। सम्भवत उसी समय एक पडोसी के कबूतरो का झुण्ड भी अपने काबुकों से बाहर निकलता है और जब दोनो झुण्ड मकानो के चतुर्दिक हवा म चक्कर काटने-

---

२७ वही।
२८ वही, पृ० १५७।
२९ वही।
३०. वही।
३१. वही।

काटते आपस मे मिल जाते हैं (जैसाकि प्राय होता है), तो एक व्यक्ति के झुण्ड के एक या अधिक कबूतर दूसरे के झुण्ड के साथ घर वापस आ जाते हैं। ऐसी स्थिति मे वे उस झुण्ड के स्वामी के न्यायोचित बन्दी हो जाते हैं जबतक कि उसका पडोसी पकडे कबूतरो का मूल्य देकर अथवा बन्दियो की अदला-बदली करके लौटाने की इच्छा व्यक्त न करे। ऐसे बन्दी का भाग्यशाली अधिकारी अपनी शर्तें रखता है जो सम्भवत कठोर हुआ करती हैं, विशेषरूप से उस स्थिति मे जबकि उसके मन मे उस कबूतर के स्वामी के प्रति दुर्भावना हो अथवा विपथगामी कबूतर विशिष्टरूप मे दुर्लभ हो।"[३२]

यह रोचक बात है कि कबूतरो की विभिन्न जातियाँ गज भर के विशालकाय शीराजी से लेकर ऐसे नन्हे गुली तक विस्तृत थी, जो बारह वर्ष की कन्या के कगन में से होकर सरलता से निकल जाए।[३३]

(म) पक्षी-युद्ध :

१. मुर्गबाजी :

मुर्गबाजी[३४] का शौक भी कुलीन तथा सर्वसाधारण मे समानरूप मे विद्यमान था। फैजाबाद के मिर्जा नकी इस व्यसन के अत्यन्त शौकीन थे। मुसहफी ने अपनी मसनवी 'मुर्गनामा' मे इसका विशद वर्णन किया है कि किस प्रकार मिर्जा नकी अपने मुर्गों को लडने का प्रशिक्षण दिया करते थे।[३५] मुर्गबाजी की लोकप्रियता का अनुमान जैनुल आबिदीन खाँ के पुत्र के उदाहरण से लगाया जा सकता है, जिसने अपनी समस्त सम्पत्ति इस इस व्यसन की भेंट चढादी थी।[३६]

---

३२ 'ऑब्जर्वेशन्स', भाग-२, पृ० १५-१६।

३३ शरर, पृ० १५८।

३४. यह प्राचीनकाल से ही भारत में लोकप्रिय मनोरंजन रहा था। प्राचीन बौद्ध तथा जैन साहित्य मे मनोरंजन के लिए अन्य पशु-पक्षियो की लडाई के साथ मुर्गों की लडाई के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं (रामजी उपाध्याय, 'प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका', इलाहाबाद, १९६६, पृ० ६६०-६१; जे० सी० जैन, 'लाइफ इन एन्शयेन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन जैन कैनन्स', बम्बई १९४७, पृ० २४०)। मुर्गों की लडाई का चित्रण गुप्त-युगीन भीतर गाँव के मन्दिर में एक टेराकोटा फलक पर किया गया है (आर० नाथ, "टैम्पिल ऑव भीतर गाँव", 'मार्ग', XXII, अंक २, मार्च, १९६९, पृ० ३३ तथा प्लेट-२४)। यह खेल १८वीं शताब्दी में भी समानरूप से लोकप्रिय था, जैसाकि शाहआलम द्वितीय के दरबार विषयक पोलियर के वृत्तान्त के साथ संलग्न एक चित्र में प्रदर्शित किया गया है (पी० सी० गुप्ता, 'शाहआलम एण्ड हिज कोर्ट', कलकत्ता, १९४७, फ्रन्टिस्पीस)।

३५ मूल्य विवरण के लिए देखिए; 'दीवान-ए मुसहफी', भाग-६ (पाण्डुलिपि), पृ० १३४ अ, १३४ ब :

३६. वही, पृ० १३४ ब

भोर जैनुल आबिदीन खाँ का बालक
मुर्गो म करते हैं गा जर को मनक

मुर्गों को लड़ाने का शौक नवाब शुजाउद्दौला के समय से प्रारम्भ होकर अन्त तक निरन्तर बना रहा।[37] नवाब आसफ उद्दौला को इसका बेहद शौक था।[38] नवाब सआदत अली खाँ भी मुर्गबाजी के दिलदादा थे। उनके शौक ने समाज पर ऐसा प्रभाव डाला कि लखनऊ के उमरा-ए-दरबार तो दूर, उस ज़माने में जो यूरोपीय यहाँ रहते थे, उन्हें भी यही शौक हो गया था।[39] जनरल मार्टिन अव्वल दर्जे के मुर्गबाज थे तथा नवाब सआदत अली खाँ उनसे बाजी बद कर मुर्गे लड़ाया करते थे।[40] इसी प्रकार, मेजर सवान्मि अपने मुर्गों को नसीर उद्दीन हैदर के मुर्गों से लड़ाया करते थे।[41]

मुर्गबाजी कवि इन्शा को अत्यन्त प्रिय थी[42] जैसाकि वे स्वयं अपनी मसनवी 'मुर्गनामा' में स्वीकार करते हैं। इसे उन्होंने नवाब वज़ीर के भाई मिर्जा कासिम अली के आदेश व फर्माइश से लिखा था।[43] खलीफा बाबू नामक मुर्गबाजी का एक उस्ताद मिर्जा कासिम अली की सेवा में रहता था। मुर्ग लड़ाने की विधियों का वह विशेषज्ञ समझा जाता था। उसके बताए अनुसार ही इन्शा नज़्म करते गए।[44] चूँकि हजारों रुपये की बाज़ियाँ बदी जाती थी, जिसमें बेईमानी, झगड़े-फसाद होते और हाथा तक नौबत पहुँचती थी, अतः आवश्यक था कि इसके सिद्धान्त निर्धारित हों।[45]

---

३७. शरर, पृ० १४७।

३८. वही। 'कुल्लियात-ए-इन्शा', पृ० ४४७:

लड़ने भिड़ने से शौक़ रखते हैं
मुर्ग़ बाज़ी का शौक़ रखते हैं
शग़्ल है जिनको हर्ब-ओ-बाज़ी का
खेल है उनको मुर्ग़ बाज़ी का
क्यों उन्हों का न जंग पर हो मिज़ाज
सिर्फ़ इस क़ौम को है ताज की लाज

३९. शरर, पृ० १४८।

४०. वही।

४१. वही, पृ० १४९।

४२. 'कुल्लियात-ए-इन्शा', पृ० ४४७:

अब मुझे भी यह शौक़ है इसका
कि समझता हूँ मुर्ग़ को अनक़ा
क़स्द पाली का जब कि करता हूँ
क्या ही डग लम्बी-लम्बी धरता हूँ
दाब अपनी बग़ल में इक मुर्ग़ा
चलता रख रख क़दम हूँ मैं नर्गा

४३. अब्दुल बारी आसी, "इन्शा के कुछ नए हालात और ग़ैर मतबूआ कलाम", 'उर्दू', अक्तूबर, १९४५, पृ० ३६०।

४४. वही।

४५. वही।

अमीरों व कुलीनो द्वारा उदार सरक्षण तथा सर्व साधारण की व्यापक अभिरुचि के कारण मुर्गबाज़ी, एक जन-मनोरंजन के साधन के रूप मे इस समय अपनी लोकप्रियता की पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। साधारण व्यक्ति का तो कहना ही क्या, अत्यधिक विख्यात तथा सम्मानित व्यक्ति भी अपनी बगल में मुर्ग दाब कर ले जाते हुए दिखाई देते थे,[४६] जिसकी बेचारे मीर साहब ताव न ला सके और विवशतया एक मसनवी हिज्व मे (फबती के रूप मे) कह डाली।[४७]

लड़ने वाले मुर्ग विशेष रूप से तैयार किये जाते थे। विशेष ख़ुराक, अंगो की मालिश, रुई अथवा पानी की फुहार देने, खार (काँटे) बाँधने के अतिरिक्त उनकी चोंच चाकू से छील कर तेज और नुकीली की जाती। भूमि पर दाना चुगने से कही चोंच को क्षति न पहुँच जाए, इस आशका से प्राय उन्हें दाना हाथ पर रख कर ही खिलाया जाता था।[४८]

लड़ाई के लिए जोड़ के दोनो मुर्ग पानी मे छोड़ दिए जाते। मुर्गबाज़ उनके पीछे-पीछे रहते। एक मुर्ग को दूसरे के मुकाबले मे छोड़ना भी एक कला थी, जिसमे यह प्रयास रहता कि अपना ही मुर्ग पहले चोट करने का सुअवसर प्राप्त करे।[४९] अब दोनो मुर्ग चोचो और लातो से लडना प्रारम्भ करते। मुर्गबाज़ अपने-अपने मुर्ग को उभारते और प्रोत्साहित करते तथा चिल्ला-चिल्ला कर कहते: "हाँ बेटा शाबाश है!" "हाँ बेटा काट!" 'फिर यही पर!" इत्यादि।[५०] मुर्ग उनकी ललकारों और बढ़ावो पर बढ़-बढ कर लातें व चोंचें मारते। ऐसा प्रतीत होता, मानो वे समझते हो, तथा उनके कहने पर वैसा ही करते हो। जब वे लडते-लडते घायल तथा थक कर चूर हो जाते, तो उन्हे कुछ देर के लिए उठा लिया जाता। इस प्रकार उठा लेना मुर्गबाज़ी की शब्दावली मे "पानी" कहलाता।[५१] उस समय मुर्गबाज़ उनके घायल सिरो को पोछते, उन पर पानी की फुहारें देते, उनके घावो को अपने मुँह से चूसते तथा ऐसी ऐसी युक्तियाँ प्रयोग मे लाते कि थोडी देर मे ही उनमे एक नवीन उत्साह का सचार हो जाता और ताज़ा दम होकर फिर से पानी मे छोडे जाते। इसी प्रकार, बराबर 'पानी' होते रहते और युद्ध की समाप्ति कभी तो चार-पाँच दिन और कभी आठ-नौ दिन पश्चात् होती।[५२] कभी-कभी ऐसा भी होता कि

---

४६. 'कुल्लियात ए मीर', पृ० ८०८;

आदमी जो बडे कहाते हैं
मुर्ग मारे बगल मे आते है

४७ वही, पृ० ८०८-१०।

४८ शरर, पृ० १४८-४६।

४९. वही, पृ० १४८।

५०. वही।

५१ अब्दुल बारी आसी, पृ० ३६३।

५२. शरर, पृ० १४८।

मुर्गे की चोंच टूट जाती। उस स्थिति मे भी जहां तक बनता मुर्गबाज़ चोंचें बाँधकर लड़ाते। जब एक मुर्ग अन्धा हो जाता या ऐसी चोट खा जाता कि उठने योग्य न रहे या अन्य किसी कारणवश लड़ने के योग्य न रहता, तो समझा जाता कि वह हार गया।[५३]

दिल्ली मुर्गबाजी का एक बड़ा केन्द्र था। सार्वजनिक पालियाँ बड़ी संख्या में लोगो को आकर्षित करती थी, जिनमे शौकीन व्यक्ति, विशेषज्ञ तथा दर्शक—सभी होते थे। राजधानी के सम्भ्रान्त लोग इसका स्वतन्त्र रूप से आनन्द लूटते। यहाँ तक कि बहादुरशाह ज़फर को भी इसमे विशेष लगाव था तथा वह मसाहिबों द्वारा नियोजित ऐसी लड़ाइयो को बड़े चाव से देखते थे।[५४] निस्सन्देह मुर्गबाज़ी उस समय एक तल्लीन करने वाला मनोरंजन था, जो साधारण व्यक्ति से लेकर सर्वोच्च पदाधिकारी को समान रूप से प्रिय था।

लखनऊ में यह शौक वाजिद अली शाह के समय तक ज़ोरो पर था। बादशाहों के अतिरिक्त बहुत से रईसो को भी मुर्गबाज़ी का शौक था। मिर्ज़ा हैदर, नवाब सालार जंग, हैदर बेग खाँ तथा आगा बुर्हानुद्दीन हैदर इसके शौकीन थे। यहाँ तक कि अन्तिम रईस के यहाँ तो दो ढाई सौ मुर्गे रहते जिनकी देखभाल के लिए दस-बारह परिचारक विशेष रूप से नियुक्त थे।[५५] मियाँ दाराब अली खाँ को मुर्गबाज़ी का बड़ा शौक था। नवाब घसीटा ने भी इस शौक को अन्त तक निभाया। इस फन के उस्तादो मे फज़ल अली जमादार, कादिर, जीवन खाँ, हुसेन अली, नौरोज़ अली, नवाब मुहम्मद तकी खाँ, मियाँ जान, दिन, छग्गा हुसेन अली बेग तथा अहमद हुसैन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यही लोग थे "जिन्होने मुर्गबाज़ी को इन्तहाई कमाल के दर्जे पर पहुँचा के दिखा दिया।"[५६]

मलीहाबाद के सम्भ्रान्त पठानो को भी मुर्गबाज़ी का बहुत शौक था, तथा उनके पास 'असील' मुर्गों की बहुत अच्छी नस्लें सुरक्षित थी।[५७] यहाँ अपने फन के उस्ताद, प्रसिद्ध मुर्गबाज़, बहुत से थे। इनमे मीर इम्दाद अली, शेख घसीटा, मुनव्वर अली, सफदर अली तथा सय्यद मीरन साहब विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मुनव्वर अली को यह कमाल हासिल था कि मुर्ग की आवाज़ सुनकर बता देते थे कि वह बाज़ी ले जाएगा।[५८]

---

५३ वही।

५४ पैलेस डायरी, एन० ए० आई०, फॉरिन डिपार्टमेंट, मिसलेनियस, पॉलिटिकल, वॉल्यूम ३६१ पैलेस इंटेलिजेन्स, देहली, १८५१ ५४, पर्सीवल स्पीयर, पृ० ७६।

५५ शरर, पृ० १४६।

५६ वही, पृ० १५०।

५७ यद्यपि लड़ने हर प्रकार व नस्ल के मुर्ग़ थे, तथापि असील की यह विशेषता थी कि वह मर जाता, परन्तु लड़ाई से मुँह नहीं मोड़ता था (शरर, पृ० १४७)।

५८. शरर, पृ० १४६।

रामपुर के नवाब सय्यद मुहम्मद सईद खाँ मुर्गबाजी के अत्यधिक शौकीन थे।[५९] इस व्यसन ने रामपुर के पठानों की स्थायी प्रवृत्ति का रूप धारण कर लिया था। यह उनके जीवन का अविच्छिन्न अंग बन गया था, यहाँ तक कि वे अपना अधिकांश समय इसी में व्यतीत किया करते थे। युवावर्ग भी दिल खोलकर इस क्रीडा में लिप्त रहता तथा उनके माता पिता इसका कोई विचार न करते थे।[६०]

वाजिद अली शाह को भी इस मनोरंजन से अधिक प्रेम था। यहाँ तक कि मटिया बुर्ज में भी नियमित रूप से पाली आयोजित हुआ करती। उनमें नवाब अली नकी खाँ की कोठी में होने वाली पाली अत्यधिक प्रसिद्ध थी, जहाँ कलकत्ता से कतिपय अंग्रेज अपने मुर्ग लड़ाने को लाया करते थे।[६१]

२. बटेर-बाजी

लखनऊ बटेर-बाजी का प्रमुख केन्द्र था। इसका शौक नवाब सआदत अली खाँ के समय प्रारम्भ हुआ, जब पंजाब के कुछ कचन लोग लखनऊ आकर बस गए।[६२] वे अपने साथ घागस बटेर लाए थे, जिनको वे लड़ाया करते थे। बटेरों की दो किस्म होती थी—एक घागस और दूसरी चनग। चनग, घागस से कद में छोटा और नाजुक परन्तु लड़ने में अधिक प्रबल होता था। अतः उसकी लड़ाई अधिक शानदार होती थी।[६३]

बटेर की लड़ाई के लिए न किसी बड़े मैदान की आवश्यकता होती थी और न घर से बाहर निकल कर रहने तक जाने की। कमरे के अन्दर ही साफ सुथरे फर्श पर शिष्टता से बैठकर इसकी लड़ाई का दृश्य देखा जा सकता था। इसलिए लखनऊ के सभ्य व शिष्ट समाज ने इस को बहुत पसन्द किया।[६४]

वास्तविक प्रतियोगिता में भाग लेने के पूर्व बटेर को शरीर-निर्माण कार्य के अनेक स्तरों को पार करना पड़ता था।[६५] सर्वप्रथम, उसकी भीरुता को दूर करने के लिए, उसे पानी में भिगो भिगो कर घण्टों हाथों में दबा कर रखा जाता था, फलस्वरूप वह बोलने और चोंचें मारने लगता था। शरीर को सुडौल बनाने तथा चर्बी कम करने के लिए उसको सन्तुलित खुराक दी जाती थी। फिर रात गए या अर्द्ध रात्रि को उसके कान में चिल्ला कर 'कू' शब्द का उच्चारण किया जाता, जिसे बटेरबाजी की भाषा में कूकना कहते थे। इन प्रयासों के परिणामस्वरूप उसकी चर्बी

---

५९. नजमुल गनी, 'अखबारस्सनादीद', भाग-२, (लखनऊ, १९१८), पृ० ५११।
६०. वही।
६१ शरर, पृ० १४६।
६२ वही, पृ० १५०।
६३. वही।
६४. वही।
६५. 'ऑफ्जुर्वेशन', भाग-२, पृ० २१।

छँट जाती, भद्दापन दूर हो जाता और शरीर फुर्तीला तथा शक्तिशाली बन जाता। यही बटेर की तैयारी थी।[६६]

तत्पश्चात् वास्तविक लडाई का समय आता था। फर्श पर चारो ओर हल्का-हल्का दाना छिटका दिया जाता तथा बटेर काबुकों से निकाले जाते। पहले दोनो बटेरो की चोचें चाकू से बना कर खूब तेज व नुकीली कर दी जाती थी। तत्पश्चात् उनको एक-दूसरे के समक्ष छोड दिया जाता था। इस प्रकार बटेर की लडाई मुर्ग की लडाई के सदृश्य हुआ करती थी। वे एक-दूसरे को अपनी चोच से काटते तथा पजो से लात मारते थे। बटेर चाच से प्रतिद्वन्द्वी के मुख को घायल कर देता तथा कभी-कभी उसका पोटा तक फाड देता था। लडाई पन्द्रह बीस मिनट या इससे कुछ अधिक देर तक चला करती थी। अन्त म पराजित बटेर भाग खडा होता तथा फिर वह किसी बटर के सामन लडाई म नही ठहरता था।[६७]

बटेरो के लिए प्रथम, द्वितीय व तृतीय वर्ष म प्राप्त दक्षता के आधार पर तीन नाम निर्धारित किए जाते थे, जो क्रमश नया, नौकार व कुरज कहलाते थ। अन्तिम स्थिति दक्षता की चरम-सीमा होती थी। नये बटेरो को लडाना साधारण खेल समझा जाता था। विख्यात विशेषज्ञ तथा शौकीन रईस केवल कुरेजो को ही लडाते थे।[६८]

बटेरो की लडाई मे तरह-तरह के छल-कपट का प्रयोग भी किया जाता था।[६६] कुछ लोग अपने बटेर के मुँह पर कभी कोई एसी कडवी और जहरीली चीज या इत्र लगा देते थे जिसके फलस्वरूप विपक्षी बटेर दो-एक चोचें मारते ही पीछे हटने तथा लडाई से मुँह मोडने लगता था। और यदि इस पर भी वह लडता रहता, तो लडाई के बाद मर जाता था।[७०] कुछ लोग कैफ का खेल खेलते थे, अर्थात् लडाई के एक घण्टा पूर्व अपने बटेर को कोई ऐसी तेज नशीली चीज खिला देते थे जिससे कि वह लडाई से विमुख होकर भागना भूल जाता था तथा जबतक विपक्षी बटेर को पाली से बाहर न भगा दे, लडता रहता था।[७१] कैफ के खेल वाले उस्तादो मे एक व्यक्ति कैफ की अति उच्चकोटि की गोलियाँ तैयार करता था, जो सौ रुपए की दस गोलियाँ बिकती और लोग शौक से खरीद कर ले जाते थे।[७२]

बटेरो के नाम भी बडे शानदार रखे जाते थे, जैसे—रुस्तम, सोहराब, शहरा,

---

६६. शरर, पृ० १५० ५१।
६७. वही, पृ० १५१।
६८. वही, पृ० १५१-५२।
६६. वही, पृ० १५२।
७०. वही।
७१. वही।
७२. वही।

माफ़िक़ इत्यादि।[७३] पालियो मे एक-एक हज़ार रुपए तक की बड़ी-बड़ी बाज़ियाँ लगाई जाती थीं।[७४] इस खेल का शौक अनेक बादशाहो को भी रहा। नसीरुद्दीन हैदर अपने सामने मेज़ पर बटेरों की लड़ाई का आनन्द लेते थे।[७५]

पुराने बटेरबाज़ों मे मीर बच्चू, मीर उमदू, ख्वाजा हसन, मीर फ़िदा अली, आगा, मीर आबिद तथा सय्यद मीरन के नाम उल्लेखनीय हैं।[७६] ग़ालिब अली बेग, मिर्ज़ा असद अली बेग, नवाब मिर्ज़ा, मियां जान, शेख़ मोमिन अली तथा ग़ाज़ी उद्दीन खाँ ने उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे विशेष ख्याति अर्जित की।[७७] मटिया बुर्ज के दारोग़ा ग़ुलाम अब्बास, छोटे खाँ तथा ग़ुलाम मुहम्मद खाँ इस कला के अत्यधिक निपुण उस्ताद थे।[७८]

३. तीतरबाज़ी :

मुर्गबाज़ी तथा बटेरबाज़ी को अभिजात-वर्ग व राजन्य-वर्ग का सरक्षण प्राप्त था, जबकि तीतरबाज़ी संक्षिप्त रूप मे समाज के निम्नवर्ग तक ही सीमित थी।[७९] सम्भवत तीतर की कर्कश वाणी, उसकी अनाकर्षक आकृति, उसके पालन-पोषण व प्रशिक्षण मे अत्यन्त कठिनाइयाँ, अधिकांशत. निर्धन वर्ग के लोगो द्वारा उसे पालना तथा इन सब बातो का अभिजात-वर्ग की रुचियो के प्रतिकूल होना, कुछ ऐसे कारण थे, जिनके आधार पर इस खेल को लोकप्रियता प्राप्त न हो सकी। इसके अतिरिक्त जब बटेर-बाज़ी को प्रमुखता प्राप्त हो गई, तो इसके शौक को और भी आघात लगा।[८०]

तीतरो को सूरमा बनाने के लिए बड़ी तैयारियाँ करनी पड़ती थीं। उनको नियमित रूप से लोटाया व दौड़ाया जाता था।[८१] यह व्यायाम उनके शरीर को गठीला व बलिष्ठ बनाने के लिए करवाया जाता था। उनमे साहस तथा रोष उत्पन्न करने के लिए उन्हे दीमक खिलाई जाती थी।[८२] उनकी लड़ाई की विशेषता थी

---

७३ वही।

७४. वही।

७५. विलियम नाइटन, 'द प्राइवेट लाइफ़ आव एन ईस्टर्न किंग', सम्पादक एस० बी० स्मिथ, (ऑक्सफ़ोर्ड, १९२१), पृ० १४७-५०; अहद अली (अनु०) 'शबाब-ए लखनऊ', (लखनऊ, १९१२), पृ० ११९-२१, शरर, पृ० १५२।

७६. शरर, पृ० १५३।

७७. वही।

७८. वही।

७९. वही।

८०. वही।

८१ वही।

८२. वही।

वे कि लडते समय ऊपर उछल उछल कर एक दूसरे पर वार किया करते, तथा कुछ क्षणो तक हवा मे ही एक दूसरे से गुथे रहा करते थे। यह दृश्य अत्यन्त रोचक होता था।

तीतर की नस्ल का एक अन्य क्रीडा-पक्षी—'लोआ' था। यह एक छोटे प्रकार का तीतर था, जो बटेर से भी छोटा होता था।[८३] अन्य पक्षिया को लडाने के लिए मुट्ठी भर अनाज बिखेरना पडता था, किन्तु लोआे को लडाने के लिए मादा का पिजडा ला कर सामने रखना पडता था।[८४] इससे कम में लडाई मोल लेना वह निरर्थक ही समझता था। लोए की लडाई बटेर की लडाई से अधिक आकर्षक होती थी। वह बुन्दे खोल-खोल कर लडता और गुथ जाता था, तथा पुष्पवत् खिल खिल कर उठता और गिरता था। लोआे की तैयारी भी अधिकाशत लोट और भूख से होती थी। उसकी लडाई का प्रचलन बटेरबाज़ी के पूव से ही था, परन्तु अन्त मे बटेरबाज़ी इस तरह लोकप्रिय हुई कि लोए का शौक फीका पड गया।[८५]

४ गुलदुम लडाना

'गुलदुम' एक प्रकार का पक्षी था, जिसकी दुम पर लाल पुष्प का चिह्न बना होता था। इसी कारण इसका नाम 'गुलदुम हुआ।[८६] परन्तु इस पक्षी को लोग भ्रमवश 'बुलबुल' कहते थे, जो वस्तुत बदखशा तथा अजम की एक गायक चिडिया होती थी। गुलदुम की लडाई का शौक भी समाज के निम्नवर्ग तक ही सीमित था।[८७] परन्तु इसका यह अर्थ नही कि उसकी लडाई आनन्दविहीन हुआ करती थी। यह दृश्य बडा आनन्दप्रद होता था, साथ ही दर्शनीय भी कि एक दाना किस प्रकार दो गुलदुमा के मध्य सघर्ष का कारण बन जाता था।[८८] युद्ध के दौरान वे ऊपर उड कर एक दूसरे पर आक्रमण करत और आपस म गुथ कर नीचे गिरते थे।[८९] जबतक कि उनम से कोई एक पूणत पराजित होकर लम्बायमान न हो जाता अथवा खदेड न दिया जाता, तबतक इसी प्रकार लडाई का क्रम चलता रहता था।

इस खेल की एक विशिष्टता, जो अन्य पक्षियो के द्वन्द्व युद्ध मे नहीं पाई जाती थी, यह थी कि कभी-कभी युद्धस्थल मे दो से अधिक पक्षी एक एक करके छोडे जाते थ। ऐसे युद्ध का आनन्द कुछ और ही होता था। 'बुलबुलो की लडाई' कविता म नजीर अकबराबादी ऐसे ही एक युद्ध का वर्णन करते हैं, जिसम एक साथ चार पक्षियो द्वारा

---

८३ वही, पृ० १५४।
८४ वही।
८५ वही।
८६ वही।
८७ वही।
८८ वही।
८९ वही।

एक खुली लडाई मे भाग लेकर दर्शकों का अत्यधिक मनोरंजन करने का उल्लेख मिलता है।[६०]

५. लाल-लडाना :

अपनी लघुता के कारण यह पक्षी मात्र पिंजडे मे रख कर पालने के लिए ही उपयुक्त था, लडाई के लिए नही। फिर भी पक्षी-युद्ध के शौकीनो ने पिंजडे की परिधि से निकाल कर इस छोटे कोमल पक्षी को भी युद्ध के दावँ-पेचो मे दक्ष कर दिया और हठपूर्वक उसे भी परस्पर लडने की शिक्षा प्रदान करके अपने क्षुद्र स्वार्थ का ही परिचय दिया।[६१] लाल को लडाने की व्यवस्था मे अत्यधिक कठिनाइयाँ सम्मुख आती थी। प्रथम तो सदैव यही भय बना रहता था, कि कही पिंजडे से बाहर निकालते ही वह उड न जाए। दूसरे, यह भी आवश्यक नही था कि वह लड़ने को उद्यत हो ही जाए।[६२] अत उनका लड जाना ही कठिन होता था। परन्तु जब लड जाते तो खूब गुथ-गुथ कर और उड-उड कर लडते, तथा बडी देर तक लडते रहते।[६३] लालो की लडाई अन्य छोटे पक्षियो की लडाई की अपेक्षा अधिक देर तक चलती थी। यह मनोरंजन अधिक लोकप्रिय नही हुआ तथा समाज के मात्र निम्नवर्ग के मनोरंजन का ही विषय रहा।[६४]

(द) पशु-युद्ध :

जन-साधारण अपनी आर्थिक-स्थिति के कारण मनोरंजन के सस्ते व सुलभ साधनों की ओर ही आकर्षित होता है। अत जहाँ जन-साधारण अपनी मनोरंजन की पूर्ति के लिए अत्यन्त अल्प-व्ययी पक्षी-युद्ध मे रुचि लेता था, वहाँ बादशाह व कुलीन वर्ग अपनी आर्थिक सम्पन्नता के सहारे मनोरंजन के लिए व्यय करने मे हिचकिचाते न थे तथा अत्यन्त ही भयानक पशुओ के युद्धो का आयोजन करते थे, यह निम्न व मध्यम-वर्ग के सामर्थ्य से परे की बात थी।[६५] शेर, चीता, तेंदुआ, हाथी, ऊँट, गेंडा, बारहसिंगा तथा मेढा आदि पशु इस उद्देश्य पूर्ति के लिए उपयुक्त थे। गाजीउद्दीन हैदर, जिन्हे भयावह पशुओ के युद्धो को देखने का बहुत शौक था, ने मोती महल मे नदी के तट पर दो नई कोठियो, 'मुबारक मंजिल' व 'शाह मंजिल' का निर्माण इसी उद्देश्य से कराया था। वहाँ से वे सुगमतापूर्वक नदी के दूसरी पार दक्ष रखवालो के निर्देशन मे आयोजित होने वाले पशु-युद्धो का आनन्द-लाभ करते थे।[६६] इस कार्य के लिए असख्य विशेषज्ञो तथा सेवको को नियुक्त किया गया था, तथा

---

६० 'कुल्लियात ए-नज़ीर', पृ० ४७३-७४।

६१. शरर, पृ० १५५।

६२. वही।

६३ वही।

६४ वही।

६५. वही, पृ० १४६।

६६. वही, पृ० १३८।

विस्तृत व्यवस्थाएँ की जाती थी। इन रखवालो का काय कोई सरल न था क्योंकि उन्हे जगली पशुओं को नियन्त्रण मे रखना पडता था अन्यथा वे लडाई म उग्रतम रूप धारण कर सकते थे। सैकडो साटेमार तथा वलम बरदार नियुक्त थे जो लोहे की दहकती हुई सलाखा और आतिशबाजियो के सहारे ही उनको अपनी इच्छानुसार हाँक पाते थे युद्ध के पश्चात् शेरों और तेंदुओ को कठघरो म बन्द कर पाते थे। अत उन लोगो की फुर्ती चालाकी चाल ढाल तथा चतुरता स्वय पशुओ की लडाई से अधिक चित्ताकर्षक तथा आश्चर्यजनक होती थी।[९७]

१ शेर युद्ध

गाजीउद्दीन हैदर के पास शेरो का एक दर्शनीय समूह था।[९८] उनम कुछ विभिन्न मुठभेडो म विजयश्री वरण कर लेने के कारण बादशाह को विशेष प्रिय थे। युद्ध के समय उनके कठघरे युद्ध-स्थल पर लाकर खोल दिए जाते थे। दोनो प्रतिद्वन्द्वी छूटते ही गुर्रा कर एक दूसरे पर आक्रमण करते दाँतो व पजो से एक-दूसरे को घायल करते व आपस म गुथ जाते। कभी पहला विजित होता प्रतीत होता कभी दूसरा। दीर्घकाल तक अत्यन्त भयकर युद्ध होता रहता जिसम कभी तो एक प्रतिद्वन्द्वी को अपने प्राणो से हाथ धोना पडता अथवा कभी बुरी तरह घायल होकर हिम्मत हारने और अधिक खून निकल जाने के कारण कमजोर होकर भागना पडता। उसका प्रतिद्वन्द्वी क्रोधोन्मत्त होकर उसका पीछा करता। उस समय उन दोनो को सभालने तथा नियन्त्रण मे लाने के लिए लडाने वालो की चतुराई व उनकी दौड धूप और कारिस्तानियाँ देखने योग्य होती।[९९]

कभी कभी युद्ध को अधिक रोचक बनाने के लिए शेर को तेंदुआ या हाथी से लडा दिया जाता था परन्तु उनकी लडाई जोरदार नहीं होती थी। अत उनके परिणाम भी अनुमान के विपरीत हुआ करते थे।[१००] सर्वाधिक रोचक भिडन्त शेर व गडे का हुआ करती थी। शेर के क्रूर तथा भयकर आघात गडे की कठोर खाल पर प्रभावहीन सिद्ध होते थे गडा अन्त म अपना सीग शेर के पेट म इस प्रकार प्रविष्ट कर देता था कि उसकी आँते बाहर निकल आती और वह तत्काल धराशायी हो जाता। उनके युद्ध म कठिनाई से ही कभी ऐसा होता कि शेर गडे को चारो खाने चित्त गिरा कर अपने पजो तथा दाँतो से उसका पेट फाड डाले वरना प्राय यही होता कि गडा अपना सीग मार कर शेर को मार डालता।[१०१]

कभी कभी शेर व तेंदुए की भी मुठभेड करा दी जाती थी जिसमे अधिकतर शेर ही विजय प्राप्त करता था। परन्तु कभी कभी तेंदुआ भी अपने विपक्षी को

---

९७ वही पृ० ११८-११९।
९८ वही पृ० ११९।
९९ वही।
१०० वही।
१०१ वही पृ० ११९ २०।

पराजित कर दिया करता था।[१०२]

नसीरुद्दीन हैदर के काल मे एक भयकर घोडा उन्मत्त हो गया था जिसने कई जीवन-लीलाएँ समाप्त कर डाली थी। उसको सर्वप्रथम पृथक्-पृथक् रूप से दो शेरो से और तत्पश्चात् सामूहिक रूप से तीन अरने भैंसो से लडाया गया। सर्वाधिक आश्चर्य की बात यह थी कि वह अश्व सभी युद्धों मे विजयी रहा तथा बादशाह की प्रशसा का पात्र बना, जिन्होंने अन्त मे उसके प्राणो की सुरक्षा का निश्चय किया।[१०३]

२. चीता-युद्ध :

वैसे तो सभी पशु, युद्ध से दो-एक दिन पूर्व से भूखे रखे जाते थे, परन्तु चीते के विषय मे इसका विशेष प्रबन्ध करना पडता था, क्योंकि वह जितना अधिक क्रूर एव भयकर होता था उतना ही कभी-कभी डरपोक व बुजदिल भी सिद्ध होता था। अत. मैदान मे जब उसका जी चाहे लडता था और जब जी न चाहे तो अनेक यत्न करने पर भी न लडता।[१०४] युद्ध मे वह कतराता हुआ प्रतिद्वन्द्वी पर वार करता था। पहले दोनो ही एक दूसरे को पस्त करके घायल करना चाहते थे। ऐसी दो-एक जस्तो के पश्चात् दोनो पिछले पाँवो पर खडे होकर पजो से लडने लगते थे। यह बडा रक्त-रंजित युद्ध होता था जिसमे दोनो गुर्राते जाते थे तथा प्रतिद्वन्द्वी पर पजे मारते जाते थे। अन्त मे शक्तिशाली चीता निर्बल को गिराकर पजा से मार देता था। परन्तु इसम वह स्वय भी सिर से पाँव तक घायल हो जाता था।[१०५]

३. हस्ती युद्ध :

अत्यधिक दिलचस्प होने के कारण हस्ती युद्ध बहुत लोकप्रिय हो गया था। यह शौक इस सीमा तक बढा हुआ था कि नसीरुद्दीन हैदर के पास केवल युद्ध हेतु लगभग डेढ सौ हाथी थे, जिनका सवारी स कोई सम्बन्ध नही था।[१०६] उनमे से एक हाथी, जिसने सौ लडाइयाँ जीतकर असाधारण गौरव प्राप्त किया था, बादशाह का विशेष प्रिय-पात्र था।[१०७]

हाथियो की लडाई के लिए शर्त यह थी कि वे मस्त हो गए हो, क्योंकि जब तक वे मस्त न हो लडते नही थे।[१०८] लडाई के समय उनकी गर्दन से लेकर दुम तक एक रस्सा बधा होता था, जिसे थाम हुए महावत उसकी गर्दन पर जमा बैठा

---

१०२ वही, पृ० १४१।

१०३ इन युद्धो के विस्तृत विवरण के लिए देखिए, 'प्राइवेट लाइफ़', पृ० ६६-१०८, अहदअली, पृ० ७८-८५; शरर, पृ० १४०-४१।

१०४ शरर, पृ० १४१।

१०५. वही; नसीरुद्दीन हैदर के समय में चीता के युद्ध के विस्तृत विवरण के लिए देखिए, 'प्राइवेट लाइफ़', पृ० १५३-६०, अहदअली, पृ० १२७-३२।

१०६ 'प्राइवेट लाइफ़', पृ० १६६, अहदअली, पृ० १३७; शरर, पृ० १४१-४२।

१०७. 'प्राइवेट लाइफ़', पृ० १६६, अहदअली, पृ० १३७।

१०८. शरर, पृ० १४२।

रहता था।[१०९] आमना-सामना होते ही दोनो हाथी सूडें तथा दुम उठाकर जोर से चिंघाडते हुए एक दूसरे पर झपट पडते थे, और उनमें बडी जबर्दस्त टक्कर होती थी। तत्पश्चात् बराबर टक्करों पर टक्करें होती रहतीं, जिनकी आवाज बडी दूर तक जाती थी। फिर दोनो एक दूसरे से मुंह मिलाकर तथा दांतो को अडाकर एक दूसरे को रेलना व ढकेलना प्रारम्भ करते। उस समय उनके महावत अकुश मार मार कर और अधिक जोर लगाने के लिए उन्हे प्रोत्साहित करते रहते थे। अन्त मे, कोई एक हाथी कमजोर पडता तथा रेले की ताव न सहकर पृथ्वी पर गिर पड़ता। विजयी हाथी उस समय दांत से उसका पेट फाड डालता। कभी-कभी हाथी कमजोर पडते ही दांत छुडाकर भाग जाने का प्रयास भी करता था।[११०]

जैसाकि श्रीमती मीर हसन अली ने लिखा है, 'मदोन्मत्त हाथियो के बीच युद्ध एक ऐसा मनोविनोद है, जो केवल मात्र क्रूर हृदय वालो के लिए उपयुक्त है, तथा जिसका आनन्द बहुधा लिया जाता है। महावत (वह व्यक्ति जो चालक के रूप मे हाथी की गर्दन पर बैठता है) लोग प्राय अपने कुलीन स्वामियो के निकृष्ट आमोद के शिकार हो जाते है। वास्तव मे जिस जालिम का उन्हे सामना करना पडता है, वह इतनी गम्भीर होती है कि उससे बच निकलना एक चमत्कार ही समझा जाता है।'[१११] इस प्रकार अपनी क्षणिक एव सदिग्ध व्यक्तिगत सुखानुभूति के लिए इस दल के अमीर बहुमूल्य मानव-जीवन की बलि क्रूरतापूर्वक चढाने मे तनिक भी सकोच नही करते थे।

कभी-कभी हाथियो से गैंडे भी लडाए जाते थे। परन्तु कठिनाई यह होती थी कि ये दोनो पशु आपस मे लडते ही न थे।[११२] यदि कभी लड जाते तो निस्सन्देह बडी भयकर लडाई होती थी। यदि कभी हाथी गैंडे को ढकेल कर उलट देने मे सफल हो जाता तो उसके दांत पेट मे पैवस्त होकर उसका काम तमाम कर देते और यदि गैंडे को अपना सीग हाथी के पेट मे घुमडने का अवसर मिल जाता तो खाल दूर तक फट जाती थी।[११३]

४ ऊट युद्ध :

यद्यपि ऊँट युद्ध के लिए अनुपयुक्त हुआ करते थे, तथापि युद्ध-लिप्सुओं की

---

१०९ प्राइवेट लाइफ़', पृ० १६७; अहदअली, पृ० १३८; शरर, पृ० १४२।

११० शरर, पृ० १४२; विस्तृत विवरण के लिए देखिए, प्राइवेट लाइफ़', पृ० १६७-७०; अहद-अली, पृ० १३७-४१।

१११ 'ऑब्जर्वेशन्स', भाग-२, पृ० २६-३०; ऐसी घटनाओ के विस्तृत विवरण के लिए, जिनमें महावतो ने या तो अपनी जान गवा दी अथवा अलौकिक रूप से बच निकले, देखिए, प्राइवेट लाइफ़, पृ० १७०-७१, १७३-७४, अहदअली पृ० १४०-४१ १४३-४४।

११२ शरर, पृ० १४२।

११३ वही; प्राइवेट लाइफ़', पृ० १६४-६५, अहदअली, पृ० १३५-३६।

रुचि के कारण मुठभेड़ के लिए उन्हें तैयार किया जाता था।[११४] यह पशु अपनी पकड़ के लिए प्रसिद्ध था। युद्ध में जिसे अवसर मिल गया, प्रतिद्वन्द्वी का लटकता हुआ होठ दाँतो में पकड़ लेता तथा खींचना प्रारम्भ कर देता। जिस ऊँट का होठ प्रतिद्वन्द्वी के दाँतो में आ जाता वह प्रायः गिर पड़ता, और हार जाता तथा लड़ाई समाप्त हो जाती।[११५]

५. गैंडा-युद्ध :

यदि एक ओर गठीले गैंडो को परस्पर लड़ाया जाता था, तो दूसरी ओर उन्हें हाथी, शेर व तेंदुए आदि पशुओं से भी लड़ाया जाता था।[११६] नसीरुद्दीन हैदर के पास लड़ने वाले पन्द्रह बीस गैंडे थे, जिन्हें नगर से तीन मील दूर चाँदगज में रखा जाता था।[११७] परस्पर युद्ध के लिए जब सवार उन्हें रगेद कर एक दूसरे के समक्ष कर देते, तो वे सिर झुका कर एक दूसरे की ओर दौड़ते, और टक्करें होने लगती। दोनो का यही प्रयास होता कि प्रतिद्वन्द्वी के पेट को अपने सींग में फाड़ डालें। इसी प्रयास में वे देर तक एक-दूसरे को रेलने-पेलते व ढकेलते रहते, जोर-जोर से गुर्राते, सींग को सींग से टकराते तथा अन्त में लड़ते-लड़ते सिर जोड़ कर गुथ जाते और प्रतिद्वन्द्वी को ढकेलते रहते। यहाँ तक कि दोनों में से जो निर्बल पड़ता, वह धीरे-धीरे हटने तथा स्थान छोड़ने लगता। यदि इस पर भी प्राणरक्षा कठिन दीखती तो भागता था। परन्तु उसका प्रतिद्वन्द्वी उसे रगेद-रगेद कर मारता था। अन्त में निर्बल अपना सींग अलग करके मुकाबले से मुँह मोड़ता तथा बड़े जोर से भागता था। यदि मैदान संकुचित होता, तो विजयी प्रतिद्वन्द्वी उस पर आक्रमण करके उसे गिराता तथा पेट में सींग भोंक कर उसका काम तमाम कर देता, और मैदान खुला होता तो पराजित गैंडा यदि भाग सका, तो भाग कर अपनी जान बचा लेता।[११८] उस समय सवार रगेद-रगेद कर तथा गरम सलाखों से मार-मार कर, विजयी को पराजित पर आक्रमण करने से रोकते व उसे वहाँ से हटा ले जाते थे।[११९] गैंडो की लड़ाई की समस्त युद्ध-चतुराई इसमें थी कि वे सिर झुकाए तथा अपने पेट को बचाए रहे। यदि दोनों में किसी एक का सिर उठ जाता तो दूसरा अपना काम कर गुजरता था।[१२०]

६ बारहसिंगा-युद्ध :

लखनऊ में बारहसिंगा जैसे कोमल व सुन्दर पशु को भी बल-परीक्षण के लिए

---

११४. 'प्राइवेट लाइफ', पृ० १६१, अहदअली, पृ० १३२; शरर, पृ० १४३।
११५. वही।
११६. 'प्राइवेट लाइफ', पृ० १६१–६६; अहदअली, पृ० १३१–३७, शरर, पृ० १४३।
११७. 'प्राइवेट लाइफ', पृ० १६२, अहदअली, पृ० १३३; शरर, पृ० १४३।
११८ शरर, पृ० १४३–४४।
११९ शरर, पृ० १४४; 'प्राइवेट लाइफ', पृ० १६३; अहदअली, पृ० १३४।
१२०. शरर, पृ० १४४; 'प्राइवेट लाइफ', पृ० १६४ अहदअली, पृ० १३५।

विवश किया जाता था।[१२१] मुकाबले के समय सर्वप्रथम दोनों प्रतिद्वन्द्वी बड़े ढंग से पैतरे बदलते और फिर टक्करें होने लगती। देर तक टक्करों के पश्चात् दोनों के सींग आपस में विचित्र रूप से उलझ जाते थे। अब वे एक दूसरे को ठेलने व ढकेलने रहते। इसी रेलापेली में एक निर्बल पड़ जाता तथा कुछ ही देर में ऐसा भयभीत हो जाता कि उसके कोमल पाँव थरथराते और सारा तन डगमगाने लगता था। परन्तु उसका प्रतिद्वन्द्वी तरस खाने की अपेक्षा जोश में आकर और ढकेलता तथा ढकेलते हुए उसे मैदान के अन्त अथवा टाटर तक पहुँचा देता था। अब वह बेचारा पूर्णत निराश हो जाता था। उसकी आँखों में बड़े बड़े आँसू तथा सींगों से लहू की बूँदें टपकने लगती थी।[१२२] शीघ्र ही वह सींग घुमाकर युद्ध से मुँह फेरने लगता था। उस समय प्रतिद्वन्द्वी अपने सींगों से उसके शरीर को घायल करना प्रारम्भ कर देता और पराजित बारहसिंगा वेगपूर्वक भागता था। उतनी ही शीघ्रता से प्रतिद्वन्द्वी उसका पीछा करता तथा जहाँ पाता उसे घायल करता। अन्त में घावों से चूर करते-करते उसे मार डालता और उसकी लाश को अपने सींगों से भभोड़ कर हटता व अपनी सफलता पर गौरवान्वित होता था।[१२३]

७ मेढ़ा-युद्ध।

लड़ाई के लिए मेढ़ों को पालने व प्रशिक्षित करने का कार्य बहुधा कसाई आदि समाज के निम्नवर्गीय व्यक्ति करते थे।[१२४] कुलीन-वर्ग के लोग इच्छानुसार उनकी लड़ाई का तमाशा देख लिया करते थे। नवाब आसफउद्दौला तथा सआदत अली खाँ को मेढ़ों की लड़ाई देखने का अत्यधिक शौक था। गाजीउद्दीन हैदर व नसीरुद्दीन हैदर के सामने भी बहुधा मेढ़े लड़ाए जाते थे। वाजिद अली शाह को अपने कलकत्ता के निष्कासन काल में भी इसका शौक था।[१२५] दो मेढ़ों का भयंकर रूप से सर के बल परस्पर टकराना इस खेल की विशिष्टता होती थी परिणामस्वरूप उनकी खोपड़ियाँ फट भी जाया करती थी।[१२६]

(य) घर के अन्दर खेले जाने वाले खेल

१ शतरंज

शतरंज का खेल सामान्यत मुसलमानों में तथा विशेषत अभिजात वर्ग में अधिक लोकप्रिय था। यद्यपि कहा जाता है कि पैगम्बर ने ऐसे समस्त खेलों को

---

१२१ 'प्राइवेट लाइफ', पृ० १५०; अहदअली, पृ० १२१, शरर, पृ० १४४।

१२२ शरर, पृ० १४५ विस्तृत विवरण के लिए देखिए, प्राइवेट लाइफ', पृ० १५०-५३ अहद-अली, पृ० १२१-२४।

१२३ शरर, पृ० १४५।

१२४ वही।

१२५ वही।

१२६ वही, पृ० १४६।

द्ध घोषित किया, जिसका निर्णय संयोग पर निर्भर करता था,[127] तथापि यही ऐसा खेल था जिसको मुसलिम विधिवेत्ताओं ने न्यायोचित ठहराया क्योंकि यह य अथवा संयोग पर आधारित न होकर बुद्धि पर आधारित था।[128] इस खेल उद्गम का विषय अत्यधिक विवादग्रस्त है,[129] परन्तु हम निश्चित रूप से के०एम० रफ के भारतीय व्युत्पत्ति के मत का अनुमोदन कर सकते हैं।[130]

इस खेल के लिए पूर्ण विश्रान्ति एवं तन्मयता की आवश्यकता होती थी, अतः लोग इसका पूर्णरूपेण वास्तविक आनन्द ले सकते थे, जिनकी आर्थिक स्थिति ढ होती थी। अथवा यों कह सकते हैं कि यह प्रायः एक शाही अभिरुचि का खेल । इसकी यह विशिष्टता इसके घटकों व मोहरों के नामकरण से, यथा बादशाह, जीर, फील, घोड़ा, ऊँट तथा प्यादे एवं इसकी सरचना से स्पष्ट हो जाती है। खेल दो बादशाहों के मध्य मुकाबला था, जिसमें प्रत्येक अपनी सम्पूर्ण सशस्त्र ना की सहायता तथा युद्ध की कूटनैतिक चालों से विपक्षी को पराजित करने का ाम करता था।

निःसन्देह यह खेल मध्ययुग में उच्चवर्गीय मुसलमानों में लोकप्रिय था। ठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अभिजात वर्ग ने उत्तराधिकार के रूप में इस रुचि ो ग्रहण किया।[131] शतरंज की प्रशंसा में नजीर अकबराबादी ने फारसी में नम्नांकित पद्य की रचना की थी :—

दो गुल हस्तन्द दर मन्सूबा साज़ी
अजब सिर मुहरा दार सर फ़राज़ी
बिसात अज़ तरह सद इशरत यगाना
रुखे-फरहत अर्था दर खाना खाना[132]

(मानो दो फूल शतरंज के मोहरों की भाँति अपना सिर कटाने के लिए रस्पर स्पर्धा करते हुए एक दूसरे को नीचा दिखाने में लगे, षड्यन्त्र कर रहे हैं। रम्भ से ही अत्यन्त भोगलिप्सा में रत रहने की अपनी आदत से मजबूर हैं यद्यपि तरज के मोहरे की भाँति दर-दर घूमना पड़ता है)।

इस खेल के लिए कोई समय निर्धारित नहीं था। यह पूर्णतः खेलने वालों की मन स्थिति पर निर्भर करता था। अर्ध-रात्रि तक शतरंज खेलते रहना सामान्य-

---

१२७ जॉर्ज सेल, 'द कुरान', (लन्दन, १८४४), पृ० ८६, ६३ नोट।
१२८ 'इस्लाम इन इण्डिया', पृ० ३३१।
१२६. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, भाग-६, पृ० १००, एच० जे० आर० मूरे, 'हिस्ट्री ऑव चैस', (ऑक्सफोर्ड, १६१३)।
१३०. अशरफ, पृ० २६५।
१३१ दीवान-ए मुसहफी', भाग-६, पृ० १५० अ, १५६ ब; 'दरिया ए लताफत', (मूल पाठ), पृ० १४२; 'कुल्लियात-ए-इन्शा', पृ० २११।
१३२. 'कुल्लियात-ए-नजीर', पृ० ६४६।

मी बात थी, जैसाकि मिर्जा गालिब ने आगरा के मुंशी शिवनारायण रईस को लिखे अपने एक पत्र मे स्वीकार किया है।[133] वह आगरा मे मुंशी बशीधर के साथ शतरज खेला करते थे जिनका निवास स्थान गालिब के निवास स्थान के समीप ही था। मोमिन खाँ भी शतरज के प्रवीण खिलाडी थे, तथा उन्होने इस खेल मे अपने कौशल व कुशाग्र बुद्धि के कारण ख्याति अर्जित की थी।[134] वे दिल्ली के एक या दो सर्वश्रेष्ठ खिलाडियो के अतिरिक्त किसी से कम न थे। वे दिल्ली के विख्यात शतरज खिलाडी करामत अली खाँ के साथ खेला करते थे। यह खेल खिलाडियो को इतना तन्मय कर देने वाला होता था कि वे इसमे अन्य सब कुछ भूल जाया करते थे।[135]

२ पच्चीसी :

लोकप्रियता की दृष्टि से शतरज के पश्चात् पच्चीसी का स्थान था,[136] जो चौपड के समान खेला जाता था, केवल उसकी बिसात के स्वरूप व रग मे कुछ भिन्नता होती थी। पच्चीसी की बिसात मे चार आयत हुआ करते थे, जिनके सँकरे किनारो को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाता था कि केन्द्र में एक वर्ग बन जाय। प्रत्येक आयत को चौबीस छोटे वर्गाकार खानो मे विभक्त कर दिया जाता था, जो आठ आठ की तीन पक्तियो मे होते थे। यह खेल साधारणत चार व्यक्तियो द्वारा खेला जाता था। प्रत्येक व्यक्ति के पास पहचान हेतु भिन्न भिन्न रग के चार हाथी दाँत के अथवा लकडी के पासे होते थे, जो 'गोट' अथवा 'गोटी' कहलाते थे। प्रत्येक व्यक्ति उन आयतो के सामने बैठ जाता था। उसकी गोटियाँ एक-एक करके अपने आयत की मध्य पक्ति से तथा केन्द्रीय स्थान के आगे के वर्ग से प्रारम्भ होती थी। तत्पश्चात् वे बिसात की बाहरी पक्तियो के चारो ओर विपक्षियो के आयतो से गुजरती हुई दायें से बायें तब तक चलती रहती थी जबतक कि उस मध्य पक्ति मे न आ जाती, जहाँ से उन्होंने चलना प्रारम्भ किया था। कोई गोटी यदि विपक्षियों में से किसी की गोटी से पिट जाती, तो उसे उठाकर उसके पूर्व स्थान पर पटक दिया जाता था जहाँ से उसने चलना प्रारम्भ किया था। केवल गुणित के चिह्न वाले बारह वर्ग ऐसे विशेषाधिकार युक्त होते थे, जिन पर विपक्षी की गोटी द्वारा वह पिट नही

---

१३३ 'उर्दू ए-मुअल्ला', पृ० २९२।

१३४. 'आब-ए हयात', पृ० ४२३।

१३५. वही।

१३६ 'कानून ए-इस्लाम', परिशिष्ट ७ पृ० ५२, पच्चीसी हिन्दुओ का एक प्राचीन खेल है जिसे अजन्ता गुहाओ के एक भित्ति–चित्र में चित्रित किया गया है (गजेटियर ऑव द बॉम्बे प्रेजिडेन्सि, सम्पादक सर जे० कैम्पबेल, बम्बई, XII, पृ० ५२९), फतहपुर सीकरी में पंचमहल के नीचे चतुष्कोण आँगन में पाषाण के समायता में चिह्नित खण्डो को वह स्थान कहा जाता है जहाँ सम्राट अकबर पच्चीसी खेलते थे जिसमें गोटियों के स्थान पर दासियों का प्रयोग किया जाता था।

सकती थी। ऐसी स्थिति में बराबर आ जाने वाली गोटी आगे नहीं बढ़ सकती थी। गोटियों का संचालन छः या सात कौड़ियों को पासे के रूप में फेंक कर निर्धारित किया जाता था, जिनकी गणना चित या पट पड़ने के अनुसार होती थी। एक चित कौड़ी के १०, दो के २, तीन के ३, चार के ४, पाँच के २५ छः के ३०, सात के १२ तथा यदि कोई कौड़ी चित न पड़ती तो ६ गिने जाते थे। २५ या ३० की कौड़ियाँ फेंकने वाले को एक बार पुन. कौड़ियाँ फेंकने का अवसर दिया जाता था। अन्त में गोटी को केन्द्रीय स्थान में ले जाने के लिए जितने वर्ग शेष रह जाते थे, उससे एक अधिक संख्या की कौड़ियाँ फेंकना आवश्यक होता था। तत्पश्चात् वह गोटी बिसात से उठाली जाती थी। यदि गोटी अन्तिम वर्ग पर ही रुक जाती थी, तो तब तक केन्द्र में प्रवेश नहीं कर सकती थी, जब तक कि कौड़ियाँ फेंक कर २५ या ३० की संख्या प्राप्त नहीं की जाती थी।

खिलाड़ी बारी बारी से कौड़ियाँ फेंकते थे। प्रत्येक तबतक फेंकता रहता था, जब तक कि २, ३ अथवा ४, संख्या की कौड़ियाँ न फेंके; इसके बिना वह बारी खो बैठता था। यदि कोई अंक बराबर तीन बार फेंका जाता, तो उसकी गणना नहीं की जाती थी। चूँकि यह खेल प्रायः छः कौड़ियों से खेला जाता था जिसमें सर्वोच्च अंक २५ होते थे, इसलिए इसे पच्चीसी कहा जाता था। प्रयोग में लाई जाने वाली बिसात कालीन होती थी: जो अलंकृत होती थी तथा विभिन्न रंगों के कपड़ों से सजी होती थी। *कभी-कभी यह खेल दो व्यक्तियों द्वारा भी खेला जाता था,* जिनमें से प्रत्येक आमने-सामने के दो आयतों को ले लिया करता था। प्रत्येक के पास आठ-आठ गोटियाँ होती थी जिन सभी को वह अपने से अगले आयतों से चलता था। यह खेल उस समय तक चलता रहता, जब तक कि चार में से तीन खिलाड़ी खेल से अलग नहीं हो जाते थे। वे इसे धन के लिए कभी नहीं खेलते थे।[१३७]

३. चौसर।

इस खेल का नाम चौसर[१३८] इसलिए पड़ा कि इसकी बिसात गुणित चिह्नाकार की होती थी। चौपड़ की भाँति इस खेल को भी या तो चार खिलाड़ी चार-चार गोटियों से, या दो खिलाड़ी आठ-आठ गोटियों से खेलते थे। यह खेल रंग व आकृति में चौपड़ से भिन्न होता था, तथा इसमें कौड़ियों के स्थान पर पासे प्रयुक्त होते थे। बिसात की आकृति चार आयतों से बनी गुणिताकार होती थी, जिनके संकुचित किनारे इस प्रकार स्थित होते थे कि केन्द्र में वर्गाकार स्थान बन जाता था। प्रत्येक आयत शतरंज के खानों के समान आठ लम्बे व तीन चौड़े वर्गाकार खानों से युक्त होते थे। खिलाड़ी एक-एक करके अपनी चार गोटियों को अपने आयत की

१३७ 'कानून-ए इस्लाम', परिशिष्ट ७, पृ० ५२-५३, फुटनोट।
१३८. वही, पृ० ५२।

मध्य पंक्ति से चलना प्रारम्भ करके, केन्द्रीय स्थान के समीप वाले वर्ग से चलते हुए, वर्गाकार की बाहरी पंक्ति में चतुर्दिक तब तक चलता था जब तक कि गोटियाँ अपने चलने के पूर्वस्थान पर नहीं पहुँच जाती थी। गोटियाँ यदि बचाई नही जातीं, तो विपक्षी द्वारा पीट दी जाती थीं, तथा उन्हे पुनः चलना पड़ता था। मेल तब तक चलता रहता था, जब तक कि चार मे तीन खिलाडी अपनी गोटियो को बिसात के चारों ओर घुमाने मे सफल न हो जाते थे।[१३९]

४ चौपड़ :

चौपड़[१४०] भी उपर्युक्त वर्णित पच्चीसी व चौसर की भाँति कपड़े की गुणिताकार बिसात पर खेला जाता था। इसकी प्रत्येक भुजा आठ-आठ वर्गों की तीन पंक्तियों में विभक्त होती थी, जिनमे से बारह वर्ग लाल तथा बारह काले होते थे। केन्द्र मे जहाँ भुजाएँ मिलती थी एक काले रग का बड़ा वर्ग होता था। चौसर के पासे के स्थान पर इसमे कौडियो का प्रयोग होता था। अन्य बातें प्रायः वैसी ही होती थी।[१४१]

५ नर्द :

'नर्द'[१४२] अथवा फारस के 'बैकगैमन' खेल को भारत मे मुसलमानो ने प्रचलित किया था।[१४३] इसे लकड़ी के वर्गाकार पटटे पर खेला जाता था, जो २४ वर्गाकार खानो में विभक्त होता था। यह खेल ३० गोटियो से खेला जाता था, जो १५-१५ के दो सैटो मे होती थीं तथा प्रत्येक सैट का रग अलग होता था।[१४४] फारस के लोग इस खेल को 'तख्त-ए-नादिरशाह' कहते थे।[१४५]

६ गंजीफा :

गंजीफा[१४६] अथवा ताश दो प्रकार के पत्तो से खेला जाता था अंग्रेजी, जिसकी गड्डी ५२ पत्तों की होती थी तथा मुगली जिसकी गड्डी मे ९६ पत्ते होते थे। मुगली ताश आठ सैटो मे विभक्त होता था तथा प्रत्येक मे बादशाह, वज़ीर, एव

---

१३९. ज० कॅम्परबैल, IX भाग-२, पृ० १७३; 'इस्लाम इन इण्डिया', पृ० ३३४-३५।

१४०. 'कुल्लियात-ए-नजीर', पृ० ४४२ 'कानून-ए इस्लाम', परिशिष्ट ७, पृ० ५२।

१४१ मुगल सम्राट अकबर ने चौपड की गोटियो के स्थान पर मानव-आकृतियों को प्रचलित कर इसे 'चण्डल मण्डल' नामक एक मनोरजक खेल में परिवर्तित कर दिया था। इसके विवरण के लिए देखिए, आइन ए-अकबरी', भाग-१, (ब्लॉकमैन, लन्दन, १८७३) पृ० ३०४।

१४२. 'कुल्लियात-ए-नजीर' पृ० ४४२।

१४३. अशरफ़, पृ० २९६।'

१४४. वही।

१४५ 'इस्लाम इन इण्डिया', पृ० ३३३।

१४६. दीवान-ए-नासिख', भाग-२, पृ० ४०, १३४, क़ानून ए इस्लाम', परिशिष्ट ७, पृ० ५२; ऑब्जर्वेशन्स, भाग-२, पृ० ८२, 'आब ए-हयात', पृ० ३६९, ३९५, ३९९; 'इस्लाम इन इण्डिया', पृ० ३३५-३६।

दस से लेकर इक्के तक-बारह पत्ते होते थे।[१४७] अंग्रेजी ताशों में चार सैट—पान, ईंट, हुकुम तथा चिड़िया होते थे। एक से लेकर दस तक के पत्ते, इक्का, दुग्गी, तिग्गी, चौका, पंजा, छक्का, सत्ता, अट्ठा, नहला, तथा दहला होते थे। इनके अतिरिक्त पत्ते, गुलाम, बीबिया तथा बादशाह होते थे। प्रत्येक सैट का इक्का सर्वोच्च पत्ता होता था। इस खेल को केवल तीन व्यक्ति खेलते थे तथा पत्तों में से ईंट की दुग्गी निकाल दी जाती थी। इस प्रकार, अवशिष्ट ५१ पत्ते तीनों में प्रत्येक को १७ के हिसाब से बाँट दिए जाते थे। कोई तुरुप नहीं खोली जाती थी क्योंकि हुकुम के पत्ते ही सदैव तुरुप होते थे तथा इस पत्ते का इक्का जिसके पास होता था, वही अगवानी करता था। इस खेल में कोई साझेदारी नहीं होती थी। प्रत्येक खिलाड़ी व्यक्तिगत रूप से खेलता था। खेल तथा ताश-बाँटना दायीं ओर से प्रारम्भ होता था। पत्तों को विभक्त करना 'ताश बाँटना', पत्ते खेलने को 'पत्ता फैंकना', विजयी पत्तों को खेलना 'सर करना' तथा हारने को 'खिलार' कहा जाता था।[१४८]

(र) द्यूत-क्रीडा।

'द्यूत-क्रीड़ा' को 'किमार बाजी'[१४९] अथवा 'जुआ-बाजी' कहा जाता था। यह हाथी-दाँत के २ इंच लम्बे व १/३ इंच चौड़े चतुर्भुजीय पासे द्वारा खेला जाता था। इसकी भुजाओं पर एक, दो, पाँच तथा छः बिन्दु क्रमानुसार अंकित होते थे।[१५०] बाजी लगाने के लिए प्रायः तीन पासों का एक सैट प्रयोग में लाया जाता था। ये हाथों से फैंके जाते थे तथा लम्बाई में गिरते थे।[१५१] खेल में किसी युक्ति की आवश्यकता न थी, यह केवल संयोग पर निर्भर रहता था। सर्वोच्च अंक प्राप्त करने वाला, विजयी होता था।

यद्यपि यह खेल कुरान में वर्जित था[१५२] और ब्रिटिश कानून द्वारा निषिद्ध था, तथापि यह धनी तथा निर्धन दोनों ही के द्वारा स्वतंत्र रूप से खेला जाता था। इसे धन-राशि प्राप्त करने के लिए खेला जाता था।[१५३] गालिब के द्यूत-क्रीडा प्रेम ने बेचारे कवि को १८४७ में बन्दीगृह की हवा खिला दी थी।[१५४] द्यूत-क्रीडा में उनकी इतनी अधिक आसक्ति थी कि उनका घर जुआरियों का अड्डा बन गया

---

१४७ विस्तृत विवरण के लिए देखिए, पी० एन० चोपड़ा, 'सम ऐसपैक्टस ऑव सोसायटी एण्ड कल्चर ड्यूरिंग द मुगल ऐज', १५२६-१७०७, (आगरा, १९६३), पृ० ५७।

१४८ 'इस्लाम इन इण्डिया', पृ० ३३६।

१४९. 'दरिया-ए लताफ़त' पृ० ११८।

१५०. सर आर० बर्टन, 'सिन्ध एण्ड द रेसेज दैट इन्हैबिट द वैली ऑव द इण्डस', (लन्दन, १८५१), पृ० १९९।

१५१ कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ७, पृ० ५२; ऑब्जर्वेशन्स', भाग-२, पृ० ८२।

१५२. ॥ २१९-V ९१।

१५३ 'ऑब्जर्वेशन्स', भाग-२, पृ० ८२।

१५४. 'यादगार-ए-गालिब', पृ० २७।

था ।[१५४] जुआरियो के आश्रितो की स्थिति बडी करुण हुआ करती थी ।[१५५] दीवाली जैसे त्योहारो पर यह खेल व्यापक रूप धारण कर लिया करता था :

शगुन की बाजी लगी पहले चार गण्डे की
फिर इससे बढ़ के लगी तीन चार गण्डे की
फिरी जो ऐसी तरह बार-बार गण्डे की
तो आगे लगने लगी फिर हजार गण्डे की
कमाल नर्द लगा फिर तो आ दिवाली का[१५७]

५ बालको के खेल

बालको के खेल बहुसख्यक थे । उनमे से अनेक तो वे अपने हिन्दू-पडोसियो से ही सीखते थे । उनमे से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—

'अधीलजग' अथवा काँच की गोलियों का खेल बच्चो मे अत्यधिक लोकप्रिय था । इसका एक प्रकार 'इकगरी-सबगरी' था जिसमे अनेक गोलियाँ एक छेद मे फेंकी जाती थीं । 'गोलियाँ' खेल मे वे दो छेदों मे फेंकी जाती थी । खिलाडी प्रत्येक बार, जब उसकी गोली दूसरी को पीट देती या छेद मे चली जाती तो एक या दो पैसे जीत लिया करता था । 'अक्ल ख्वाजा' भी गोलियो तथा दो छेदो से खेला जाता था । इसमें खिलाडी की गोली जितनी बार दूसरी गोली को पीट देती या छेद मे चली जाती, उतनी ही बार एक गिना जाता था तथा जो कोई पहले दस की गिनती पूरी कर लिया करता था, वह विजयी होता था । हारने वाला विविध प्रकार से दण्डित किया जाता था ।[१५८]

'आँख-मिचोल',[१५९] आँख-मिचौनी होता था । 'अधला बादशाह' अथवा 'अधी बादशाही' भी एक प्रकार की आँख-मिचौनी होती था । इसमे एक लडके के ऊपर एक चादर डाल दी जाती थी, तत्पश्चात् दूसरे लडके उसके चपत लगाया करते थे ।[१६०] 'शेर-बकरी' अथवा 'बाघ बकरी', शेर और बकरियो का खेल था, जिसमे कभी-कभी तेरह-तेरह बालक शेर, बकरी बना करते थे ।[१६१] 'करो छपजा' अथवा 'एक तारा-दो तारा' एक अन्य प्रकार की आँख-मिचौनी होती थी ।[१६२] 'बूझा बूझी' मे एक बालक की आँखो पर पट्टी बाँध दी जाती थी तथा उससे स्पर्श करने वाले को

---

१५५. लखनपाल, पृ० ८० ।
१५६ 'दीवान-ए-जान साहब', पृ० ५२, ७८, ८८ :
कल मुझे हारेंगे वो जौहरी से भी गौहर ।
आज तो मोतियों का हार मिरा हारे है ।।
१५७ 'कुल्लियात ए-नजीर', पृ० ४४२ ।
१५८ 'कानून-इस्लाम', परिशिष्ट ८, पृ० ५४-५५ ।
१५९ 'दरिया ए-लताफत', पृ० २३, १३१; 'कानून-ए-इस्लाम', परिशिष्ट ८, पृ० ५४ ।
१६० 'दरिया ए-लताफत', पृ० १५२; 'कानून ए-इस्लाम', वही ।
१६१ 'दरिया ए-लताफत', १३१, १३२; कानून ए-इस्लाम' वही ।
१६२ 'कानून ए-इस्लाम', वही ।

पहचानने के लिए कहा जाता था। जब तक वह ऐसा करने मे सफल न होता उसे छोडा नही जाता था।[१६३]

'लट्टू,' फिरकिनी का खेल था। 'चकई' एक प्रकार की डोरी चढ़ी हुई छोटी चर्खी होती थी, जो हाथ के संकेत मात्र से बारी-बारी से खुल जाती तथा चढ जाया करती थी।[१६४] 'गिल्ली-डण्डा',[१६५] गुल्ली डण्डे का खेल होता था। गिल्ली लकडी की एक छोटी-सी यष्टि होती थी जो दोनो सिरों पर नुकीली छिली होती थी। उसके किनारो को एक बडी यष्टि से मारा जाता था। 'गुलेल'[१६६] एक गुटिका-धनुप था, जिसका प्रयोग चिडियो पर ककड मारने के लिए किया जाता था। 'चील झपट्टा'[१६७] मे यदि कोई लडका 'गधा फड-फड' शब्द के साथ अपने हाथ उठा देता, तो उसे दल के अन्य सदस्यो द्वारा पीटा जाता था। कबड्डी[१६८] मे लडके दो दलो मे विभक्त हो जाते थे। एक रेखा अथवा मेड, भूमि पर बना दी जाती थी, जिसे पाला कहते थ। एक दल पाले के एक ओर तथा विपक्षी दल दूसरी ओर स्थिति ग्रहण करता था। एक दल का एक लडका एक ही सास मे 'कबड्डी-कबड्डी' बोलता हुआ विपक्षी दल के सदस्यो म स किसी को स्पर्श करने का प्रयास करता था। यदि वह एमा करने मे समर्थ होता तथा अपने दल म सुरक्षित लौट आता तो स्पर्श किया गया लडका 'मरा हुआ' समझा जाता, अर्थात् वह दल स बाहर कर दिया जाता था। परन्तु यदि आक्रमणकारी पकडा जाता तथा न लौट पाता तो, उसका भी वही परिणाम होता। आक्रमण बारी-बारी स होता था। वह पक्ष विजयी होता जिसमे सभी विपक्षियो के 'मारे जाने' के पश्चात् भी कुछेक 'जीवित' बचे रहते।[१६९]

'काज़ी मुल्ला'[१७०] म एक लडका काजी अथवा सर्वोच्च कानून-अधिकारी तथा दूसरा मुल्ला अथवा विद्वान धर्मशास्त्रवेत्ता का अभिनय करता था। 'सात बुर्दी'[१७१] मे एक पाँव से कूद कर चलते थे। 'ठीकरी मार'[१७२] मे ठीकरी इस प्रकार फेंकी जाती थी कि वह पानी की सतह पर फिसलती हुई जाती थी। 'झाड बन्दर'[१७३] मे एक लडका पेड पर चढ जाता था तथा दूसरों से अपनी स्थिति की रक्षा करता

---

१६३ वही, पृ० ५५।
१६४ 'कुल्लियात-ए-नज़ीर', पृ० २८६, 'कानून-ए-इस्लाम', वही, पृ० ५६।
१६५. 'कानून-ए इस्लाम', वही, पृ० ५४।
१६६. 'इस्लाम इन इण्डिया', पृ० ३३८।
१६७ 'कानून ए इस्लाम', वही, पृ० ५६।
१६८ 'दरिया ए लताफ़त', पृ० १३१, १३२, 'कानून ए इस्लाम', वही, पृ० ५५।
१६९ 'इस्लाम-इन इण्डिया', पृ० ३३८।
१७०. 'कानून-ए इस्लाम', परिशिष्ट ८, पृ० ५६।
१७१ वही, पृ० ५५।
१७२ वही।
१७३ वही, पृ० ५४।

था। कुछ अन्य बाल क्रीडाएँ इस प्रकार थी—चण्डोल गदागर बोल,[१७४] चहर चपोल,[१७५] छल्ला चपोल,[१७६] काले पीले देव[१७७] तथा वज़ीर बादशाह।[१७८]

'लोढी' का प्रचलन दिल्ली से काबुल तक के क्षेत्र मे था। इस उत्सव से कुछ दिन पूर्व बच्चे कतिपय युवको को साथ लेकर मोहल्ले-मोहल्ले फिरते थे, तथा हर घर से कुछ नक़द या ईंधन वसूल करते थे। निर्धारित रात्रि को उस ईंधन का ढेर बनाकर जला देते थे। एकत्र धन का मिष्ठान्न लेकर आपस मे बाँट लेते थे। यद्यपि यह प्रथा हिन्दुओ की थी तथापि मुसलमानो के बच्चे भी खेल समझकर इसमे सम्मिलित हो जाते थे।[१७६]

'टेसु राय' मे बच्चे दशहरे से कुछ दिन पूर्व अपने हिन्दू भाइयो की भाँति मिट्टी की मूर्तियाँ बनाते थे। ये तीन खपचियो पर टिकी होती थी तथा उनमे दीप रखने के लिए भी स्थान होता था। इनको वे घर-घर लिए फिरते थे तथा पाँच-छ दिन मे जो धन प्राप्त होता था, उसकी मिठाई लेकर आपस बाँट लेते थे।[१८०] लडकियाँ टेसूराय के स्थान पर झझरी या झझिया बनाती थी। यह खेल पूर्वी भागो मे भी लोकप्रिय हो चला था।[१८१]

लडकियो मे तथा विशेषकर उच्चवर्गीय लडकियो म गुडियो का खेल अत्यधिक प्रचलित था। उनका अधिकांश समय इसी मे व्यतीत होता था। इस खेल की पराकाष्ठा उनकी गुडियो के विवाह मे होती थी

मेरी और मेरी जनाखी के हैं गुड़ियो का ब्याह
आज साचक है मेरे घर से बरी जाती है[१८२]

पशु-पक्षियो का पालना भी स्त्रियो का प्रिय मनोरजन था। पक्षिया मे तोता, मैना, लाल, श्यामा तथा विशेष रूप से वे, जो अपनी मीठी बोली के लिए विख्यात थे, अत्यधिक पसन्द किए जाते थे। पशुओ मे बिल्लियाँ तथा गिलहरी के बच्चे अधिक प्रिय हुआ करते थे। जब भी उनको आपस मे मिल-बैठने का अवसर मिलता, उन्हे अपने पालतू पशु पक्षियो के विषय मे वार्ता करना अधिक रुचिकर लगता था। यहाँ तक कि वे उनके विवाह के विषय मे भी वार्ता करती थी

---

१७४. 'दरिया-ए-लताफ़त', पृ० २१, १३१।
१७५. वही, पृ० २१।
१७६ वही।
१७७. वही, पृ० १३१।
१७८ वही, पृ० १३१, १३२।
१७६. वही, पृ० १३१।
१८०. मिर्ज़ा क़तील, पृ० ७७, 'दरिया-ए-लताफ़त', पृ० १३१-३२।
१८१ 'दरिया-ए-लताफ़त', पृ० १३२, मिर्ज़ा क़तील, पृ० ७८।
१८२. रंगीं इशा' पृ० ५४।

करेंगी धूम से शादी हुआ निस्बत तो ठहरी है
गिलहरा मिरा और मंझली भाबी की गिलहरी है[१८३]

उनके राग-रंग अपने प्रिय पालतू पशु-पक्षियों के विवाह मात्र से ही समाप्त नहीं हो जाते थे वरन् वे उनकी सन्तति तक चलते रहते थे; उनके संस्कार मानव बच्चों की ही भाँति बड़े उत्साह से मनाए जाते थे।

---

१८३. 'दीवान-ए-जान साहब', पृ० १३४।

मनोरंजन के साधन (क्रमशः)

(अ) मुशायरे :

भारत मे मुसलमानो द्वारा प्रचलित सभी सांस्कृतिक संस्थाओ में मुशायरा का स्थान अग्रगण्य है। 'मुशायरा' शब्द का तात्पर्य विशेष रूप से आयोजित कवि-गोष्ठी मे कविता पाठ करने से है। फारसी कवियो का अनुकरण करते हुए दिल्ली के उर्दू कवियो (रेख्ता गोयाँ)[1] ने 'मराख्ता'[2] की नीव डाली।[3] मीर तकी मीर ने मुशायरा के लिए 'मराख्ता' शब्द प्रयुक्त किया है।[4] ऐसी कवि गोष्ठियो के लिए 'मजलिस-ए-रेख्ता' शब्द भी प्रयुक्त होता था।[5] मुशायरे बहुत कुछ लोकप्रिय हो चले थे तथा उनका आयोजन प्राय हर महीने, पन्द्रहवें दिन या प्रति सप्ताह किया जाने लगा। सर्वप्रथम मराख्ता खान आरज़ू (१६८६–१७५६) का था, जो उसे प्रत्यक चान्द्रमाह की पन्द्रहवी तारीख को अपने निवास स्थान पर आयोजित करते थे। इसम सौदा, मीर दर्द, तथा जुरअत सम्मिलित हुआ करते थे।[6] दूसरा विख्यात मराख्ता ख्वाजा मीर दर्द का था। वह भी उसे हर माह की पन्द्रहवी तारीख को अपने निवास स्थान पर आयोजित किया करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर म सम्मिलन-स्थल खान आरज़ू के यहाँ से मीर दर्द के यहाँ स्थानातरित हो गया था। कुछ समय पश्चात् इसका स्थानातरण मीर तकी के घर पर हो गया।[7] इनके अतिरिक्त मीर अपने तज़किरा' मे अन्य कई व्यक्तियो का उल्लेख करते हैं, जो अपने-अपने घरो पर कवि-गोष्ठियो का आयोजन करते थे। ये थे—मीर सज्जाद, मियाँ सलाहउद्दीन, जाफर अली खाँ ज़की, मियाँ कमतरीन, मीर अली नक़ी तथा हाफिज़ हलीम आदि।[8] स्पष्ट है कि मुशायरो का स्वरूप इस प्रारम्भिक अवस्था मे व्यक्तिगत अधिक था।

---

१ रेख़्ता अथवा उर्दू बोलने वाले।

२. रेख़्ता गोयाँ की सगति।

३ शख चाँद 'सौदा, (औरगाबाद दक्षिण, १६३६), पृ० ३३।

४. मीर तकी मीर, निकातुश्शुअरा', सम्पादक मौलवी अब्दुल हक़ (औरंगाबाद दक्षिण १६३५) पृ० १४७।

५ वही, पृ० ५०।

६ शेख चाँद, पृ० ३३।

७ 'निकातुश्शुअरा', पृ० ५०।

८. वही, पृ० ६१, ७६, १३७, १४७–४६।

सोहबतों मे मुनाज़रा ही को यारान-ए-ग्राली हौसला ने रवाज दिया है।"[२६]

वास्तव मे मुशायरो का वातावरण इतना अधिक पतित हो गया था कि वे युद्ध-स्थल बन गए थे। सौदा का ऐसे कवियो के व्यवहार पर आश्चर्य व्यक्त करना उचित ही था :

बाज़े ऐसे भी हैं नामाक़ूल है जिनका सुख़न
अपनी शुहरत होने की समझे हैं वो तदबीर जंग
मैं तो हैरान हूँ कि इन शायरो की वज़ं पर
करते फिरते हैं जो पढ़-पढ़ शेर बे तासीर जंग[२७]

ऐसी ही मन स्थिति मे मुसहफी ने मुशायरो की तुलना मुर्गों की पाली से की थी

इन लोगो की मजलिस मे यह शोर नहीं देखा
बज़्मे-शुअरा है यह या मुर्गों की पाली है[२८]

इसी प्रकार, जान साहब ने उनकी तुलना भीम के अखाडे से की —

इक एक नुक़्ते पर अजी लड़ते हैं मर्दुए
महफिल मुशायरा की अखाड़ा है भीम का[२९]

क़ुदरतुल्ला कासिम ने फैज़ाबाद व लखनऊ के दरबारो के मुशायरो का सजीव वर्णन किया है। वे लिखते है, "लखनऊ मे शाहज़ादा सुलेमान शिकोह के मुशायरो में मुसहफी व इन्शा के मध्य झगडा इस सीमा तक पहुँच गया था कि वे एक दूसरे के लिए हास्यास्पद व अशब्दपूर्ण भाषा का प्रयोग किया करते थे जो विद्वानों के लिए अपमानजनक था। यहाँ तक कि सर्वसाधारण भी उन झगडो में भाग लिया करते थे।"[30] रामबाबू सक्सेना ने इस तथ्य का विशद् वर्णन किया है : "इन्शा तथा मुसहफी के झगडे कुख्यात हैं, तथा असख्य व्यग्य रचनाएँ, प्रहसन काव्य, उपहासपूर्ण कृतियाँ, जो प्राय कामुकतापूर्ण तथा वैमनस्यपूर्ण है, विविध घटनाओ का वर्णन करती हैं। व्यग्योक्तियो मे कभी-कभी अश्लील भाषा को छन्दोबद्ध कर दिया गया है। हास्य तीक्ष्ण है, तथा खिल्ली मर्मवेधी है। पहले मुसहफ़ी शाहज़ादा सुलेमान शिकोह के उस्ताद थे, परन्तु बाद मे उनका स्थान इन्शा ने हथिया लिया; इससे मुसहफ़ी घोर लज्जित हुए तथा इसे अपनी व्यक्तिगत मान-हानि समझा। उनके पारिश्रमिक की कटौती, कविताओ के प्रहसन तथा इन्शा द्वारा आत्म-प्रशसात्मक पद्यो के प्रदर्शन ने दोनो ओर से वैमनस्य, कटु व्यग्य तथा अश्लील अपशब्दो के बाढ-द्वार खोल दिए।

२६. 'गुलशन-ए हिन्द', पृ० ३११. रहबर, पृ० १५४।
२७. 'कुल्लियात ए-सौदा', पृ० ३११।
२८ 'शोला-हिन्द', भाग-१ पृ० ७६।
२९. 'दीवान-ए-जान साहब', पृ० २६।
३०. क़ुदरतुल्ला क़ासिम, भाग-१, पृ० ८१।

दोनों के शिष्यों ने अग्नि को और भड़काया। इन विवादो को अन्य कवियो के अतिरिक्त लखनऊ की जनता का भी समर्थन मिला, जो परिहास मे मज़ा लेती थी तथा लड़ाई-भड़काने मे रुचि रखती थी। झगड़ा उग्र रूप धारण करता गया। लेखनियो ने बहुधा डण्डो व तलवारों का स्थान ले लिया। विपक्षी को आहत करने हेतु जुलूसों का आयोजन किया जाता, जिनमे व्यंग्य रचनाएँ सार्वजनिकरूप से गायी जाती थीं। अपने सम्मान, बुद्धि-चातुर्य तथा शाहज़ादा सुलेमान शिकोह व नवाब के समर्थन के कारण, इन्शा निस्सन्देह हावी रहते। आश्रयदाता इन विवादो मे अत्यधिक रुचि लेते। वे जुलूसो व प्रति-जुलूसो मे मज़ा लेते तथा एक दूसरे के उपहास हेतु गायी जाने वाली कटु व्यंग्योक्तियो की वाह-वाही किया करते थे।"[31]

दिल्ली मे मुशायरे उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक अत्यधिक लोकप्रिय हो गए थे। प्रत्येक महीने की पन्द्रहवीं तथा उन्नीसवी तारीख को लाल क़िले मे, बादशाह के तत्त्वावधान मे मुशायरो का आयोजन किया जाना एक प्रथा-सी बन गई थी। इनमे मोमिन, ग़ालिब, ज़ौक तथा सहबाई जैसे शायर सम्मिलित हुआ करते थे। यह दीवान-ए-आम मे आयोजित होते तथा रात-रात भर चला करते थे।[32] मिर्ज़ा ग़ालिब ने अपने पत्रो मे क़िले के पाँच ऐसे मुशायरों का उल्लेख किया है, जिनमें वे सम्मिलित हुए थे।[33] इसी प्रकार, लाल क़िले मे शाहज़ादे भी अपने दीवान खानों मे पृथक् रूप से मुशायरो का आयोजन किया करते थे।[34] आंग्ल-अरबी महाविद्यालय जिसे दिल्ली-कॉलिज भी कहा जाता था, में भी मुशायरे बड़ी धूम-धाम से आयोजित किए जाते थे। ये मुशायरे रात्रि के दो बजे तक चला करते थे। इनमे अधिकांशत सभी विख्यात शायर सम्मिलित हुआ करते थे।[35] इन मुशायरो मे धनी तथा निर्धन, दोनों ही समान रूप से उपस्थित हुआ करते थे। परन्तु शीघ्र ही लखनऊ की भाँति यहाँ भी मुशायरे शाह नसीर तथा ज़ौक के मध्य विवाद के स्थल बन गए। इतना ही नही, आग़ा जान आतिश तथा मोमिन ने तो अपने-अपने आदमी भी इन मुशायरों में झगड़ने के लिए तैयार कर लिए थे।[36] मुशायरो का वातावरण बिगड़ते जाने के कारण मिर्ज़ा ग़ालिब ने तो उनमे सम्मिलित होना ही छोड़ दिया। कुछ समय पश्चात् शायरो में कटुता व वाक्युद्ध के अत्यन्त बढ़ जाने के कारण उन्हे समाप्त ही करना पड़ा।[37]

---

३१ सक्सेना, पृ० ९२-९३।

३२ गुलाम रसूल महर, 'ग़ालिब', पृ० ३७५।

३३ मिर्ज़ा मुहम्मद बशीर, 'सरगुज़श्त-ए ग़ालिब', (आगरा, १९४२), पृ० ८०-८२, रहबर, पृ० १६२-६४।

३४. 'ख़मख़ाना-ए जावीद', भाग-१, पृ० २०४।

३५ 'आब-ए हयात', पृ० ४७६।

३६ वही; रहबर, पृ० १६५।

३७ 'आब एहयात', पृ० ४७६।

(ब) संगीत :

उत्तरकालीन मुगल शासक अपने अधिकांश पूर्वजों के समान ही संगीतप्रिय थे। संगीत को प्रश्रय व बढ़ावा देने के लिए उन्होंने सब कुछ किया। परन्तु मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही उत्तरी भारत में संगीत के संरक्षण केन्द्र का स्थानान्तरण ग्वालियर, इन्दौर, रामपुर तथा अवध के दरबारों में हो गया। लखनऊ में गाज़ीउद्दीन हैदर को संगीत से अत्यन्त प्रेम था। हैदरी खाँ उनके समय का विख्यात संगीतज्ञ था।[३८] वाजिद अली शाह को संगीत की सूक्ष्मताओं का सम्यक् ज्ञान था। वे न केवल संगीत के विशेषज्ञ ही थे, वरन् इसके महान आश्रयदाता भी थे। उनके प्रोत्साहन से आकृष्ट होकर एक बड़ी संख्या में संगीतज्ञ आ-आकर लखनऊ में एकत्र होने लगे थे। उनके दरबारी संगीतज्ञों में रामपुर के कुतुबउद्दौला एक विख्यात सितार वादक थे। अनीस-उद्दौला, मसाहिबउद्दौला तथा वहीदउद्दौला को राज्याश्रय प्राप्त था यद्यपि वे कोई महान् संगीतज्ञ नहीं थे। प्रवीण संगीतज्ञ प्यार खाँ, जाफर खाँ, हैदर खाँ तथा बासित खाँ थे, जो मियाँ तानसेन के परिवार से सम्बद्ध थे।[३९]

यद्यपि वाजिद अली शाह के समय में संगीत-कला अत्यधिक समृद्ध हुई, तथापि यह अपने उच्चस्तर से गिरकर साधारण चीजों पर आ गई थी। कादर पिया ने ठुमरियों की रचना की तथा उनको अधिक लोकप्रिय बनाया; फलस्वरूप संगीत-प्रेमी शास्त्रीय राग-रागिनियों के स्थान पर उनको पसन्द करने लगे। अब शास्त्रीय राग रागिनियाँ रुचि का विषय न रहने के कारण पृष्ठभूमि में पड़ गईं।[४०] वाजिद अली शाह के समय के संगीतज्ञों में प्यार खाँ के शिष्य अनीसउद्दौला तथा मुसाहिबउद्दौला ने संगीत कला में उच्च स्तर की दक्षता प्राप्त की थी, परन्तु दरबार में अब ऐसे संगीत की कदर ही नहीं थी। फिर भी समान गुरु के शिष्य होने के कारण, नवाब उनका आदर करते थे। नवाब ने स्वयं नवीन रागिनियों की संरचना की, जिनके नाम अपनी इच्छानुसार जोगी कण्टर, जूही, शाह पसन्द आदि रखे। इस प्रकार, उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग, स्तरीय संगीत तथा ध्रुपद व होरी जैसे कठिन रागों की उपेक्षा करके, संगीत के सुगम, आकर्षक स्वरूपों की रचना करके तथा उन्हें लोकप्रिय बनाकर किया। परिणामतः कुछ सरल सुबोध रागिनियाँ, यथा—खमाच, झंझोटी, भैरवी, सेंदूरा, तिलक कामोद तथा पीलू आदि पसन्द की जाने लगीं तथा लोकप्रिय हो गईं।[४१]

उर्दू कवियों में ख्वाजा मीर दर्द ने भारतीय संगीत में महती दक्षता प्राप्त की थी। एक शिक्षक की भाँति उनके पास तत्कालीन बड़े बड़े संगीतशास्त्री आया करते थे। प्रत्येक माह की दूसरी तथा बाईसवीं तारीख को उनके निवास स्थान पर

---

३८. शरर, पृ० १६८।
३९. वही, पृ० १७०।
४०. वही।
४१. वही, पृ० १३१।

अनेक संगीतज्ञ एकत्र हुआ करते थे।[४२] अपने समय के महान संगीतज्ञ मियां फीरोज खाँ भी सम्मिलित होकर, इस कला के गूढ़ तत्त्वों की व्याख्या किया करते थे।[४३] इस संगीत-गोष्ठी में प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति शामिल होते थे।[४४] एक अन्य कवि जुरअत भी प्रवीण संगीतज्ञ थे, वे सितार-वादन में विशेष रूप से पारंगत थे।[४५] कवि जौक भी संगीत में विशेष अभिरुचि रखते थे।[४६]

(स) वाद्य-यन्त्र।

संगीत के दो आवश्यक तत्त्वों, स्वर तथा लय की शुद्धता पर नियन्त्रण रखने के लिए प्राचीनकाल से ही भारत में विभिन्न प्रकार के यन्त्र प्रयोग में लाए जाते रहे हैं। इन वाद्यों में आघात, फूंक तथा तार वाले—तीनों प्रकार के यन्त्र सम्मिलित थे।

हमारे पर्यवेक्षण काल में विभिन्न प्रकार के वाद्य-यन्त्र प्रचलित थे।[४७] इनको चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :

(१) तन्तु-वाद्य—इनमें लोहे अथवा पीतल के तार होते थे, जिन्हें लकड़ी या हाथी दाँत के टुकड़े या उङ्गलियों के नाखूनों से झंकृत किया जाता था। इस वर्ग के अन्तर्गत वीणा, सरोद, सितार, तम्बूरा, रबाब आदि आते थे।

(२) वे वाद्य-यन्त्र जिनको गज फेर कर बजाया जाता था, जैसे—सारंगी, दिलरुबा, मयूरी आदि।

(३) आघात वाद्य-यन्त्र—जिनको हाथों या छड़ी से पीटकर बजाया जाता था, जैसे—पखावज, ढोलक, तबला आदि।

(४) फूंक से बजाए जाने वाले यन्त्र, जैसे—बीन, बाँसुरी, शहनाई आदि।[४८]

इन वाद्य-यन्त्रों में तबला तथा सारंगी सर्वाधिक लोकप्रिय थे।[४९] ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य युग में हिन्दुओं में प्रचलित कतिपय वाद्य-यन्त्रों में संशोधन किया गया था। उदाहरणार्थ, तबला मृदङ्ग का परिशोधित रूप था। हिन्दुओं के कुछ अन्य वाद्य-यन्त्रों के आकार व स्वरूप को संशोधित करके उन्हें फारसी नाम दे दिए गए थे, जैसे—सरोद, दिलरुबा, रबाब इत्यादि।[५०]

---

४२ 'आब ए हयात', पृ० १८७।

४३ सक्सेना, पृ० ५६।

४४ 'आब ए-हयात', पृ० १८७।

४५ वही, पृ० २३७।

४६ वही, पृ० ४६३।

४७ उनकी सूची के लिए देखिए, 'कानून ए इस्लाम', परिशिष्ट ६, पृ० ४५-५१।

४८ एस० एम० जफ़र, 'सम कल्चरल एस्पैक्ट्स ऑव मुस्लिम रूल इन इण्डिया', (पेशावर, १९३९), पृ० १६३।

४९ शरर, पृ० १७६।

५० 'कल्चरल एस्पैक्टस', पृ० १६३-६४।

(द) कव्वाली :

पूर्व-काल से ही सूफी सन्त, विशेषरूप से चिश्ती सम्प्रदाय वाले, सगीत व सगीत-गोष्ठियों, जिन्हें 'समा' कहा जाता था, के आध्यात्मिक महत्त्व मे विश्वास करते थे। इन गोष्ठियो मे एक अथवा अनेक गायक, वाद्य-यन्त्रो के साथ अथवा उनके बिना ही गाया करते थे।[५१] इस प्रकार, सूफियो के सगीत-प्रेम ने अर्ध-धार्मिक सगीत गोष्ठियो के आयोजन की प्रथा प्रचलित की। इनमें वृत्तिक गायक अथवा कव्वाल, पावन प्रेम-गीत, जिन्हे कव्वालियाँ कहा जाता था, गाते थे।[५२]

शीघ्र ही कव्वालियाँ व्यापक रूप से लोकप्रिय हो गईं। वे खानकाहों अथवा अन्य उपयुक्त स्थलो पर एकत्र होने वाले साधारण जन के लिए एक अत्यधिक प्रिय, मनोरजन का साधन बन गईं। बादशाह शाहआलम सानी को इतना अधिक शौक था कि वे ख्वाजा मीर दर्द के यहाँ प्रत्येक माह की दूसरी तारीख को आयोजित की जाने वाली कव्वालियो का आनन्द लेने जाया करते थे।[५३] लखनऊ मे गाज़ीउद्दीन हैदर के समय छज्जू खाँ तथा गुलाम रसूल खाँ प्रसिद्ध और दक्ष कव्वाल थे।[५४] शोरी कव्वाली-कला का एक अन्य विशेषज्ञ था। कव्वाली को सफल बनाने के लिए तबला वादक का योगदान भी कुछ कम प्रभावशाली न था :

खाना ए-गोर से मुर्दे निकल आते हैं वहीं
ताल जिस वक्त वो कव्वाल पिसर देता है[५५]

बख्शू तथा सालारी दक्ष तबला वादक थे जो इस प्रकार के प्रदर्शनो मे सगत करते थे।[५६]

(य) नृत्य

सगीत के आवश्यक अनुप्रमेय के रूप मे नृत्य भी समान रूप से लोकप्रिय था। नृत्य-रहित सगीत मण्डली की कल्पना करना कठिन था। धनी व सम्पन्न व्यक्तियों मे औत्सविक अवसरो पर नर्तकियो अथवा नर्तका को आमन्त्रित करना सामान्य हो गया था।[५७] नृत्यकला के प्रदर्शन मे नर्तक अपने प्रतियोगी नर्तकियो की तुलना मे किसी

---

५१ ए० एम० ए० शुश्ती, 'आउटलाइन्स ऑव इस्लामिक कल्चर', भाग-२, (बैंगलोर,१९३८), पृ० ४८१।

५२ 'कल्चरल एस्पैक्टस', पृ० १५६।

५३ गुलाम हमदानी मुसहफ़ी, 'तजकिरा ए हिन्दी', सम्पादक मौलवी अब्दुल हक, (दिल्ली, १९३३), पृ० ९३; सक्सेना, पृ० ५६।

५४ शरर पृ० १७३।

५५ दीवान-ए-नासिख, भाग-२, पृ० १६०।

५६ शरर, पृ० १७३।

५७ दरिया ए लताफ़त', पृ० ६६।

प्रकार कम न थे।[५८] सगीतज्ञो व नाचने वालो की विशाल सख्या की दृष्टि से लखनऊ का स्थान अग्रगण्य था।[५९] वहाँ पुरुष नर्तकों के दो वर्ग पाए जाते थे एक तो हिन्दू कत्थकों व रहसधारियों का तथा दूसरा कश्मीर से आने वाले मुस्लिम भाँडो का। प्रथम वर्ग के कलाकार द्वितीय वर्ग की अपेक्षा अधिक कुशल प्रदर्शक थे।[६०] सआदत अली खाँ, गाज़ीउद्दीन हैदर तथा नसीरुद्दीन हैदर के काल मे हल्लाल जी, परगाश जी तथा दयालु जी प्रसिद्ध नर्तक थे। उनके पश्चात् परगाश जी के दो पुत्रों—दुर्गाप्रसाद तथा ठाकुरप्रसाद ने ख्याति अर्जित की। दुर्गाप्रसाद नृत्यकला मे वाजिद अली शाह के उस्ताद थे।[६१]

नर्तकों का दूसरा वर्ग भाँडो व नक्कालो का था। उनकी मण्डली मे एक युवा लडका होता था जिसके बाल स्त्रियों की भाँति लम्बे होते थे। वह स्त्री-परिधान धारण करके, पाँव मे घुघरू बाँधकर नृत्याङ्गनाओं की भाँति नृत्यकला का प्रदर्शन किया करता था। उसके साथियो का कार्य भडैती करना होता था। वे सामान्यत अश्लील परिहासोक्तियों से दर्शकों का मनोरजन करते थे।[६२] इसी प्रकार, डोमनियों का दल होता था। यह जनानखानो मे नृत्य प्रदर्शन व नकलें करके स्त्रियों का मनो-रजन किया करता था।[६३] नृत्यकला में वेश्याएँ भी अत्यन्त प्रवीण हुआ करती थी।[६४] युग प्रवृत्ति ने ऐसी सस्थाओ पर अपने प्रभाव चिह्न छोड दिए थे, जो सास्कृतिक प्रगति की दिशा मे कार्य करने के स्थान पर, महत्वहीन आनन्द तथा मनो रजन का साधन बनकर रह गई थी।

(र) नाटकीय प्रदर्शन

१ रहस

दीपकाल मे ही हिन्दू पौराणिक कथाओ के राम व कृष्ण के जीवन की विभिन्न घटनाओं की नाटकीय अभिव्यक्तियाँ प्रदर्शित की जाती थी। ये अति लोक-प्रिय बन गई थी। ये रहस अथवा रास कहलाती थी। अनेक भ्रमणशील मण्डलियाँ, स्थान-स्थान पर अपनी कला का प्रदर्शन नृत्य व सगीत के साथ किया करती थी। नृत्य व सगीत उनकी विशेषताएँ होती थी। इन भ्रमणशील मण्डलियों की दशा शोचनीय थी तथा समाज म उनकी कोई प्रतिष्ठा नही थी।[६५] इनके प्रदर्शनो का

---

५८ वही, पृ० ९९–१००।

५९ शरर, पृ० १७८; मसनवियात ए मीर हसन पृ० १६०।

६० शरर, पृ० १३८।

६१ वही पृ० १७९।

६२ वही, पृ० १८०।

६३ वही, पृ० १८३।

६४ वही पृ० १८४।

६५ औरगजेब के शासनकाल म रचित अपनी मसनवी 'नैरग ए इश्क'' में मौलाना गनीमत इन प्रदर्शको की दयनीय दशा का सुस्पष्ट वर्णन करते हैं, जिन्हे उन्होन 'भगतबाज कहा है (सक्सेना पृ० ३४८)।

आनन्द हिन्दू तथा मुसलमान, दोनों ही समान रूप से लिया करते थे।[६६] ऐसे प्रदर्शनों ने वाजिद अली शाह 'रंगीले पिया' की भावना-शक्ति को आकर्षित किया, उन्होंने अपने दरबार के लिए अनेक मण्डलियाँ तैयार की। अपने रहसों में 'वे स्वयं कन्हैया बनते तथा उनकी अनेक नृत्य-बालाएँ रत्नजटित स्वर्णाभूषण तथा भड़कीले परिधान धारण कर उनकी गोपियाँ बनती थी।"[६७]

२ स्वांग

उत्सव के दिनों में प्रायः जुलूसों में नक्कालों अथवा भाँडों द्वारा प्रदर्शित अभद्र नकल को स्वांग कहा जाता था। नक्काल कुलीनों व दरबारों के फैशनेबल सहचारी हुआ करते थे। वे अपने स्वामियों तथा उनके अतिथियों का मनोरंजन ऐसे प्रदर्शनों से किया करते थे जिनमें किसी विख्यात चरित्र अथवा किसी अनुपयुक्त प्रथा की खिल्ली उड़ाई जाती थी। यह एक ऐसी कला समझी जाती थी जिसके लिए अभ्यास अपेक्षित था। संगीत व नृत्य इस कला के आवश्यक अंग समझे जाते थे। इनमें से कुछ नक्कालों की स्वतन्त्र मण्डलियाँ थी जिन्हें विभिन्न अवसरों पर किराये पर उपलब्ध किया जाता था। मीर हसन ने अपनी कविताओं में से एक के 'किता' अथवा अंश-खण्ड में उनका उल्लेख किया है।[६८] उनके उपहास के विषय में कृपण लोग, बनिये तथा नाचने वाली हुआ करती थी, जिन्हें वे अपने व्यवसाय में भारी प्रतिद्वन्द्वी समझा करते थे।[६९]

हास्य प्रहसन अथवा 'नक्लें' तथा बहुरूपिये अवध के नवाबों के अत्यन्त प्रिय बन गए थे।[७०] ऐसे प्रदर्शनों की मुक्त कण्ठ से सराहना की जाती तथा उन्हें अत्युदारता से पुरस्कृत किया जाता था। 'इन नक्लों की कोई लिखित हस्तलिपि नहीं होती थी, बादशाह के सुझाव पर हँसी ठट्ठा उभारने तथा आनन्द व मनोरंजन प्रदान करने के लिए प्रदर्शनों की आशुरचना कर ली जाती थी।"[७१] लखनऊ में इसका अनुसरण किया जाने लगा। वहाँ सुख-लोलुप नवाब मसखरों की संगति का आनन्द लूटते थे। प्रत्येक औत्सविक जलसे में मसखरे देखे जा सकते थे। उनमें यह आशा नहीं की जाती थी कि नकल में वे अपने आश्रयदाता को तो बख्श ही देंगे।[७२]

---

६६. मिर्ज़ा कतील, पृ० ८६।

६७ सक्सेना पृ० ३४८।

६८ वही, पृ० ३४६।

६६ उनके मार्मिक व्यंग्यों व ठट्ठों के कतिपय रोचक उदाहरणों के लिए देखिए, शरर, पृ० १९१-९३।

७० वास्तव में वे उत्तरकालीन मुगलों के साथ लोकप्रिय बन गए थे। उदाहरणार्थ, यह उल्लेखनीय है कि जिस समय नादिरशाह की सेना दिल्ली पर आक्रमण के लिए अग्रसर थी, उस समय मुहम्मदशाह 'रंगीला', हास्य प्रहसन के मध्य थे तथा उनके पास सूचना इन्हीं वृत्तिक नक्कालों के द्वारा पहुँचाई जा सकी थी।

७१ सक्सेना, पृ० ३५०।

७२. शरर, पृ० १९२।

नसीरुद्दीन के समय में करेला भाँड अपने प्रदर्शनों के लिए प्रसिद्ध था। कुछ समय पश्चात् साजन, कायम, वायम, रजबी, नौशा तथा बीबी उभरे।[७३] कायम एक बार निरन्तर साढ़े तीन घण्टे तक नाना प्रकार के मुँह बनाता रहा, जिससे दर्शकों के मनोरंजन की कोई सीमा न रही।[७४]

२ नाटक :

वाजिद अली शाह के शासनकाल में वैभव विलासिता का जीवन अपनी चरम-सीमा पर पहुँच गया था। निम्नलिखित शब्दों में उस युग का चित्रण भली प्रकार किया गया है —"वहाँ विपुल धन विलासिता, आमोद-प्रमोद, छिछोरापन, नाचरंग तथा संगीत के चारों ओर जलसे थे; सौंदर्य-प्रेमी पुरुषों तथा शृंगार-प्रिय स्त्रियों के जमघट थे। गीतों के संगीत से हर्षित तथा गुलाबी समय के विलासप्रिय नेताओं के नेतृत्व में जीवन इस आनन्द से व्यतीत होता था, मानो फूलों की सेज पर भीनी सुगंधित वायु बहती है। वह काल्पनिक गन्धर्वलोक इस वास्तविक परिस्तान का, जहाँ हज़ारों-लाखों व्यक्ति अपना जीवन आमोद-प्रमोद व हास्य में व्यतीत करते थे, केवल एक धुंधला प्रतिबिम्ब मात्र था। शाहज़ादे, कुलीन, दरबारी तथा अमीर विलासिता की गोद में बैठे, विश्व के वैभव से सेवित, नेत्रों के समक्ष एक भव्य दृश्य प्रस्तुत करते थे।"[७५] ऐसे वातावरण में उर्दू नाटक ने जन्म लिया। वाजिद अली शाह के दरबारी व सहचारी सदैव अपने विनोदी स्वामी के मनोरंजनार्थ, नवीन साधनों की खोज में रहते थे। उनके फ्रांसीसी साथियों में से एक ने रंगमंच का विचार, विषय तथा ऑपेरा (संगीत नाट्य) की योजना प्रस्तुत की जो फ्रांस में उस समय अपनी लोकप्रियता की चरम सीमा पर था।[७६] प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया गया, क्योंकि इसके द्वारा दरबार में भरी हुई हज़ारों सुंदर गायिकाओं की सेवाओं का अच्छा उपयोग किया जा सकता था। दरबारी कवि अमानत ने, जिन्हें नाटक लिखने की आज्ञा दी गई, 'इन्दर सभा' नामक नाटक की रचना की। यह एक संगीतात्मक प्रहसन था जिसकी रचना ऑपेरा की शैली के आधार पर की गई थी। जैसे ही प्रहसन तैयार हुआ एक भव्य अस्थायी मंच का निर्माण कैसर बाग में किया गया। "कहा जाता है कि वाजिद अली शाह ने राजा इन्द्र का अभिनय किया जिसका

---

७३. वही।

७४ वही, पृ० १८३।

७५ सक्सेना, पृ० ३५०-५१।

७६ नूर इलाही तथा मुहम्मद उमर, 'नाटक सागर' (लाहौर, १९३५), पृ० ४८-५८ अब्दुल हलीम शरर ने इस मत के निराकरण करने का प्रयास किया है कि लखनऊ ऑपेरा की व्युत्पत्ति फ्रांसीसी थी तथा अमानत ने 'इन्दर-सभा' की रचना वाजिदअली शाह की आज्ञा से की तथा राजा इन्द्र का मुख्य अभिनय नवाब ने स्वयं किया। परन्तु उनके तर्क प्रबल होते हुए भी विश्वसनीय प्रतीत नहीं होते, (वही पृ० ४८-५८), सक्सेना सक्सेना (पृ० ३५१), 'नाटक सागर' का अनुसरण करते हैं।

पृथ्वी पर प्रतिरूप वे स्वय को समभते थे। उनके दरबारियो को उनके उपयुक्त अन्य अभिनय कार्य दिए गए। नृत्य बालाओ ने रत्नजटित आभूषण तथा भव्य परिधान धारण कर परियो का अभिनय किया तथा इन्द्रियसुखानुरागी नवाब ने उनके साथ केलिक्रीडा की।"[७७]

'इन्दर सभा' ने अपनी धूम मचादी तथा शीघ्र ही वह लोकप्रियता की सीढ़ी चढ गई। इसी का अनुकरण कर बीसियो सभाएँ शीघ्र उत्पन्न हो गईं। वे इतनी अधिक लोकप्रिय हुईं कि कुछ समय के लिए सगीतज्ञो व नाचने वाली वेश्याओ के तो बाजार ही ठण्डे पड गए।[७८] इसकी आश्चर्यजनक सफलता का रहस्य, इसके सगीतप्रिय दर्शको को आनन्दित करने वाले सुन्दर व मोहक उच्चकोटि के विभिन्न गीतो मे, इसकी भव्यता तथा चमक दमक मे, इसके लय-बद्ध नाटकीय प्रदर्शन व इसके अलौकिक सुकुमार दृश्यो के प्रभाव मे, निहित था।[७९]

(ल) आतिश-बाजी

आतिशबाजी विशेषकर उत्सव और समारोह सम्बन्धी अवसरो पर मनोरजन का एक बडा साधन थी।[८०] नजीर अपनी कविता शब ए बरात[८१] मे लोगो द्वारा शब-ए-बरात के अवसर पर दिल खोल कर इसका आनन्द लूटने का सजीव वर्णन करते है। वे सभी लोगो को आनन्द प्रदान करने वाले आतिशबाजी के एक दर्जन से भी अधिक प्रकार के प्रचलित पटाखों का वर्णन करते हैं[८२]

घन चक्कर अपने दम मे कहीं चर्ख लाते हैं
टोटे हवाई सीग कहीं कहकहाते हैं
झीपट जपट पटाखे कहीं गुल मचाते हैं

---

७७ सक्सेना पृ० ३५१।

७८ शरर, पृ० १८५।

७९ अमानत की 'इन्दर सभा' की भव्य सफलता देखकर मदारीलाल ने एक अन्य इन्द्र सभा की रचना की। 'इन्द्र सभा की लोकप्रियता कभी कम न हुई, अपितु बढती ही गई तथा कालान्तर मे थियेट्रिकल कम्पनियो की लोकप्रियता में भी एक प्रकार से बाधा सिद्ध हुई। इसकी माँग इतनी अधिक थी कि यह देवनागरी, गुजराती तथा गुरमुखी आदि विभिन्न लिपियो म तथा विभिन्न स्थानो पर छापी गयी। इसके कम से कम चालीस सस्करण इण्डियन ऑफ़िस लाइब्रेरी में मौजूद हैं। इसका अनुवाद जर्मन भाषा में भी हुआ तथा १८९२ ई० में लीपजिग मे छपी। इसका प्रकाशन १८६७ में प्रारम्भ हुआ ।' (सक्सेना, पृ० ३५२ ५३)।

८० 'आब्बर्वेशन्स', भाग–२, पृ० ५५।

८१ कुल्लियात ए-नजीर', पृ० ४१६–१८।

८२ यथा, लटटू, ताबडी, टोटा, महताबी, जर्कियाँ, अनार कुल्हिया हथफूल, गुलकारी, छछूँदर, घन चक्कर, सीग, हवाई, पटाखा, कसम तडी इत्यादि।

लड़को के बाँध गोल कहीं लड़ने जाते हैं
करती हैं फिर तो ऐसी धूंधारी शब-ए-बरात[८३]

ये आतिशबाजियाँ सस्ती बिकती थी क्योंकि इनका प्रमुख तत्व—शोरा, कम मूल्य पर ही सुलभ हो जाता था।[८४] बहुत से नवयुवक अपनी आविष्कारक कुशल बुद्धि का प्रयोग, आतिशबाजियों म नवीनताएँ उत्पन्न करने म किया करते थे।[८५] वे इतनी अच्छी बनती थी कि विदेशी लोग भी उनकी सराहना किया करते थे।[८६] बहरहाल, वे कभी-कभी कुछ लोगो के लिए घातक भी सिद्ध होती थी

चेहरा किसी का जल गया आँखें झुलस गयीं
छाती किसी की जल गयी बाहें झुलस गयी
टाँगें बचीं किसी की तो रानें झुलस गयीं
मुछें किसी की फुक गयीं पलकें झुलस गयीं
रते किसी की दाढ़ी पे चिंगारी शबे बरात[८७]

(ब) त्योहार .

१. ईदुज्जुहा

ईदुज्जुहा अथवा बकरईद[८८] बलिदान का धार्मिकोत्सव था, जो अन्तिम अरबी महीने जिलहुज्ज की १०वी तारीख को मनाया जाता था।[८९] इस त्योहार को जन्म देने वाली एक महत्वपूर्ण घटना थी, जिसमें इब्राहीम ने अपने पुत्र को बलि के लिए भेंट कर दिया था।[९०] इस दिन किसी चौपाये, यथा—ऊँट, भेड, बकरी या मेमने की बलि दी जाती थी। यह बलि उस मेढे की स्मृति मे दी जाती थी, जिसने इस्माइल को उस समय मुक्त कराया जबकि वह बलि के लिए ले जाया जा रहा था। यह दिन मुसलिम जनता के सभी वर्गों के लिए बलि के साथ न केवल धार्मिक श्रद्धा व पवित्र प्रार्थनाओ का दिन था, अपितु आनन्दपूर्ण स्मृतियो, फलत हर्षोल्लास का दिन भी था।[९१]

---

८३ 'कुल्लियात-ए-नजीर' पृ० ४१८ ।
८४. 'ऑब्जर्वेशन्स', भाग-२, पृ० ५५ ।
८५. वही ।
८६ वही ।
८७ 'कुल्लियात-ए नजीर', पृ० ४१८ ।
८८ वही, 'ऑब्जर्वेशन्स', भाग-१, पृ० २६०-६२, २८०-८२; 'इस्लाम-इन-इण्डिया', पृ० ४१४, 'इस्लामी त्योहार', पृ० ७८-८८; सी० एच० बक, 'फ्रेथ्स, फ्रेयर्स एण्ड फैस्टीवल्स ऑव इण्डिया' (कलकत्ता, १९१७), पृ० २०१ ।
८९. मुफ्ती, पृ० ७०३ ।
९०. 'ऑब्जर्वेशन्स', भाग-१, पृ० २६० ।
९१ वही, पृ० २६२, २८१ ।

श्रीमती मीर हसन अली ने लखनऊ म इस उत्सव की धूम धाम का सजीव वर्णन किया है। बकरीद की सुबह बादशाह रेजीडेण्ट उसके अनुचरवर्ग तथा कुलीन वर्ग के लिए सार्वजनिक रूप से जलपान का आयोजन करते थे। इस अवसर पर विविध प्रकार के खेल तमाशे हुआ करते थे यथा—हस्ती-युद्ध व्याघ्र आखेट इत्यादि। सायंकाल म बादशाह उनके कृपापात्र और दरबारी संगीत व नृत्य, आतिशबाजी प्रदर्शन दरबारी विदूषकों की ठिठोलियां तथा अन्य मनोरंजनों का आनन्द लिया करते थे। ये रंगरलियाँ केवल उच्च वर्ग तक ही सीमित न थी वरन् सर्वसाधारण भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार दरबार की प्रथा का अनुकरण किया करता था। धनी अपने पड़ौसियो तथा निर्धनों के यहाँ भेंड बकरियाँ उपहार स्वरूप भेजा करते थे ताकि वे भी इस उत्सव को मना सकें। उनमें नवीन वस्त्रादि भी वितरित किए जाते थे। श्रीमती मीर हसन अली के शब्दों म संक्षेप म इस दिन चारों ओर एक परोपकार की भावना व्याप्त प्रतीत होती है जो स्पष्टत उनके प्राकृतिक स्वभाव की सामान्य उदारता से भी बढकर होती है यद्यपि जिनके पास बाँटने के लिए यदि कुछ भी होता है तो वे अवश्य ही इस अवसर पर अभावग्रस्तों को सुखकर पदार्थ प्रदान करते हैं तथा अपने मित्रों और परिचितों को सन्तुष्ट करते हैं।[६२]

इस अवसर पर होने वाले वर तथा वधू उपहारों का आदान प्रदान करते थे। शिक्षक इस दिन श्लोकों की एक प्रति लिख कर अपने शिष्य को प्रदान करता था। शिष्य इसके बदले म अपने शिक्षक को वस्त्र तथा धन भेजता था। उच्चवर्गीय स्त्रियाँ बहुमूल्य रत्न तथा पोशाक धारण करके अपनी अतिथियों का स्वागत करती और अपने परिचितों के यहाँ मिलने जाती। बच्चे अपने खेलों तथा मनोरंजनों मे व्यस्त रहा करते थे। सभी लोग प्रफुल्ल तथा प्रसन्न दिखाई पडते और अपनी अपनी रुचियों के अनुसार, मनोरंजन म तल्लीन रहा करते थे।[६३]

२ नौ रोज़

पारसी वसन्त ऋतु का त्योहार नौ रोज अथवा नव वर्ष दिवस भी अत्यधिक उत्साह से मनाया जाता था।[६४] लखनऊ म इस दिन बादशाह अपने कुलीनों, दरबारियों तथा आश्रितों स बधाई व नजर (भेंट) स्वीकार करते थे। मुसलिम समाज के सभी वर्गों द्वारा मुबारक नौरोज कह कर अभिवादन किया जाता था जिसका

---

६२ वही पृ० २८२ ८३।

६३ वही पृ० २८२।

६४ आजकल यह केवल ईरानियों तथा मसोपोटामियों म शिया अरबों के द्वारा २१वी मार्च अथवा महाविषुव को मनाया जाता है। यह सबसे बड़ा ईरानी राष्ट्रीय त्योहार है तथा सभी ईरानियों द्वारा महान उत्साह से मनाया जाता है। यह त्योहार वसन्त ऋतु का आरम्भ सूचित करता है। (शुस्त्री पृ० ७०६) भारत म यह वस्तुत समाप्त हो गया है। (अशरफ पृ० ३००)।

प्रारम्भ स्वयं बादशाह करते थे।[६५] यह दिन विशेष रूप से मनोरंजन, महल में आयोजित सार्वजनिक जलपान, उपहार वितरण, एक-दूसरे के यहाँ आने-जाने का होता था। सुस्वादु व्यंजन तैयार किए जाते तथा मित्रों व सम्बन्धियों के यहाँ ट्रे में भली भाँति सजाकर भेजे जाते थे।[६६] धनी लोग निर्धनों व अभावग्रस्तों को भोजन, वस्त्र तथा धन वितरित किया करते थे। सम्पूर्ण दिन हर्षोल्लास व मनोरंजनों में व्यतीत किया जाता था।[६७]

३ ईदुल-फित्र

ईदुल-फित्र[६८] अथवा व्रत तोड़ने का त्यौहार, रमज़ान के समस्त महीने में रखे गए लम्बे उपवासों के पश्चात् दसवें अरबी महीने शव्वाल के प्रथम दिवस को मनाया जाता था।[६६] इस दिन प्रत्येक दीनदार मुसलमान से यह आशा की जाती थी कि वह स्नान कर, अपने वस्त्र बदले, ईदगाह (अथवा मस्जिद) में त्यौहार की नमाज पढ़े तथा वहाँ पर उपस्थित व्यक्तियों को गले से लगाए।[१००] इसके पश्चात् वह मित्रों, बड़ों तथा उच्चस्थ व्यक्तियों के यहाँ जाता था तथा अपने अधीनस्थ व्यक्तियों का स्वागत करता था।

मुसलमानों द्वारा मनाए जाने वाले सभी त्योहारों में ईदुल-फित्र सर्वाधिक खुशी का त्योहार था

> पोशाकें तन में जर्द सुनहरी सफेद लाल
> दिल क्या कि हँस रहा है पड़ा तन का बालबाल
> ऐसी न शब-ए-बरात न बकरईद की खुशी
> जैसी हर एक दिल में है इस ईद की खुशी[१०१]

युवा एवं वृद्ध दोनों ही इसे समान उत्साह से मनाते थे। मद्य व्यसनियों के लिए तो यह सर्वाधिक उत्तम अवसर समझा जाता था। वे दिल खोल कर भाग सहित सभी मादक पदार्थों का सेवन किया करते थे

> बैठे हैं फूल फूल के मैखानों में कलाल
> और भंग खानों में भी हैं सर सब्जियाँ कमाल
> छनती हैं भंगें उड़ते हैं चरसों के दम निढाल[१०२]

---

६५ ऑब्जर्वेशन्स, भाग-१, पृ० २८६।

६६ वही, २८५।

६७ वही, २८३।

६८ कुल्लियात-ए-नज़ीर, पृ० ४१८-२०; 'इस्लामी त्योहार, पृ० ७२-७८, 'इस्लाम इन-इण्डिया', पृ० २११-१४।

६६ मुन्शी, पृ० ७०४।

१०० वही, पृ० ७०५।

१०१ 'कुल्लियात-ए-नज़ीर, पृ० ४१८

१०२ वही, पृ० ४१६।

नजीर के अनुसार, यह त्योहार प्रेम-प्रदर्शन का भी एक सर्वोत्तम अवसर था जो अन्यथा इतने स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध न था ·

फिरते हैं दिलबरो के भी गलियो मे गुट के गुट
आशिक् मजे, उड़ाते हैं हर दम लिपट लिपट[१०३]

सक्षेप मे, इस अवसर पर समाज के प्रत्येक स्तर का मुसलमान हर्षमग्न दिखाई देता था, क्योंकि यह त्योहार रमज़ान के उपवासों की दीर्घकालीन कठोरताओं को सहन करने के पश्चात् आता था।[१०४] इस दृष्टि से इसका बहुत महत्त्व था।

४. शब-ए-बरात .

शब-ए-बरात एक महत्त्वपूर्ण त्योहार था, जो आठवें अरबी महने शबां के चौदहवें दिन पड़ता था। यह सामान्य विश्वास प्रचलित था कि इस रात्रि को स्वर्ग मे, पृथ्वी पर रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति का भाग्य, आगामी वर्ष के लिए 'जीवन की पुस्तक' मे अकित किया जाता था।[१०५] इस रात्रि को उन्हे अपने मृत मित्रो व सम्बन्धियो को स्मरण करने का निर्देश दिया गया था। इस व्यादेश का पालन विशेष श्रद्धा से किया जाता था। भोजन तैयार कर प्रत्येक सम्मानित मृत आत्मा के नाम का भाग निकाला जाता था, जिस पर मौलवी अथवा परिवार का कोई वयोवृद्ध फातिहा पढता था।[१०६] तत्पश्चात् इसे दफ़नाए गए मृतको की विभिन्न कब्रो पर ले जाया जाता, अथवा निर्धनो मे विभक्त कर दिया जाता था। इस अवसर पर जो भोजन तैयार किया जाता, उसमे बहुधा विभिन्न प्रकार की रोटियाँ, मीठे चावल तथा हलवा होता था।[१०७] मिष्ठान्न व उपहारो का परस्पर आदान-प्रदान होता था। वास्तविक त्योहार १४वी की शाम को मनाया जाता था।[१०८] इस उत्सव की विशिष्टता आतिशबाजी का प्रचुर प्रयोग था।[१०९] शब-ए-बरात की सम्पूर्ण रात्रि जाग कर व्यतीत करनी होती थी,[११०] अत आतिशबाज़ी का प्रयोग आवश्यक बन गया था।

नज़ीर ने अपनी कविता 'शब्र-ए-बरात'[१११] मे इस त्योहार के धनी-निर्धन, युवा-वृद्ध सभी द्वारा मनाए जाने का उल्लेख किया है। उन्होने देखा कि यह त्योहार

---

१०३. वही।
१०४. वही पृ० ४२०।
१०५ 'ऑब्ज़र्वेशन्स', भाग-१, पृ० ३०२, 'इस्लामी त्योहार', पृ० ६८-७२।
१०६ 'ऑब्जर्वेशन्स', भाग-१, पृ० ३०२; 'इस्लाम-इन-इण्डिया', पृ० २०३-४; 'इस्लामी-त्योहार', पृ० ६८-७२।
१०७. 'कुल्लियात-ए-नजीर', पृ० ४१६; 'ऑब्ज़र्वेशन्स', भाग-१, पृ० ३०३।
१०८. 'इस्लाम-इन-इण्डिया', पृ० २०३-४।
१०९. 'कुल्लियात-ए-नजीर', पृ० ४१६-१८।
११०. 'ऑब्ज़र्वेशन्स', भाग-१, पृ० ३०३।
१११. 'कुल्लियात-ए-नज़ीर', पृ० ४१६-१८।

सभी के लिए हर्षोल्लास का अवसर था, परन्तु निधन व निराश्रित के लिए यह नमक से भी अधिक खारा था

उनको है खारी नौन से भी खारो शब ए बरात[112]

नज़ीर सामान्य मौलवियो तथा मुल्लाओ की मनोवृत्ति का चित्रण करना नही भूले जो लोगो की धार्मिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाले समझे जाते थे। ये लोग सदैव सुस्वादु व्यजना के पीछे भागते धनी के निमन्त्रण पर दौडकर उसके घर पहुँच जाते, परन्तु निधन के घर कभी बाट जाया करते थ

मुफलिस कोई बुलावे तो मुह को छुपाते है

शकर का हल्वा सुनते ही बस दौडे जाते हैं[113]

इसके अतिरिक्त नज़ीर ने लक्ष्य किया कि मुसलिम जनता म इतनी स्वच्छ अन्तर्भावना न थी जितनी कि उनके हर्षोल्लास के प्रदशन से प्रतीत होती थी

कोई दोस्तो को दिल म समझता है अपने गैर

कोई दुश्मनो से दिल का निकाले है अपने बैर[114]

इस हर्षोल्लास के पव पर आतिशबाज़ी आदि के अत्यधिक प्रयोग के कारण कुछ लोग दुघटना ग्रस्त होकर घायल हो जाया करते थ।[115]

(श) मेल

१ फूल वालो की सैर

दिल्ली मे सलोना अथवा पखा पव जिसे फूल वालो की सैर भी कहा जाता था अत्यधिक लोकप्रिय था।[116] यह मेला प्रत्येक वर्षा ऋतु के अन्त म, अगस्त माह म महरौली मे आयोजित किया जाता था। इसम हिन्दू तथा मुसलमान समानरूप से सम्मिलित होते थे। व जुलूस बनाकर, बारी-बारी से हिन्दू जोग माया जी के मन्दिर तथा मुसलमान सत ख्वाजा कुतुबुद्दीन की मज़ार पर जाया करते थे।[117] बादशाह हाथी पर बैठकर इसका नेतृत्व करते थे उनके पीछे अनुचर विशाल पखा को डुलाते हुए चलते थे।[118]

इस मेले का प्रारम्भ एक मिन्नत के परिपूर्ण होने के परिणामस्वरूप हुआ था। यह अकबर द्वितीय (१८०६–३७) की प्रिय बेगम मुमताज़ महल ने अपने पुत्र मिर्ज़ा जहांगीर की मुक्ति के लिए माँगी थी, जिसे उद्दण्डता के गम्भीर आरोपो के

---

११२ वही, पृ० ४१७।
११३ वही।
११४ वही, पृ० ४१८।
११५ वही।
११६ 'उर्दू-ए मुअल्ला', पृ० १४५।
११७ पर्सीवल स्पीअर पृ० १९५।
११८ वही, पृ० ७४।

कारण इलाहाबाद मे राजकीय बन्दी बना लिया गया था।[११९] माता ने मनौती मनाई थी कि यदि उसका पुत्र मुक्त कर दिया गया तो वह हजरत ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी की मजार पर चादर व फूलों की मसहरी चढाएगी।[१२०] बहरहाल, वह व्यक्ति मुक्त कर दिया गया तथा इसके उपलक्ष मे अत्यन्त हर्ष मनाया गया। बोली हुई चादर तथा मसहरी एक जुलूस के साथ बडी धूमधाम से मजार पर ले आई गई। जिन कारीगरो ने मसहरी का निर्माण किया, उन्होंने सुन्दरता के उद्देश्य से उसमे एक पखा भी लटका दिया था, अत इस मेले का नाम 'पखा' भी पडा। जुलूस मे नगर के हिन्दू तथा मुसलमान दोनो ही बड़े उत्साह से सम्मिलित हुए। यह मेला निरन्तर कई दिनो तक चला।[१२१]

इस मेले ने असख्य लोगों को आकृष्ट किया तथा प्रारम्भ मे ही अत्यन्त सफल सिद्ध हुआ। इस मेले का सास्कृतिक महत्त्व बादशाह को विदित हुआ। उन्होंने इसे अत्यधिक पसन्द किया तथा इच्छा व्यक्त की कि प्रत्येक वर्ष भादो के महीने मे इसका आयोजन किया जाए। इस प्रकार, यह हिन्दुओं व मुसलमानो मे समानरूप से लोकप्रिय बन गया। मुसलमान, दरगाह शरीफ पर पखा चढाते तथा इसी प्रकार हिन्दू, लोग मायाजी के मन्दिर मे पखा चढाते। दोनों एक दूसरे के जुलूस मे सम्मिलित हुआ करते थे। बादशाह शाहजादो सहित कुतुब तक जुलूस का नेतृत्व करते और वहाँ ठहरा करते थे। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, मेला धीरे-धीरे व्यापकरूप धारण करता गया।[१२२]

बहादुर शाह जफर को इस मेले के प्रति विशेष रुचि थी। उनके समय मे 'फूल वालो की सैर' लोकप्रियता की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उन्होंने इसे संरक्षण प्रदान करने की ओर विशेष ध्यान दिया। इसके प्रति उनकी अभिरुचि का चित्रण 'पखा' नामक एक कविता[१२३] मे मिलता है, इसकी रचना उन्होने 'मुख़म्मस' की शैली मे की थी :—

शायक़ इस सैर के सब आज है बादीदा दिल
वाक़ई सैर है यह देखने ही के क़ाबिल

---

११९. फरहतुल्ला बेग, 'मजामीन-ए-फ़रहत', भाग-२, (लाहौर), पृ० ८; अमीर अहमद अल्वी, 'बहादुर शाह ज़फ़र', (लखनऊ, १९३५), पृ० ३२-३३, पर्सीवल स्पीअर, पृ० ६३-६४।

१२०. 'मजामीन ए फ़रहत', पृ० ८।

१२१ वही।

१२२. यह उल्लेखनीय है कि अपने प्रारम्भिक चरण मे पंखा पर्व वहाबियो के कड़े विरोध के बावजूद भी लोकप्रियता प्राप्त करता गया, जिन्होंने कब्र पूजा की भर्त्सना की तथा ऐसे मेलो-ठेलो में भाग लेने के विरुद्ध घोषणा की। परन्तु विरोध जितना अधिक किया गया, इसकी लोकप्रियता उतनी ही अधिक बढती गई (अमीर अहमद अल्वी, पृ० ३४)। जनता ने कतिपय धर्मान्ध व्यक्तियो की ऐसी निषेधाज्ञाओं की कोई परवाह नहीं की। यह मेला डेढ़ शताब्दी के पश्चात् भी आज तक लोकप्रिय है तथा हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द का प्रतीक है।

१२३. अमीर अहमद अल्वी, पृ० ३४-३६।

रग का जोश है माही से अबस माह तलक
डूबे हैं रग मे मदहोश से आगाह तलक
आज रगीं हैं रय्यत से लगा शाह तलक
जाफरों जार है इक बाग से दरगाह तलक
देखने आई है इस रग से खल्कत पखा[१२४]

इस अवसर के लिए विशाल रूप से तैयारियाँ की जाती थी। अजमेरी द्वार से लेकर कुतुब तक जुलूस के सम्पूर्ण मार्ग मे असख्य दुकानें लग जाती थी। अमीर अपनी पालकियो मे बैठकर जुलूस मे सम्मिलित होते थे। वेश्याओ के सुसज्जित रथ निकलते थे, जिनमे वे अपने सर्वोत्तम बनाव शृगार किए बैठती थी। आभिजात्य पुरुष अति अलकृत अश्वो पर सवार होते थे। साथ ही रेशमी बागडोर थामे साईस चलते थे, वे साफ सुथरे वस्त्र तथा छोटी सुर्ख पगडियाँ पहने होते थे। निर्धन भी उसी उत्साह से केवल तहमद धारण किए पैदल ही चलते थे।[१२५]

महरौली मे ठहरने के लिए स्थान का कोई अभाव नही था। धनी व निर्धनो के लिए वहाँ राजकीय शिविर, शाही-भवन तथा पुराने खण्डहर आदि थे। पर्याप्त आश्रय-स्थल हो न हो, वहाँ पर हर प्रकार की दुकानें विशेष रूप से, मिष्ठान, पान, तथा खिलौनो की, अधिक सख्या म होती थी। इस प्रकार महरौली हर्षोल्लास चहल-पहल व सामाजिक सम्मिलन का दृश्य प्रस्तुत करता था।[१२६]

२. तैराकी का मेला :

उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे आगरा का तैराकी मेला लोकप्रियता की पराकाष्ठा पर था।[१२७] यह मेला प्रत्येक वर्ष सावन भादो के महिनो मे होता था। यह एक प्रकार की तैराकी प्रतियोगिता होती थी, जिसम हार्दिक रूप से सामाजिक सयोजन होता था। आगरा-वासी बिना किसी जाति-पाँति के, भेद-भाव के यमुना के तटो पर एकत्र होते तथा मेले का आनन्द लेते थे। प्रतीत होता है कि नज़ीर इस तैराकी म सक्रिय भाग लेते थे। उन्होने अपनी कविता 'आगरे की तैराकी'[१२८] मे

---

१२४ वही, पृ० ३५।

१२५ 'मजामीन-ए-फरहत', पृ० ३३-३४।

१२६ वही, पृ० ३५-३८।

१२७ यह अब भी अधिक लोकप्रिय है तथा उत्तर भारत में उतना ही प्रसिद्ध है जितना कि दिल्ली का फूल वालो की सैर'। यह प्रत्येक वर्ष सावन-भादो के महीना में होता है। नगर का प्राय प्रत्येक स्थल अपने परम्परागत उस्तादो' व 'खलीफो' के साथ वर्षा ऋतु की बाढ़-युक्त यमुना म सामूहिक रूप स तैराकी म भाग लेता है। प्रत्येक इकाई, जिसे 'अखाड़ा' कहते है, का अपना अपना झण्डा, नौकाएँ तथा अन्य उपकरण होते हैं। यहाँ तक कि अपना एक नारा भी होता है।

१२८ 'कुल्लियात-ए-नज़ीर', पृ० ४४८-८९।

समस्त दृश्य, तैराकों के मार्ग तथा विभिन्न प्रकार की धाराओं व जल की अन्य हल-चलों का विशद वर्णन उनके उचित नामों सहित किया है

झरने से लेके थारो सज्जा का ता पियाला
छतरी से बुर्ज लूनी दारा का चौंतरा क्या
महताब बाग सैयद तेली किला ओ रौजा
गुल शोर की बहारें अबोट् सैर चरचा
बाग हकीम और जो शिवदास का चमन है
उनमें जगह जगह पर मजलिस है अंजुमन है
बरसात में जो आकर चढ़ता है खूब दरिया
हर जा खडी व चादर बन्द और नाद घबचा
भेदा भँवर उछालन घक्कर समेट माला
भेदा घुमेर तत्ता चस्से पछाड कर्रा
वाँ भी हुनर से अपने हुशियार पैरते हैं
इस आगरे में क्या क्या ऐ यार पैरते हैं[१२६]

इस अवसर पर तैराक जल म अनेक असाधारण करतब दिखाकर अपनी कला प्रवीणता का प्रदशन करते थ। उदाहरणाथ, जल की सतह पर स्तब्ध रूप स चित लेट जाना, पतग उडाना, हुक्का पीना, हाथा म पक्षियों के पिंजडे ल जाना तथा सूई म धागा पिरोना इत्यादि

जाते हैं इनमे कितने पानी पै साफ सोते
कितनों के हाथ पिंजरे कितनो के सर पै तोते
कितने पतग उडाते कितने सुई पिरोते
हुक्को का दम लगाते हँस हँस के शाद होते[130]

३ कैसर बाग का मेला

वाजिद अली शाह के जन्म पर ज्योतिषियो ने सवेदनात्मक भविष्यवाणियाँ की थी कि उन पर कुछ नक्षत्रो का अशुभ प्रभाव पडने वाला था।[१३१] दुष्ट ग्रहो के प्रभाव को निष्फल करने के लिए ज्योतिषियो ने उनकी माता को परामर्श दिया कि *वे बालक को छठी सस्कारोत्सव पर गेरुए रग के परिधान धारण कराएँ। तभी से* उनकी माँ उनके प्रत्येक जन्म दिवस पर उनको जोगी बनाने लगी। युवा होने पर उन्होंने इस पवित्र उत्सव को सगीत व नृत्योत्सव म परिणत कर दिया, इसमे सीमित सख्या में ही निकट के लोगो को सम्मिलित होने की अनुमति थी। उनके राज्यारोहण

---

१२६ वही, पृ० ४४६।
१३०. वही, पृ० ४४६-५०।
१३१ 'नादिरुल-अस्र पृ० १२६।

के पश्चात् भी यह कुछ समय तक एक निजी उत्सव के रूप मे चलता रहा।[१३२] सन् १८५३ मे वाजिद अली शाह ने सर्वसाधारण को सम्मिलित होने की अनुमति प्रदान कर, इसे एक मेले का रूप दे दिया। यह मेला सावन के महीने मे कैंसर बाग[१३३] मे आयोजित हुआ करता था। चूँकि इस मेले की उत्पत्ति वाजिदअली-शाह के जोगी बनने के उत्सव से सम्बन्धित थी, अत इसमे बादशाह व सम्मिलित होने वाले अन्य लोगो को जोगियो की भाँति गेरुए रग के वस्त्र धारण करने आवश्यक थे। इसी कारण, इस मेले का उल्लेख अनेक नामो से मिलता है, यथा–शाही मेला, सुल्तानी मेला, सावन का मेला, जोगिया मेला, जोगियाना मेला और चूँकि सगीत व नृत्य समारोह इस मेले की मुख्य विशेषता थी, अत इसे सावन का जल्सा भी कहते थे।[१३४]

मेले का वर्णन स्वय वाजिद अली शाह तथा अन्य समकालीन व उत्तर कालीन लेखको के लेखो मे–गद्य व पद्य दोनों मे पाया जाता है। अपनी मसनवी 'इश्क नामा मजूम' में वाजिद अली शाह इसका उल्लेख करते हैं

सुनो इक जरा बेवफाओं का हाल
कि बनता हूँ जोगी मै हर एक साल
मेरी बेगमों से भी दो तीन चार
नयी जोगनें बनती हैं गुल अजार
यो सावन के दिन मौसम वर्षकाल
जिधर देखिये सब्ज-ओ-खरम निहाल
दिलों मे अजब जोश पैदा हुए
तरह दार जोगी हवैदा हुए
मिरे साथ जोगी बने सब वे सब
वली अहद जी जाह आली नसब
गरज होगया सारा आलम फकीर
यही रम्त सब को हुआ दिल पजीर[१३५]

प्रत्येक श्रेणी तथा अवस्था के लोग बडे उत्साह से विशाल सख्या म कैंसर बाग मे एकत्र हुआ करते थे

हुई आमद आमद जो इस रोज की
दिलों मे खुशी आ के महमा हुई

---

१३२ सय्यद मसूद हसन रिजवी, 'लखनऊ का शाही स्टेज' (लखनऊ, १९५७) पृ० १३२।

१३३ कैंसर बाग का विशाल भवन लगभग ८० लाख रुपये की लागत से स्वयं वाजिद अली शाह द्वारा बनवाया गया था। १८४८ में इसे बनवाने का आदेश दिया गया, तथा तीन वर्ष में यह बनकर तैयार हुआ। ('नाज़िरुल असर', पृ० १४७)

१३४ रिजवी, पृ० १७२।

१३५ 'इश्क नामा मजूम' (मतबा सुल्तानी लखनऊ), पृ० ४८७-८९।

पिला साक़ी मुझे जाम-ए- मैं
कि अब सैर मेले की मंज़ूर है
वो मेला कि है जिसकी आलम मे धूम
वो मेला कि लाखो का जिसमे हुजूम[१३६]

इस मेले में न केवल लखनऊ शहर के ही वरन् मीलो दूर के व्यक्ति भी आकर सम्मिलित होते थे।[१३७] युवा-वृद्ध, धनी-निर्धन, सभी को गेरुए रग के वस्त्र धारण करके आना आवश्यक था।[१३८] यहाँ तक कि असख्य खोमचे वाले तथा दुकानदार भी उसी रग के वस्त्र धारण करते थे।[१३९] इससे दृश्य और भी मनोरजक बन जाता था।[१४०] लोग केसरी रग के गुलाल को एक दूसरे के गालो पर मलते तथा उसे हवा मे उडाते थे। इससे उत्पन्न बादलो के बीच सगीत, नृत्य तथा अन्य रगरलियो का समाँ यथार्थ मे पृथ्वी पर परियो के देश जैसा दृश्य उपस्थित करता था।[१४१] रात्रि मे बादशाह जोगी बन कर पहाड मे छिपते तथा जोगिनें उन्हे ढूँढने निकलतीं। मिल जाने पर सैकडो तोपें सलामी की छूटती, आतिशबाजी के प्रदर्शन होते, सावन के शादियाने बजते तथा नाच-गाने के समाँ बँधते थे।[१४२] रहस मे बादशाह स्वय कन्हैया बनते, तथा अनेक नृत्य-बालाएँ उनकी गोपियाँ बनती थी।[१४३]

मेले की रगरलियाँ अधिक रात गए तक चलती थीं। मेला तीन दिन तक चलता था[१४४] जिसकी स्मृति महीनो तक ताजा रहती थी।[१४५] दुर्भाग्यवश, १८५५ के पश्चात् कैसर बाग का मेला आयोजित नही हो सका तथा अगले वर्ष अपने सरक्षक के निर्वासन के साथ ही इसका सहसा अन्त हो गया।[१४६]

---

१३६ सय्यद मुहम्मद हादी अली बेगुद 'जल्वा-ए-अख्तर (लखनऊ १२७० हि०), पृ० ४, ६, १४-१७।
१३७ मुहम्मद अजमत अली नामी काकोरवी, 'मुरक्का-ए-खुसरवी', (पाण्डुलिपि) पृ० ८१।
१३८ इक्तिदार उद्दौला, 'तारीख-ए-इक्तिदारिया', (पाण्डुलिपि) पृ० २८१-८२।
१३९ वही।
१४० 'मुरक्का-ए-खुसरवी', पृ० ८२; कमाल उद्दीन हैदर, 'कैसरुत्तवारीख' (कानपुर, १९०७), पृ० २०७, रजब अली बेग सरूर, फ़साना-ए-इबरत', (लखनऊ, १३०० हि०), पृ० ८१-८२।
१४१ 'तारीख-ए-इक्तिदारिया', पृ० २८२।
१४२ 'मुरक्का-ए-खुसरवी', पृ० २०७-८।
१४३ शरर, पृ० ५६-५७।
१४४ 'फ़साना-ए-इबरत', पृ० ८२; तारीख-ए-इक्तिदारिया', पृ० २८२; 'कैसरुत्तवारीख', पृ० १०८. नामी काकोरवी के अनुसार यह चार दिन तक चलता था। (मुरक्का-ए-खुसरवी, पृ० २०८)।
१४५ 'तारीख-ए-इक्तिदारिया', पृ० २८१।
१४६ 'कैसरुत्तवारीख', पृ० १०८, रिज़्वी, पृ० १८४ ८५।

७

शिक्षा प्रणाली तथा अंग्रेज़ी शासन के अन्तर्गत परिवर्तन

मुसलिम शिक्षा का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियो को धर्मतान्त्रिक राज्य मे यथोचित रूप से रहने, धार्मिक विधि मे विश्वास रखने तथा इस्लाम के उत्कर्ष के लिए एक सच्चे मुसलमान की भाँति सच्ची लगन से कार्य करने के लिए दीक्षित करना था। दूसरे शब्दो मे यदि यह कहें कि मुसलिम-शिक्षा प्रधानत मजहबी शिक्षा थी तो अत्युक्ति न होगी। धर्मोपदेशक ही इस शिक्षा के प्रदाता होते थे। विद्यार्थियो को बाल्यावस्था से ही कुरान और उसके उपदेशो को कण्ठाग्र कराया जाता था, यद्यपि वे उसके अर्थों को समझ नही पाते थे। इस प्रकार १२ वर्ष की अल्पायु मे ही कोई भी लडका हाफिज बन सकता था, किन्तु यह सम्पूर्ण कुरान कठस्थ कर लेने तथा उसका उच्चारण अक्षरश कर सकने मे सफल होने पर ही सम्भव था।

जो शिक्षा प्रणाली मुगलो के समय मे प्रचलित थी, वही हमारे अध्ययन काल मे भी चलती रही थी। यह शिक्षा तीन प्रकार की सस्थाओ द्वारा प्रदान की जाती थी —मकतबो, मस्जिदो व खानकाहो से सम्बद्ध पाठशालाओ तथा मदरसो द्वारा जो क्रमश प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के लिए होते थे।

(अ) प्राथमिक शिक्षा

प्रारम्भिक शिक्षण व्यक्तिगत गृहो तथा पाठशालाओ मे दिया जाता था, जो 'मकतब' कहलाते थे। प्रचलित शिक्षण पद्धति सरल थी। बालक को सर्वप्रथम वर्णमाला का ज्ञान, उच्चारण, विराम चिह्नो व स्वर चिह्नो सहित कराया जाता था। तत्पश्चात् उसको सयुक्त अक्षरो का ज्ञान कराया जाता था और फिर उन लघु वाक्यो को पढना व लिखना सिखाया जाता था, जिनमे उन शब्दो का बारम्बार प्रयोग होता था। प्रतिदिन अभ्यास हेतु पाठ दिए जाते थे, जिन्हे वह तख्ती पर लिखता था, इससे धीरे धीरे पढने व लिखने की कला मे प्रवीणता प्राप्त होती जाती थी। बच्चे आलथी-पालथी मार कर हाथो मे किताब ले धरती पर बैठ अपने अध्यापको से पाठ सीखते थे। अध्यापक उनके समक्ष धरती अथवा व्याख्यान मच पर बैठ कर या खडे होकर शिक्षण कार्य करते थे। विद्यार्थी सरकण्डे की कलम से अपनी तख्तियों पर लिखा करते थे जिन्हे पाठ की समाप्ति पर धोकर साफ किया

जा सकता था।[1] शिक्षण का माध्यम फारसी भाषा थी, जो निरन्तर दरबारी भाषा के रूप मे प्रचलित रही थी।

इसके साथ ही साथ कुरान के पाठ का प्रशिक्षण भी चलता था। बाल्यकालीन बुद्धि अत्यन्त ग्रहणशील हुआ करती है तथा उस पर पडने वाले प्रभाव अत्यन्त गहरे व अमिट होते हैं। अत बालक बाल्यकाल मे कुरान के चुने हुए पद्यों को निरन्तर पुनरावृत्ति द्वारा सुगमता से याद कर लिया करता था। सादी एव अन्य फारसी के कवियो के चुने हुए पद्य भी इसी प्रकार कण्ठस्थ कर लिए जाते थे।

(ब) माध्यमिक शिक्षा :

माध्यमिक शिक्षा अधिकाश्त मस्जिदो व खानकाहो से सम्बद्ध पाठशालाओ मे प्रदान की जाती थी। प्राय प्रत्येक मस्जिद मे शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था होती थी। अनेक विशिष्ट शिक्षक एव यशस्वी सन्त, जो प्रकाण्ड ज्ञान के लिए विख्यात होते थे, व्यक्तिगत रूप मे खानकाहो की स्थापना करते थे जिनमें वे धार्मिक शिक्षा प्रदान करने एव गूढ रहस्यात्मक विचारो पर उपदेश देने के लिए पाठशालाएँ सचालित करते थे।[2]

(स) उच्च शिक्षा

उच्च शिक्षा के केन्द्र 'मदरसे' कहलाते थे। "पूर्वकाल मे मुसलमानो की उच्च शिक्षा विद्वानो के नियन्त्रण में हुआ करती थी, जो स्वय को युवावर्ग के शिक्षण हेतु अर्पित कर देते थे" · योग्य शिक्षको को राज्य से भी व्यक्तिगत सहायता प्राप्त थी तथा यशस्वी विद्वानो को आश्रय देने मे जमीदारों व अभिजात वर्गीय व्यक्तियो मे सदैव प्रतिस्पर्धा बनी रहती थी · विद्वान शिक्षको की कक्षाएँ, धर्मपरायण व्यक्तियो की उदारता से स्थापित एव आधुनिक प्रकार के 'मदरसों' अथवा महाविद्यालयो द्वारा प्रतिस्थापित कर दी गई हैं।"[3] उच्च ज्ञान की ये सस्थाएँ एक स्पष्ट धार्मिक अभिनति रखती थी। उनका मुख्य उद्देश्य छात्र के मन मस्तिष्क मे एक विशेष प्रकार के विश्वासो को स्थापित करना तथा उसको इस्लाम धर्म के सिद्धान्तो की रक्षा व प्रसार के लिए सम्यक् रूप से अनुशासित करना था। डॉ० यूसुफ हुसैन लिखते हैं : "मध्य युग मे सोचने का दृष्टिकोण मजहबी था। राजनीति, दर्शन तथा शिक्षा मजहबी नियन्त्रण मे थे, और उन्हे मजहबी परिभाषाओ के अनुकूल बना लिया गया था। लोगो के सोचने और अभिव्यक्ति तक का दृष्टिकोण मजहबी होता था।"[4] यह शिक्षा प्रणाली धर्मतान्त्रिक राज्य की भावना के समानान्तर चलती थी।

---

१. इम्पीरियल गजटियर ऑव इण्डिया (ऑक्सफोर्ड, १९७०), भाग ४ पृ० ४०८।
२ एस० एम० जाफ़र, 'एज्यूकेशन इन मुस्लिम इण्डिया', (पेशावर, १९३६) पृ० १८-१९।
३ इम्पीरियल गजटियर, भाग ४, पृ० ४०८।
४ 'ग्लिम्पसेज ऑव मिडीवल इण्डियन कल्चर' (बम्बई, १९६२), पृ० ७१।

(द) महत्त्वपूर्ण मदरसे :

हमारे पर्यवेक्षण काल मे उत्तर भारत मे स्थित, उच्च शिक्षा के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'मदरसों' मे से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है :

(१) मदरसा-ए-फ़रंगी महल—लखनऊ का मदरसा-ए-फरगी महल जो १७वी शताब्दी मे मुल्ला कुतुबुद्दीन[५] के पुत्र मुल्ला निज़ामुद्दीन की अध्यक्षता में स्थापित किया गया था, इस्लामी शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। इसे मदरसा आलिया-ए-निजामिया के नाम से भी सम्बोधित किया जाता था।[६] इस सस्था में उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम का विकास हुआ था जो दर्स-ए-निज़ामी कहलाता था।[७] मुल्ला निज़ामुद्दीन के परिवार ने अनेक महान विद्वान उत्पन्न किए, जो निरन्तर इस सस्था के प्रमुख अंग बने रहे; सस्था ने सम्पूर्ण भारत के छात्रो को आकर्षित किया।[८] फरगी महल[९] ने सर्वव्यापक ख्याति के अनेक महान उलमा उत्पन्न किए। यह सस्था हदीस अथवा तफसीर की अपेक्षा फिक तथा उसूल-ए-फ़िक्र में अपने विशिष्टीकरण के लिए विख्यात थी।

(२) मदरसा-ए-रहीमिया—दिल्ली का मदरसा-ए-रहीमिया प्रसिद्ध शाह वली-उल्लाह के पिता शाह अब्दुल रहीम द्वारा स्थापित किया गया था। प्रारम्भ में यह मुहल्ला 'मेहदियाँ' के समीप स्थित था। शाह अब्दुलरहीम ने हदीस का शिक्षण प्रारम्भ किया तथा छात्र विशाल सख्या मे एकत्र होने लगे।[१०] मदीना से लौटने के

---

५ मुल्ला कुतुबुद्दीन एक विख्यात विद्वान थे, जो लखनऊ से ३२ मील की दूरी पर स्थित सिहाली नामक ग्राम के निवासी थे। १६९१ में गाँव के प्रतिद्वन्द्वी गुट के द्वारा उन्हीं के निवास स्थान पर उनका वध कर दिया गया। इस दुःखद घटना का समाचार सुनकर औरंगज़ेब ने जाँच की नियुक्ति तथा अपराधियों को दण्डित करने का 'फ़रमान' जारी किया। चूंकि मृतक का परिवार और अधिक समय सिहाली में रहना नहीं चाहता था, औरंगज़ेब ने उनके लिए लखनऊ में फ़रंगी महल नामक एक विशाल भवन निर्धारित कर दिया। मुल्ला निज़ामुद्दीन उस समय केवल १४ वर्ष के थे। विभिन्न विद्वानों के चरणों में अपनी शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात् अन्तत वे फ़रंगी महल में बस गए तथा एक शिक्षक के रूप में जीवन-यापन करने लगे। शीघ्र ही उनकी ख्याति फैल गई तथा निकट एवं दूर से शिष्य आकर्षित होने लगे। उनके आकर्षक ढग से शिक्षण के परिणामस्वरूप फरगी महल की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई तथा शीघ्र ही वह इस्लामी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया।

६. सय्यद तुफ़ैल अहमद, 'मुसलमानो का रोशन मुस्तकबिल', (दिल्ली, १९४५), पृ० १३६।

७. अबुल हसनात नदवी, 'हिन्दुस्तान की क़दीम इस्लामी दर्सगाहें', (आज़मगढ़, १९३६), पृ० ९७-९८।

८ वही, पृ० ३८; इनायतुल्लाह महावी, 'इस्लामी नज़्म-ए-तालीम का चौदह सौ साला मुरक्का' (कराची, १९६१) पृ० ४८।

९ यह अब भी विद्यमान है, परन्तु इसकी पूर्वकालीन स्थिति विलुप्त हो चुकी है।

१०. 'तारीख-ए-मुहम्मद शाही', (पाण्डुलिपि) पृ० १२८ अ (रोटोग्राफ, इतिहास विभाग, मु० वि० वि०, अलीगढ़)।

पश्चात् शाह वलीउल्लाह ने अपने पिता के मदरसे में हदीस का अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। अल्प समय में ही उनकी ख्याति दूर दूर तक फैल गई तथा विशाल संख्या में छात्र वहाँ उपस्थित होने लगे। चूंकि छात्रों की इतनी विशाल संख्या की व्यवस्था करने के लिए स्थान अपर्याप्त था, अतः बादशाह मुहम्मदशाह ने नगर के आन्तरिक भाग में एक विशाल भवन इस संस्था को दान स्वरूप भेंट किया।[११] शाह वलीउल्लाह के पुत्र शाह अब्दुल अज़ीज़ के समय में मदरसा अविराम गति से उन्नति करता रहा तथा दूर व समीप के छात्रों को आकृष्ट करता रहा।[१२] १८५७ तक यह अत्यधिक भव्य एवं महत्वपूर्ण शिक्षण केन्द्र बना रहा।[१३]

अन्य मदरसे फैज़ाबाद, जौनपुर, सण्डीला, फर्रुखाबाद, रामपुर, शाहजहाँपुर, बरेली, बदायूँ तथा आगरा में स्थित थे। विख्यात मनीषियों द्वारा निर्देशित इन सभी संस्थाओं में प्रायः अचर रूप से दर्स-ए-निज़ामी पाठ्यक्रम ही प्रचलित था।

(य) दण्ड-प्रणाली:

प्रारम्भिक अवस्था में अनुपस्थित रहने वाले तथा दोषी छात्रों को दण्डित किया जाता था। उनकी पिटाई कमचियों से होती तथा चाँटे लगाए जाते थे। लात व घूँसों का भी प्रयोग होता था। उन्हें प्रायः मुर्गा भी बनना पड़ता था, जिसमें पंजों के बल खड़े होते हुए आधा झुक कर दोनों हाथों को पीछे की ओर से टाँगों के नीचे से निकाल कर कानों को पकड़े रहना पड़ता था।[१४] यातना में वृद्धि के लिए कभी कभी कोई भारी बोझा उसकी पीठ पर रख दिया जाता था। दण्ड के अन्य साधनों का भी स्वतन्त्र रूप से प्रयोग किया जाता था। कभी-कभी अपराधी को एक निश्चित अवधि तक बिना किसी सहारे के एक पाँव पर ही खड़ा रहना पड़ता था।[१५] पीड़ा उत्पन्न करने के उद्देश्य से उसके कानों को विशेष प्रकार से मरोड़ा जाता था। कभी-कभी उसे कुछ समय के लिए पेड़ की शाखा से उलटा लटका दिया जाता था।[१६] मौलवी को अपने बुद्धि-कौशल द्वारा प्रकल्पित किसी भी अन्य प्रकार से दण्ड देने की आज्ञा यथा रीति प्रदान की गई थी।[१७] इस समस्त यन्त्रणादायक, बल्कि बर्बर प्रणाली में माता पिता को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं था।

---

११ मौलवी बशीरुद्दीन अहमद, 'वाकियात-ए-दारुल हुकूमत-ए-देहली', भाग-२, (आगरा, १९१९), पृ० २८६।
१२ तुफ़ैल अहमद, पृ० १३७।
१३ 'वाकियात', भाग-२, पृ० २८६।
१४ एस० एम० जाफ़र, पृ० २५।
१५ जी० एण्डरसन, 'द डवलपमेन्ट आव एन इण्डियन पॉलिसी', (लन्दन, १९२१), पृ० १३०-३१।
१६ वही, पृ० १३१।
१७. 'इम्पीरियल गज़ेटियर', भाग-४, पृ० ४०६।

(२) पाठ्यक्रम :

अरबी व फारसी भाषाएँ मुस्लिम ज्ञान की दो महत्त्वपूर्ण साधन थी। प्रारम्भिक व माध्यमिक स्तर पर फारसी भाषा के अध्ययन पर अत्यधिक बल दिया जाता था, तथा कभी-कभी इसे शिक्षा का माध्यम भी बना दिया जाता था। प्रारम्भिक व माध्यमिक स्कूलों के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम इस प्रकार था

गद्य —नुस्खा ए-तानीमिया तालीम-ए अग्रेजी, दस्तूरस्सिबियान, इन्शा-ए माधोराम, इन्शा-ए फायक, इन्शा ए-खलीफा, रुक्आत-ए-आलमगीरी, गुलिस्तान, मक्तूबात ए-अबुल फज़ल, बहार-ए-दानिश, अनवार ए-सुहैली, नस्र-ए जहूरी, तथा वका-ए नियामत खान-ए-आली।

काव्य—करीमा, मा मुकीमा, खालिक बारी, बोस्तान, यूसुफ जुलेखा, कसाइद-ए-उर्फी, कसाइद-ए बद्र चाच, दीवान ए-गनी, सिकन्दर नाम इत्यादि।[१८]

१८वी शताब्दी के मध्य शाह वलीउल्लाह के समकालीन मुल्ला निज़ामुद्दीन ने उच्च शिक्षा के लिए एक पाठ्यक्रम निश्चित किया था जो 'दर्स-ए निज़ामिया' कहलाता था। यह पाठ्यक्रम देश भर मे अपना लिया गया तथा आगामी शताब्दी मे भी प्रचलित रहा। इसमे ग्यारह विषय थे तथा प्रत्येक विषय की पुस्तकें निर्धारित की गई थीं—

(१) सर्फ (विभक्ति तथा क्रिया-पदो के रूप)—मीज़ान, मुन्शअब, सर्फ-ए-मीर, पजगज, जुब्दा, फ़ुसूल ए-अकबरी तथा शाफिया।

(२) नह्व (व्याकरण तथा वाक्य-रचना)—नह्व मीर, शरह ए मातय आमिल, हिदायतुन्नह्व, काफिया, शरह ए जामी।

(३) मतिक (तर्कशास्त्र)—सुगरा, कुबरा, ईसागोजी, तहज़ीब, शरह-ए-तहज़ीब, कुतबी मय मीर तथा सुल्लमुलयलूम।

(४) हिकमत (दर्शनशास्त्र)—मैबज़ी, सदरा, शम्स-ए-बाज़िगा।

(५) रियाज़ी (गणित)—खुलासातुल हिसाब, तहरीर-ए-उक्लीदस मकाले-उला, तशरीहुलाफलाक, रिसाला-ए-कौशजिया, शरह-ए-चगमानी बाबे अव्वल।

(६) बलागत (साहित्यशास्त्र)—मुख्तसिर मआनी, मुतव्वल ता माअनाकलत।

(७) फिक़ (न्यायशास्त्र)—शरह ए-वकाया अव्वलीन, हिदाया अखेरीन।

(८) उसूल ए फिक़ (न्यायशास्त्र के सिद्धान्त)—नूरुल अनवार, तौजीह ए-तलबीह, मुसल्लिमसबूत (मबादी-ए-कलामिया)।

(९) कलाम (तर्कशास्त्र)—शरह ए-अकायद ए-नसफी, शरह-ए-अकायद ए-जलाली, मीर जाहिद, शरह ए-मवाकिफ।

(१०) तफसीर (धर्म-ग्रन्थ टीका)—जलालीन, बैज़ावी।

---

१८. अबुल हसनात नदवी, पृ० ११६।

(११) हदीस (परम्पराएँ)—मिश्कतुलमसाबीह।[१९]

कुछ दशाब्दियों पश्चात् निम्नलिखित चार विषय भी इस पाठ्यक्रम मे जोड दिए गए थे :

(१) श्रदब (साहित्य)—नफहतुल यमन, सबय मुग्रलका, दीवान-ए-मुतनबी, मकामात-ए-हरीरी, हमसा।

(२) फ़राइज़ (कर्तव्य)—शरीफिया।

(३) मुनाज़रा (वाद-विवाद)।

(४) उसूल ए हदीस (हदीस के सिद्धान्त)।[२०]

यद्यपि विभिन्न विद्वानो द्वारा समय-समय पर दर्स-ए-निज़ामिया पाठ्यक्रम की श्रालोचना की जाती रही है,[२१] तथापि देवबन्द के दारुल उलूम ने १९वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे इसे ज्यो का त्यो श्रपना लिया। मूलत यह पाठ्यक्रम २०वीं शताब्दी में मुसलिम मजहबी मदरसों के पाठ्यक्रम का श्राधार बना हुश्रा है।[२२]

दर्स-ए-निज़ामिया निर्धारित पुस्तको पर इतना बल नही देता था, जितना श्रध्ययन के विषय मे निपुणता प्राप्त करने पर। शिक्षक को श्रध्ययन विषय पर उपलब्ध समस्त प्रासगिक ज्ञान पर्यवेण करना होता था। यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि देश की विभिन्न शिक्षा सस्थाश्रों मे पाठ्यक्रम एव श्रध्यापन प्रणाली लगभग एक सी ही थी तथापि उच्च शिक्षा केन्द्रों मे किसी एक विषय के श्रध्ययन को विशेष महत्त्व दिया जाता था। उदाहरणार्थ, दिल्ली का मदरसा रहीमिया हदीस एव तफसीर मे विशिष्टीकरण प्रदान करता था, लखनऊ का फरगी महली मदरसा फिक पर श्रधिक बल देता था तथा सियालकोट का मदरसा नह्व मे विशिष्टीकरण के लिए प्रसिद्ध था।

(ल) प्रवर्तन :

उस समय श्राजकल की सी वार्षिक परीक्षा प्रणाली प्रचलित नहीं थी। छात्र का निम्न से उच्च कक्षा मे प्रवर्तन उसके श्रध्यापको की सम्मति पर निर्भर करता था, जो उसकी प्रगति के विषय मे श्रपने व्यक्तिगत सम्पर्क के श्राधार पर, उसकी

---

१९. वही, पृ० ९७-९८।

२०. वही, पृ० ९९-१००।

२१. अनेक प्रबुद्ध शिक्षाविदों के मतानुसार, 'दर्स-ए-निज़ामिया पाठ्यक्रम भारतीय मुसलमानो के मानसिक एव बौद्धिक दृष्टिकोण को सकुचित बनाने का उत्तरदायी रहा है तथा इस प्रकार के विद्वानों को उत्पन्न करता रहा है जो वर्तमान समय की आवश्यकताओ के लिए सर्वथा अयोग्य सिद्ध होते हैं।" एम० वाहिद मिर्ज़ा द्वारा उद्धृत, ब्रिटिश पैरमाउन्टसी एण्ड इण्डियन रिनेसां', भाग-२, (बम्बई, १९६५), पृ० १४२, इसके अतिरिक्त देखिए असलम जैराजपुरी कृत 'मकालात-ए-असलम' तथा शेख मुहम्मद इकराम कृत 'रोद-ए-कौसर', पृ० ४०५-१०।

२२. ज़ुबैद अहमद, पृ० ११६।

उपलब्धि का सम्यक् मूल्याकन करने की स्थिति मे होते थे। ज्ञान की विशेष शाखा मे छात्र की योग्यता के अनुसार शैक्षणिक उपाधियाँ वितरित की जाती थीं। उदाहरणार्थ, जो विद्यार्थी तर्कशास्त्र एव दर्शन मे विशेष योग्यता प्राप्त करते थे, उन्हें 'फाजिल' की उपाधि प्रदान की जाती थी, जो धर्मशास्त्र मे विशेषज्ञ होते थे उन्हे 'आलिम' की उपाधि दी जाती थी तथा जो साहित्य मे विशेष योग्यता प्राप्त करते थे उन्हें 'काबिल' की उपाधि प्रदान की जाती थी। ये उपाधियाँ योग्य छात्रो को एक नियमित समारोह मे वितरित की जाती थी, जो इसी उद्देश्य से आयोजित किया जाता था।

(व) शिक्षा प्रणाली की त्रुटियाँ ·

सामाजिक रूपाकार का अग होने के कारण, शिक्षा अपने युग की अपकृतियो से ग्रसित थी। यह विषय-वस्तु एव प्रणाली दोनो मे ही अपकृष्ट थी। रूढ़ि-ग्रस्त एव प्राधिकारवादी होने के कारण यह विद्यार्थियों मे अन्वेषण की स्वतन्त्र एव स्वाधीन प्रेरणा जाग्रत करने मे सहायक सिद्ध नही होती थी। जबकि प्रारम्भिक पाठशालाएँ केवल पढ़ने, लिखने तथा अकगणित का साधारण ज्ञान कराती थी, उच्च शिक्षा केन्द्र, धर्म प्रेरित होने के कारण विश्व के प्रति केवल परम्परागत धार्मिक दृष्टिकोण उत्पन्न करने से अधिक और कुछ न करते थे। स्त्री शिक्षा का तो अस्तित्व ही नही था; शिक्षा-सस्थाएँ यथार्थ रूप में केवल लडको की शिक्षा तक ही सीमित थी। प्रारम्भिक शिक्षा छपी हुई पुस्तको तथा योग्य प्रशिक्षित अध्यापको के अभाव के कारण उत्कृष्ट नहीं थी। शिक्षण का माध्यम पुरातन शास्त्रीय भाषाएँ—अरबी तथा फारसी थीं, जो मुसलिम सर्वसाधारण के लिए कदाचित् ही उपयुक्त थी। नि सन्देह अरबी व फारसी भाषाएँ साहित्य, दर्शन तथा धर्मशास्त्र विषयों मे सम्पन्न थी परन्तु उनमे वैज्ञानिक व यान्त्रिक ज्ञान का सर्वथा अभाव था। विषय एव साथ ही शिक्षक के पक्षग्रहण, अचेतनरूप से ही शिष्यो के मनो-मस्तिष्क मे समाविष्ट हो जाते थे। शिक्षा प्रणाली का भारतीय सस्कृति से नितान्त पार्थक्य एक गम्भीर असगति थी। इसमे भारत के इतिहास, दर्शन, साहित्य तथा धर्म के अध्ययन की कोई व्यवस्था न थी। फलत. इसने विभक्त व्यक्तित्वो को उत्पन्न किया, यह एक मुसलिम नवयुवक को दृष्टिकोण एव व्यवहार मे भारतीय बनाने मे नितान्त असफल सिद्ध हुई। इसके अतिरिक्त यह शिक्षा एक कल्याणकारी राज्य के आवश्यक आनुषगिक तत्त्व होने के स्थान पर व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में अधिक थी।

(श) अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत परिवर्तन ·

प्रारम्भ म ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपना राज्य स्थापित करने के पश्चात् भी देश मे शिक्षा की उन्नति के प्रति उदासीन रही। वह उसे अपना कर्तव्य नही समझती थी। उसका विश्वास था कि भारतीयो के लिए वही शिक्षा-पद्धति उपयुक्त थी, जो परम्परागत रूप से चली आ रही थी। अंग्रेज समझते थे कि अरबी, फारसी एव

सस्कृत के अध्ययन से ही इस देश के लोगो का कार्य चल सकता था, उन्हे यूरोप मे प्रादुर्भूत हुए नवीन ज्ञान-विज्ञान को सीखने की कोई आवश्यकता नही थी। इसी आशय से १७८१ में भारत के प्रथम गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने कलकत्ता मे एक मदरसे की स्थापना की, जिसमे अरबी व फारसी के उच्चतम अध्ययन की व्यवस्था की गई। इसी प्रकार, १७९२ मे अग्रेज रेजीडेन्ट जोनाथन डकन द्वारा बनारस मे सस्कृत कालिज की स्थापना की गई। १९वी शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत के ब्रिटिश प्रशासको ने इस बात पर कोई ध्यान नही दिया कि जनसाधारण को आधुनिक शिक्षा प्रदान करने एव नवीन ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराने के सम्बन्ध मे भी उनका कोई कर्तव्य है। वे सोचते थे कि इससे उनके औपनिवेशिक हितो को तो कोई लाभ पहुँचेगा ही नही उलटे जनसाधारण मे उनके प्रति प्रशसा की भावना के स्थान पर आशका की भावना उत्पन्न होगी।

(१) लॉर्ड मिन्टो मिनिट :—लॉर्ड मिन्टो ने भारत आने पर अनुभव किया कि भारतवासियो मे विज्ञान एव साहित्य उत्तरोत्तर पतनोन्मुख होता जा रहा था। ६ मार्च १८११ को उन्होंने अपना विख्यात मिनिट[२३] लिखा, जिसमे उन्होने सकेत किया कि "यह आशका की जाती है कि यदि सरकार प्रतिपालक के रूप म अन्तर्क्षेप नही करेगी तो शीघ्र ही साहित्य के पुनरुद्धार की सम्भावना निराशाजनक हो जाएगी। उन्होने देखा कि ज्ञान के पतन का मुख्य कारण सरकार की ओर से उचित प्रोत्साहन का अभाव था। उन्होने सकेत किया कि ज्ञान के ह्रास के साथ ही साथ देशीय-वैशिष्ट्य का भी ह्रास हो रहा था। अत 'ज्ञान की वृद्धि एव प्रत्यावर्तन तथा विशाल जन समुदाय मे ज्ञान के अधिक सामान्य प्रसारण"[२४] के अभिप्राय से उन्होने सुझाव दिया कि बनारस सस्कृत विद्यालय को सुधार कर नवीन प्रतिमान प्रदान किया जाना चाहिए, नदिया तथा तिरहुत मे नवीन विद्यालयो की स्थापना होनी चाहिए तथा सरकार को 'अतिरिक्त' व्यय वहन करना चाहिए। मुसलमानो म विद्या के पुनरुद्धार हेतु भागलपुर तथा जौनपुर मे मुसलिम विद्यालयो की स्थापना की जानी चाहिए तथा कलकत्ता के मुसलिम विद्यालय 'कलकत्ता मदरसा' मे सुधार करके उसे आधुनिक आधार प्रदान किया जाना चाहिए।

परन्तु इस मिनिट म सिफारिशो को कार्यान्वित करने के विस्तृत ब्यौरे का उल्लेख नही किया गया, ये अधिकाशत भाववाची ही थी। अत इन पर यदि कोई कार्रवाई नही की गई तो इसम आश्चर्य की कोई बात नही है। परन्तु इसम सन्देह नही कि इस मिनिट ने दो वर्ष पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार्टर म शैक्षणिक कार्यों के लिए निधि के प्रावधान की धारा के निवेशन को प्रेरित किया।

---

२३ रिपोर्ट फ्राम सिलेक्ट कमिटी ऑन द अफेअर्स आव द ईस्ट इण्डिया कम्पनी, १८३२, भाग २, (पब्लिक), परिशिष्ट '1', पृ० ४८४ ८६।

२४ वही।

(२) १८१३ का चार्टर एक्ट :—१८१३ में ब्रिटिश पालियामेण्ट ने कम्पनी के चार्टर में एक धारा सम्मिलित की, जिसमें एक निश्चित शिक्षा नीति के पालन का प्राव-धान था : "सपरिषद गवर्नर जनरल के लिए निर्देश देना विधिसगत होगा कि·········प्रत्येक वर्ष एक निश्चित राशि, जो एक लाख रुपए से कम न हो, पृथक रखी जाय जिसका प्रयोग साहित्य के पुनरुद्धार एवं सुधार में तथा विद्वान-भारतवासियों को प्रोत्साहित करने में तथा भारत के ब्रिटिश क्षेत्रों के निवासियों के मध्य वैज्ञानिक ज्ञान के सूत्रपात एव प्रवर्तन में किया जाय।"[२५]

इस प्रकार, १८१३ का चार्टर एक्ट अपनी भारतीय प्रजा की शिक्षा के प्रति ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति के उद्देश्यों में एक विचलन बिन्दु था। प्रथम बार कम्पनी ने शिक्षा को राज्य का दायित्व समझा। धारा की भाषा का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका ध्येय प्राच्य ज्ञान को, जिसका लार्ड मिन्टों के विचारानुसार समाप्त होने का भय था, पुनर्जीवित करके नवीन जीवन प्रदान करना था तथा साथ ही उसमें पाश्चात्य वैज्ञानिक ज्ञान जैसे नवीन तत्वों का समावेश करना भी था। दोनों एक दूसरे के सम्पूरक माने गए थे।

जो भी हो, व्यावहाररूप से अनेक वर्षों तक शैक्षणिक राशि केवल प्राच्य ज्ञान पर ही व्यय की गई। राजा राममोहन राय इस स्थिति से घोर असन्तुष्ट थे। उन्होंने १८२३ में लॉर्ड एम्हर्स्ट को सकेत किया कि सस्कृत शिक्षा प्रणाली देश को अन्धकार में बनाए रखने का सर्वाधिक उपयुक्त उपाय सिद्ध होगी तथा पूछा कि क्या यही ब्रिटिश विधानमडल की इच्छा थी।[२६]

यह उल्लेखनीय है कि चार्टर एक्ट की शैक्षणिक धारा आदेशात्मक न होकर अनुज्ञात्मक थी—'यह विधि-सगत होगा'। और न ही यह स्पष्ट किया गया था कि शिक्षा अंग्रेज़ी के माध्यम से प्रदान की जाएगी अथवा स्थानीय भाषाओं के।

(३) ईसाई मिशनरियों के कार्य-कलाप :—इस बीच मिशनरियों ने शिक्षा की उन्नति में पूर्ण उत्साह एव लगन के साथ तीव्र रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया। विलियम कैरी, जो बेप्टिस्ट धर्म-प्रचारक थे तथा फोर्ट विलियम कॉलेज के सस्कृत व बगला के प्रोफेसर थे, ने १८१४ में भारतवासियों को यूरोपीय विज्ञान की शिक्षा प्रदान करने के लिए एक योजना प्रस्तुत की। उन्होंने अपनी नवीन स्वतन्त्रता का सर्वोत्तम उपयोग शिक्षा के क्षेत्र में अध्यापन व अनुवाद में किया।[२७] १८१८ में सीरामपुर में एक बेप्टिस्ट मिशन कॉलेज की स्थापना की गई। इसके पश्चात् १८१६ में कलकत्ता में बिशप्स कॉलेज की स्थापना हुई। कलकत्ता में एक स्कूल बुक सोसायटी भी स्थापित की गई। १८३० में एलेक्ज़ेन्डर डफ ने कलकत्ता में एक स्कूल प्रारम्भ

२५ सलेक्शन्स फ्रॉम एज्यूकेशनल रेकॉर्ड्स, भाग-१, पृ० २२।
२६. एण्डरसन, पृ० १०५-८।
२७. जे० आर० कनिंघम, पृ० १४४।

किया, जिसने १८४० मे एक कॉलेज का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार, मिशनरी स्कूलो ने अंग्रेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा को बहुत कुछ जाग्रत किया। उन्होने एक ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया, जिसके कारण लोग पाश्चात्य विचारो के प्रति ग्रहणशील बने। अततोगत्वा परिवर्तन आया और यह सामान्य भावना उत्पन्न हो गई कि यदि उन्होने नवीन शासन की आवश्यकताओ के अनुसार सामञ्जस्य न किया, तो वे पिछड जाएँगे।

हिन्दू विशेषरूप से यूरोपीयकरण की आवश्यकता का अनुभव करने लगे थे। उनमे जो धनी थे, उन्होने शैक्षणिक वृत्तियाँ दान की। इस प्रकार, १८१७ मे कलकत्ता मे विद्यालय अथवा हिन्दू कॉलेज की स्थापना हुई जिसके लिए एक लाख रुपये से भी अधिक धनराशि स्थानीय चन्दे से प्राप्त हुई थी। इसका उद्देश्य छात्रो को उदार शिक्षा प्रदान करना था। इस सस्था मे अध्ययन की भाषा अंग्रेजी थी। शीघ्र ही हिन्दू कॉलेज पुरातन व्यवस्था तथा उसके अस्वस्थ रूढिवादी दृष्टिकोण के लिए चुनौती का केन्द्र बन गया।

(४) आगरा कॉलेज—१८२३ मे आगरा म गवर्नमेण्ट कॉलेज अथवा 'मदरसा-ए-सरकार' की स्थापना हुई जो अब 'आगरा कॉलेज' कहलाता है। इसकी स्थापना हेतु धनराशि का प्रबन्ध, महादजी सिन्धिया व उनके उत्तराधिकारी दौलतराव सिन्धिया द्वारा पण्डित गगाधर को, जो बिहार के गया जिले के एक विद्वान पण्डित थे, दिये गए भूमि-दान की आय से किया गया। चूँकि अनुदान का मूल उद्देश्य ज्ञान की उन्नति करना था, इसलिए इसका सर्वाधिक उचित रूप से उपयोग करने के उपायो पर विचार विमर्श हेतु, यह विषय १८१४ मे पश्चिमोत्तर प्रान्तो के राजस्व मण्डल व आयुक्त मण्डल के समक्ष प्रस्तुत किया गया।[२८] ३० दिसम्बर १८१४ को उन्होने सुझाव दिया कि आगरा मे कॉलेज के ढग की एक सस्था स्थापित की जाए "तथा ऐसे सिद्धान्तो पर सचालित की जाए जिनसे इन प्रान्तो के निवासियो को स्थायी लाभ पहुँचाने की व्यवस्था सुरक्षित रहे ।'

१६ जुलाई १८१६ को आगरा के स्थानीय प्रतिनिधियो ने निम्नलिखित सस्थाओ की स्थापना के लिए एक प्रस्ताव, आयुक्त मण्डल के समक्ष आदेश हेतु प्रस्तुत किया

(१) मथुरा म हिन्दुओ को वैज्ञानिक ज्ञान की विभिन्न शाखाओ के शिक्षण हेतु एक महाविद्यालय,

(२) आगरा मे एक सार्वजनिक अस्पताल, जो कतिपय प्रतिबन्धो सहित देशवासियो के सभी वर्गों के लिए खुला हो, तथा

---

२८ महदी हुसैन, 'द लोकल रेकॉर्ड्स एण्ड मैन्युस्क्रिप्ट्स अबाउट द आगरा कॉलेज', इस्लामिक कल्चर', भाग २२, सख्या ४, अक्तूबर १९४८, पृ० ३५५।

(३) आगरा मे साहित्य के पुनरुत्थान हेतु मुसलमानो के लिए एक पृथक महाविद्यालय ……।[२६]

इस प्रकार, मुसलमानों के लिए आगरा मे १८१६ मे ही एक पृथक महाविद्यालय की स्थापना की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी। धन-निधि उक्त अनुदान से प्राप्त हुई थी। परन्तु जिस उद्देश्य से १८२३ मे आगरा मे गवर्नमेण्ट कॉलेज की स्थापना हुई, वह देशवासियो, विशेपरूप से मुसलमानो के मध्य ज्ञान की अभिवृद्धि थी। वस्तुत हिन्दुओ के लिए मथुरा मे एक पृथक महाविद्यालय स्थापित नहीं हो सका जैसाकि प्रस्तावित किया गया था। अत. प्रतीत होता है कि इसी कारण आगरा का गवर्नमेण्ट कॉलेज हिन्दुओ व मुसलमानो—दोनो के लिए समान रूप से उपलब्ध किया गया।

स्थापना के प्रारम्भिक वर्षों मे आगरा कॉलेज मे शिक्षण के मुख्य विषय फारसी व अरबी थे। यह उल्लेखनीय है कि सैयद आजम अली को 'मुन्शी' एव फारसी के अध्यापक के रूप मे नियुक्त किया गया, जिन्होने १८ वर्ष (१८२४-४२) तक अपने पद पर कार्य किया। १८२६ मे कॉलेज के छात्रों की सख्या ११७ थी, जिनमे से ७३ फारसी व अरबी का अध्ययन करते थे। १८२७ मे फारसी व अरबी के छात्रो की सख्या बढ कर १२१ हो गई।[३१] अंग्रेजी के अध्ययन की व्यवस्था कुछ समय पश्चात् की गई।

(५) देहली कॉलेज—१८२८ मे देहली ओरिएन्टल कॉलेज की स्थापना भी इसी उद्देश्य से हुई। इस कॉलेज के ६ अध्यापको मे से ५ मौलवी थे तथा शिक्षण के मुख्य विषय फारसी व अरबी थे।[३२] "स्थानीय समिति देहली कॉलेज मे अंग्रेजी के सूत्रपात के लिए उत्सुक थी, परन्तु जनरल कमेटी ऑव पब्लिक इन्स्ट्रक्शन ने इस योजना का अनुमोदन नही किया ……।[३३] इससे स्पष्ट होता है कि सरकार विशेपरूप से प्राच्य भाषाओ के माध्यम से ही शिक्षा प्रदान करने की नीति का अनुसरण करना चाहती थी तथा पूर्वग्रहो के हस्तक्षेप को आमन्त्रित करना नहीं चाहती थी। परन्तु मुसलमानो ने सरकार की इस उदार नीति का उचित मूल्याकन नही किया।

---

२९. वही, पृ० ३५५-५६।

३०. इस सम्बन्ध म 'जनरल कमिटी आव पब्लिक इन्स्ट्रक्शन्स' की २४ अक्तूबर १८२३ की रिपोर्ट का एक उद्धरण उल्लेखनीय है : "स्थानीय प्रतिनिधियो ने यह भी प्रस्तावित किया है कि आगरा कॉलेज देशवासियो क सभी वर्गों क लिए समान रूप से उपलब्ध होना चाहिए, तथा चूंकि निश्चय ही वे सब सरकार की उत्सुकता के समान पात्र हैं तथा यह आवश्यक नही है कि इस अवसर पर किसी एक को विशेष प्राथमिकता प्रदान की जाय, हम इस प्रस्ताव से पूर्णत सहमत हैं ……।" (वही, पृ० ३५६)।

३१ धरमभानु, 'हिस्ट्री एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन ऑव द नॉर्थ वेस्ट प्रॉविन्सेज, १८०३-५८ (आगरा, १९५७), पृ० ३४६-४७।

३२ वही, पृ० ३४८-४९।

३३. वही, पृ० ३४९।

इतिहास की सृजनात्मक घटनाम्रो मे से एक थी।"[३७] इस मिनिट ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार की शैक्षणिक नीति के निरूपण मे अत्यधिक सहायता प्रदान की।

मेकॉले के कुछ पूर्वग्रह थे, जिन्हें कभी उन्होंने छिपाने का प्रयास नहीं किया। यद्यपि उन्हे संस्कृत, फारसी या अरबी का सम्यक् ज्ञान नही था तथा इन तीनो भाषाम्रो मे से किसी एक की भी विपुल साहित्य-निधि का एक अंश भी वे कठिनता से ही समझते थे तथापि उन्होने इस प्रकार की स्पष्ट आलोचना करने मे हिचक नही की कि "एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय का एक खाना भारत तथा अरब के सम्पूर्ण देशी साहित्य के बराबर है।"[३८] उनका निष्कर्ष, कि केवल अंग्रेजी भाषा ही समय की माँग को पूरा कर सकेगी,[३९] नि सन्देह समयानुसार था परन्तु इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता कि जितना अधिक यह युक्ति-संगत था उतना ही अधिक व्यक्तिगत पूर्वग्रहो से प्रेरित था। साथ ही इसने सामाजिक समस्या के प्रति अहम्मन्यता तथा साम्राज्यवादी दृष्टिकोण को प्रकट कर दिया। उन्होने लिखा कि "हमारी अपनी भाषा के दावों को दुहराने की आवश्यकता नही है। यह पश्चिम की भाषाम्रों में भी सर्वोत्कृष्ट है ' " भारत मे अंग्रेजी भाषा ही शासकीय वर्ग द्वारा बोली जाती है। यह सरकारी पदो पर आरूढ भारतीयो के उच्च वर्गों द्वारा बोली जाती है। इसकी सम्भावना समस्त पूर्वीय देशो मे प्रतिदिन के प्रयोग की भाषा बन जाने की है।"[४०] उन्होंने यहाँ तक कहा कि ' इगलैण्ड का कर्त्तव्य है कि वह भारतीयो को वह सिखाए जो उनके स्वास्थ्य के लिये उत्तम है न कि वह जो उन्हे रुचिकर है।"[४१]

मेकॉले की मिनिट ने गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बैंटिक को अत्यधिक प्रभावित किया। उन्होने अपने ७ मार्च १८३५ के प्रस्ताव मे अपना अधिनिर्णय आंग्लवादियो के पक्ष मे दिया। प्रस्ताव ने इस बात पर बल दिया कि "ब्रिटिश सरकार का महान् उद्देश्य भारतवासियो मे यूरोपीय साहित्य एव विज्ञान का प्रवर्तन होना चाहिये तथा यह कि शिक्षा के उद्देश्य से विनियुक्त सभी धन-निधियाँ सर्वोत्तम रूप मे केवल अंग्रेजी शिक्षा पर ही व्यय की जाएँगी।" सपरिषद् गवर्नर जनरल ने यह भी निदेशित किया कि "समस्त धन-राशियाँ जिन्हे ये सुधार कमेटी की इच्छा पर छोडेगे, अब से भारतवासियो को अंग्रेजी साहित्य एव विज्ञान की शिक्षा अंग्रेजी भाषा के माध्यम से प्रदान करने मे प्रयुक्त की जाएँगी।[४२]

(प) मुसलमानो की मन स्थिति तथा उसके प्रतिप्रभाव .

यह प्रस्ताव प्रगति समर्थक हिन्दुओ के लिए, जो संस्कृत के स्थान पर अंग्रेजी

---

३७. जं० घोष, 'हायर एज्यूकेशन इन बंगाल', पृ० ६५।
३८ एण्डरसन, पृ० ११३।
३९ वही, पृ० १२०।
४० वही, पृ० ११४।
४१ सय्यद नूरुल्ला तथा जे० पी० नायक, 'हिस्ट्री आव एज्यूकेशन इन इण्डिया', (बम्बई, १९४३), पृ० १०६।
४२ सिलेक्शन्स, भाग १, पृ० १३०-३१।

की माग कर रहे थे, हर्ष का विषय था, परन्तु रूढिवादी मुसलमानों के लिए इसके बिल्कुल विपरीत सिद्ध हुआ। अरबी एव फारसी के समर्थकों के रोष का प्रमुख कारण प्रस्ताव का वह अश था जिसमे कहा गया था कि, यद्यपि पूर्वीय ज्ञान के महाविद्यालयों को समाप्त नहीं किया जाएगा, उनके छात्रों को शिक्षा-काल में सहायता देने की पद्धति को त्याग दिया जाएगा। एच० एच० विलसन के अनुसार "सम्पूर्ण धनराशि को अंग्रेज़ी शिक्षा के लिए उपयोग करने के प्रस्ताव पर कलकत्ता के मुसलमानो की ओर से लगभग ८००० व्यक्तियों द्वारा, जिनमे नगर के सर्वाधिक सम्मानित मौलवी व देशी सम्भ्रान्त लोग सम्मिलित थे, हस्ताक्षरोयुक्त एक याचिका प्रस्तुत की गई। सामान्य सिद्धान्तो पर इस प्रस्ताव का विरोध करने के पश्चात् उनका कथन था कि सरकार का सुस्पष्ट उद्देश्य भारतवासियो का धर्म परिवर्तन करना था, तथा उन्होंने केवल अंग्रेज़ी को प्रोत्साहित किया और मुसलिम व हिन्दू शिक्षा को हतोत्साहित किया, क्योंकि वे लोगो को ईसाई बनने के लिए प्रेरित करना चाहते थे।"[४३]

सरकार के प्रति यदि निष्पक्ष रूप मे देखा जाए, तो यह कथन केवल उन शिक्षण सस्थाओं के विषय मे उचित था जिनकी स्थापना ईसाई मिशनरियो द्वारा की गई थी। उनका एक मात्र ध्येय ईसाई धर्म का प्रसार करना था। अत यदि वे धार्मिक शिक्षा पर अधिक बल देती थी तो इसमे कोई आश्चर्य नहीं।[४४]
मुसलमानो ने उन्हे उस समय और अधिक घृणा से देखना प्रारम्भ कर दिया जब तृतीय दशक के उत्तरार्ध मे उन्होंने अपने इस विश्वास को सुस्पष्ट व्यक्त कर दिया कि अंग्रेज़ी शिक्षा से ईसाई धर्म का प्रसार स्वत ही हो जाएगा। दुर्भाग्यवश मिशनरियों के इस व्यवहार का सयोग, सरकार की परिवर्तित नीति से हो गया, जिसने मुसलमानो को यह निष्कर्ष निकालने के लिए बाध्य किया कि सरकार भी समान लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्यरत थी। आगामी दशकों मे एक साथ अनेक सरकारी एव एक बडी सख्या मे मिशनरी सस्थाओ का अभ्युदय हुआ, जिसने मुसलमानों के सन्देह की पुष्टि कर दी। मुसलमानों ने असाधारण शकाओ के साथ मिशनरियों को घोषित करते सुना कि उनका महान् उद्देश्य जितना अधिक सम्भव हो सके नवयुवकों को अपने साहित्य एव विज्ञान का ज्ञानार्जन कराना था, परन्तु एक अन्य एव इससे भी अधिक

---

४३ रामगोपाल, 'इण्डियन मुस्लिम', (बम्बई, १९५९), पृ० १८ १९।

४४ मद्रास प्रेसीडेन्सी में डेन मिशनरियाँ १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही कार्य कर रही थीं। बगाल में कैरी, मार्शमैन तथा वार्ड सचालक थे, जिन्होंने १७९३ में सीरामपुर के डेन उपनिवेश में कार्य प्रारम्भ किया था। इसके पश्चात् दीनाजपुर तथा जैसोर म बैप्टिस्टों ने आकर कार्य आरम्भ किया, लन्दन मिशनरी सोसाइटी डच चिन्सुरा तथा विज़ागापटम म, अमरीकन बोर्ड बम्बई में तथा कुछ कार्यकर्ता बेलारी में आ गए। वे सभी अंग्रेज़ी के स्थान पर ईसाई धर्म के शिक्षण को प्राथमिकता देते रहे थे।

महत्त्वपूर्ण उद्देश्य प्रमाणों एवं सिद्धान्तों सहित ईसाई धर्म का सम्यक् ज्ञान कराना था। मुसलमान इस प्रकार के वक्तव्यों से इतने संत्रस्त हो गए कि उन्होंने धर्म निरपेक्षता के विषय में सत्यनिष्ठ सरकारी विज्ञप्तियों को उन्हें धर्मच्युत करने के षड्यन्त्र का एक भाग समझा। अतः उन्होंने स्वयं को नवीन शिक्षा प्रणाली से पृथक् रखना श्रेयस्कर समझा।

दूसरी ओर, हिन्दुओं ने स्वतन्त्र रूप से परिवर्तन का स्वागत किया तथा अंग्रेजी के नवस्थापित केन्द्रों से लाभान्वित हुए। उनके आधुनिक शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध कोई धार्मिक पूर्वग्रह नहीं थे। वे सर्वग्राही थे तथा उन्होंने मुक्त हृदय से पाश्चात्य विचारों को अंगीकार किया। उनका विश्वास था कि अंग्रेजी उनको आधुनिक वैज्ञानिक जगत में ले जाने तथा उनके लिए सरकारी सेवाओं के द्वार खोलने के लिए अधिक उपयुक्त है।

मुसलमानों की अंग्रेजी के प्रति विरोधी मनःस्थिति तथा पाश्चात्य शिक्षा की धर्म-निरपेक्ष प्रकृति के प्रति, प्रबल विद्वेष ने उन्हें नवस्थापित शिक्षण संस्थाओं में दी जाने वाली अंग्रेजी शिक्षा से बिल्कुल अलग रखा।[४५] वे अंग्रेजी की संस्थाओं को 'मक़्तूल' अथवा जहालत (अज्ञानता) के स्थान तथा उनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों को 'जाहिल' (मूर्ख) कहते थे।[४६] उनका अंग्रेजी शिक्षा के प्रति विद्वेषी व्यवहार, उत्तर समकालीन गद्य लेखक मौलवी नजीर अहमद के एक सार्वजनिक भाषण में भली-भाँति प्रतिबिम्बित होता है जिसमें उन्होंने स्वीकार किया कि :

"मैं ऐसे बाप का बेटा हूँ कि दहली कालिज के प्रिन्सीपल ने हर चन्द चाहा कि मैं अंग्रेजी पढ़ूँ। वालिद मरहूम ने जो एक गरीब आदमी थे, मगर अपने वक़्त के बड़े दीनदार, साफ कह दिया कि मुझे इसका मर जाना मन्ज़ूर, इसका भीख माँगना क़ुबूल, मगर अंग्रेजी पढ़ना गवारा नहीं।"[४७]

मुसलमानों का दृढ़ विश्वास था कि मात्र अनुसरणीय शिक्षा उनकी अपनी ही शिक्षा थी तथा वे अंग्रेजी शिक्षा से उपलब्ध होने वाले सम्भाव्य भौतिक लाभों को त्यागने के लिए उद्यत थे। इसके अतिरिक्त, "वस्तुतः एक नितान्त अपरिचित एवं विदेशी भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कठोर अध्यवसाय व परिश्रम की आवश्यकता थी। हिन्दू इसके अभ्यस्त थे, जैसाकि मुसलिम शासन के अन्तर्गत भी उन्हें यथार्थतः एक विदेशी भाषा में दक्षता प्राप्त करनी पड़ी थी। अतः उन्होंने

४५ "अंग्रेजी शिक्षण संस्थाओं की स्थापना के समकालीन आलेखों में उनसे सम्बन्धित वार्षिक सम्मेलनों में, कमेटियों के गठन में, प्रदाताओं एवं प्रतिभाशाली छात्रों के नामों की सूचियों में हम कठिनता से ही कोई मुसलिम नाम पाते हैं।" (आर० सी० मजूमदार, 'ग्लिम्प्सेज ऑव बंगाल इन द नाइनटीन्थ सेन्चुरी', कलकत्ता, १९६०, पृ० ५०)।

४६ अल्ताफ़ हुसैन हाली, "मक़ालात ए हाली" सम्पादक मौलवी अब्दुल हक़ (दिल्ली, १९३४), पृ० २६४।

४७. हामिद हसन क़ादरी, पृ० ४६५।

सहज रूप में ही नवीन शिक्षा को अपना लिया। परन्तु मुसलमान अभी तक इस प्रकार की चीज़ों के अभ्यस्त नहीं हो पाए थे तथा उस समय ऐसी कोई चीज सीखने की मन स्थिति मे न थे, जिसमे कठोर कार्य एव परिश्रम की आवश्यकता थी, विशेष रूप से–जिसमे अपनी पूर्व प्रजा–हिन्दुओ, से अधिक कठोर कार्य करना पडे। इसके अतिरिक्त वे हिन्दुओ से, जिन्हे कुछ ही समय पूर्व तक अपने से हीन मानते आए थे, प्रतिस्पर्द्धा करने मे मानहानि समझते थे।'[४८]

१८४४ मे जब सरकार ने लोक नियुक्तियो के लिए उन व्यक्तियो को वरीयता प्रदान करने का निश्चय किया, जिन्होने पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त की थी, तो हिन्दू लोग जिन्होंने उस समय तक स्वय को पूर्णरूपण अपेक्षित योग्यता से सनद्ध कर लिया था, नवीन नीति के मुख्य लाभग्राही बन गए। इस प्रकार, सरकारी पदों के लिए प्रयाण में मुसलमानो की अपेक्षा उन्होने प्राथमिक लाभ प्राप्त किया तथा समयान्तर मे उन पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया जो मुसलमानो के लिए रोष का कारण बना। हिन्दुओ ने नवीन युग के अभ्युदय को अनुभव किया तथा स्वय को तदनुकूल ढाल लिया। इसके विपरीत मुसलमानो ने हवा का रुख नही पहचाना तथा परिवर्तित परिस्थितियो की नवीन माँगो की ओर कोई ध्यान नही दिया। फलत जब हिन्दुओ ने बौद्धिक व नैतिक पुनरुत्थान म पदार्पण किया, मुसलमान "भौतिक दारिद्रय एव बौद्धिक पतन की स्थिति"[४९] मे गिर गए। 'शीघ्र ही वे घोर निर्धनता की स्थिति मे परिणत हो गए। अज्ञानता तथा अनासक्ति ने उन्हे जकड लिया और उनकी पूर्वकालीन महत्ता का पतन उनके हृदयो म मर्मभेदन करता रहा'[५०] जिसके लिए परिवतन के प्रति उनका स्वय का व्यवहार मुख्यत उत्तरदायी था।

---

४८ आर० एम० सायानी, 'ब्रिटिश पैरामाउण्टसी एण्ड इण्डियन रिनेसां', भाग २ में उद्धृत, (बम्बई १९६५), पृ० २६९।
४९ मुहम्मद नोमान, 'मुसलिम इण्डिया', (इलाहाबाद, १९४२), पृ० २३।
५०. सायानी, वही, पृ० २६७।

मुसलमानों की आर्थिक अवस्था

(अ) मुसलिम आभिजात्य वर्ग पर अंग्रेजों के आगमन का प्रभाव :

ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा मुगल साम्राज्य का प्रतिस्थापन अपने परिणामो मे हिन्दुओ की अपेक्षा मुसलमानो के लिए अधिक गम्भीर सिद्ध हुआ।[1] भारत मे अंग्रेजों के आगमन से पूर्व विदेशी मुसलमान शासकीय वर्ग के अवयव थे। वे सरकार की ओर से अत्यधिक श्रेयस्कर व्यवहार प्राप्त करते थे तथा उन्हे शासकीय वर्ग से सम्बद्ध सभी लाभ उपलब्ध थे। "बादशाह तथा सर्वोच्च अधिकारी उनके सहधर्मी थे तथा ऐसे ही बडे जमीदार एव बडे पदाधिकारी थे। राज्य भाषा उनकी अपनी थी। प्रत्येक विश्वसनीय तथा दायित्वपूर्ण अथवा प्रभावशाली एव बडी उपलब्धियो के पद पर उनका जन्मसिद्ध अधिकार था।"[2] मुसलमान कुलीन व्यक्ति राज्य के अधिकाश महत्त्वपूर्ण पदो के अधिष्ठाता थे, बादशाह के राज्य प्रतिनिधि के रूप मे विस्तीर्ण भूभागो पर शासन करते थे तथा सर्वाधिक विपुल एव लाभप्रद जमीदारियो का उपभोग करते थे। इस प्रकार, सरकारी सेवाओ पर उनका एकाधिकार था। समस्त उच्चतर नियुक्तियाँ उनके हाथ मे थी तथा केवल अधीनस्थ प्रशासन, मुख्यत राजस्व विभाग मे, हिन्दुओ द्वारा सचालित होता था। अंग्रेजो के आगमन से पूर्व एक कुलीन मुसलमान के लिए आय के तीन प्रमुख साधन, राजस्व सग्रह, सैन्य निदेश तथा राज्य सेवाओ में लाभप्रद कार्य थे।[3] इनके अतिरिक्त दरबारी सेवाएँ तथा "समृद्धि के सैकडो नामरहित मार्ग थे।"[4] सर विलियम हटर के शब्दो में "मुसलिम आभिजात्य वर्ग, सक्षेप मे, विजेता था तथा उसी रूप मे सरकार पर एकाधिकार का दावा करता था। यदाकदा एक हिन्दू राजस्वविद् तथा बिरले ही

---

१ सर पर्सीवल ग्रिफिथ्स, 'द ब्रिटिश इम्पैक्ट ऑन इण्डिया' (लन्दन, १६५२), पृ० १०६; हमारे पर्यवेक्षण काल में मुसलमानो की आर्थिक दशा पूर्व शताब्दी की अपेक्षा बदतर हो गई थी। इसका उल्लेख 'ऐतिहासिक पृष्ठभूमि' में किया जा चुका है (देखिए अध्याय-१)। इस अध्याय के अनेक लक्षण वस्तुत वैसे ही बने रहे, अतः यहाँ उनकी पुनरावृत्ति नही की गई है।

२. मायानी, वही, पृ० २६६।

३. डब्ल्यू० डब्ल्यू० हन्टर, 'द इण्डियन मुसलमान्स' (लन्दन, १८७२), पृ० १५६।

४. वही।

एक हिन्दू सेनाध्यक्ष, उभर कर आता था, परन्तु ऐसे उदाहरणो की सुस्पष्टता उनके दुर्लभत्व का सर्वोत्तम प्रमाण है।"[५]

विभिन्न प्रदेशो पर ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना के साथ ही मुसलिम आभिजात्य-वर्ग का भव्य भवन खण्ड-खण्ड हो गया तथा उनकी पूर्वकालीन सुविधापूर्ण स्थिति विलुप्त हो गई। इस आघात की कठोरता का सर्वप्रथम अनुभव बगाल के कुलीन वर्ग ने किया। १७९३ के स्थायी बन्दोबस्त मे समाप्त होने वाले भूराजस्व व्यवस्था सम्बन्धी परिवर्तनो की शृखला ने कुलीन मुसलमानो को निःस्रावित कर दिया जो सरकार तथा वास्तविक सग्राहक के मध्य निरर्थक कडी समझा जाने लगा। इस परिवर्तन ने "हिन्दू सग्राहको की, जो उस समय तक केवल महत्त्वहीन पदो पर आरूढ़ थे, उत्थापित करके जमीदारो की स्थिति प्रदान की, उन्हें भूमि पर स्वामित्वाधिकार प्रदान किया तथा उन्हे धन-सचय करने का अवसर प्रदान किया जो अन्यथा अपने शासन के अन्तर्गत मुसलमानों को ही प्राप्त होता।"[६] मुसलिम आभिजात्यवर्ग के लिए राजस्व पदो की क्षति का अर्थ अन्यान्य अवैध लाभ करो की हानि था जो प्रथागत बन गए थे। ब्रिटिश व्यवस्था मुसलिम आभिजात्यवर्ग की अपरिभाषित शक्तियो एव विशेषाधिकारो पर एक निश्चित प्रहार सिद्ध हुई। अब वे एक कुलीन हिन्दू का अपहार करने, कृषक वर्ग का शोषण करने, चुंगी वसूल करने तथा स्वेच्छाचारिता से आचरण करने मे अक्षम थे।[७]

पुनर्ग्रहणाधिकार कानून, जिसे १७९३ के कॉर्नवालिस कोड मे विधिबद्ध किया गया था, कुलीन मुसलमान के लिए एक अन्य प्रहार था। इसके अनुसार, ब्रिटिश सरकार का उन सभी भाटकमुक्त अनुदानो पर अदेय अधिकार हो गया जिनकी स्वीकृति शासकीय शक्ति से प्राप्त नहीं की गई थी। अब भाटकमुक्त धारणाधिकार के लिए प्रमाण प्रस्तुत करना आवश्यक हो गया। विजेता होने के नाते मुसलमान स्वामित्वाधिकार पत्रों के प्रति उदासीन रहे थे, अतः स्पष्ट है कि उन्हें अत्यधिक क्षति उठानी पडी। नवीन नियम सैकडो प्राचीन परिवारो के लिए घातक सिद्ध हुआ।[८] यह मुसलमानो की शिक्षा-प्रणाली के लिए भी घातक प्रहार सिद्ध हुआ जो प्रायः पूर्णरूपेण भाटक-मुक्त अनुदानो द्वारा ही सपोषित थी।[९] इस प्रकार पुनर्ग्रहणाधिकार कानून मुसलमानो के लिए विनाशपूर्ण सिद्ध हुए, जिन्होंने बगाल तथा बिहार मे उन्हें सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने के साधनों से वचित कर दिया। अवध के अधिग्रहण तथा १८५७ के विद्रोह का ऐसा ही प्रभाव लखनऊ एव दिल्ली के मुसलमानो पर पडा।

---

५ वही।

६. जेम्स ओ नैली, मेमोरेण्डम, एज्यूकेशन ए प्रसीडिंग न० २-८ अ दिनांकित १६ अगस्त, १८७१।

७. हंटर, पृ० १५८।

८ वही, पृ० १८६।

९. वही।

दुर्भाग्यवश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने मुसलमानों को सैन्य पदों से अलग रखने की नीति का अनुसरण किया। ऐसा करना राज्य की अखण्डता की सुरक्षा हेतु आवश्यक समझा गया।[१०] परन्तु इस नीति का उन उच्चवर्गीय मुसलमानो की आर्थिक स्थिति पर गम्भीर प्रभाव पड़ा जिन्होंने सैन्य कार्य को अपना व्यवसाय बना लिया था। सैन्य सेवा उनके लिए विशेष आकर्षण रखती थी, परन्तु अब उनके लिए उसके द्वार बन्द हो गए। इस प्रकार मुसलिम आभिजात्यवर्ग बिना आजीविका के परित्यक्त कर दिया गया। मुसलिम शासन के अन्तर्गत एक उच्चकुलोत्पन्न मुसलमान का निर्धन बन जाना असम्भव था, परन्तु अब ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत उसके लिए धनवान बने रहना असम्भव हो गया।[११]

(ब) उलमाओं की दशा।

मुसलिम समाज मे वस्तुत उलमाओं का वर्ग ही शिक्षित होता था, अत सम्पूर्ण मुसलिम शासनकाल मे प्राय नियमतः न्यायपालिका तथा धर्म-विषयक विभाग के समस्त महत्वपूर्ण पदो पर उन्हीं का एकाधिकार था। धर्म-विषयक विभाग के अन्तर्गत, जिसका अध्यक्ष 'सद्र-उस-सद्र' होता था, खैरात एव शिक्षा जैसे उप विभाग होते थे। शिक्षा विभाग भी मूलत: धार्मिक ही था। ऐसा ही न्याय-विषयक विभाग था, जिसका अध्यक्ष 'काज़ी-उल-कुजात' होता था। राज्य की धर्मतान्त्रिक रचना के कारण, कम से कम इन विभागों मे 'शर' का सम्यक् ज्ञान अपेक्षित था। अत उलमा असीमित राज्य-सरक्षण का उपभोग करते थे। राज्य की ओर से वे धर्मस्व प्राप्त करते थे, जो भाटकमुक्त जागीरो, भारी वेतनो, पेन्शनो तथा 'मददेमाश' आदि अन्य अनुदानो के रूप में होते थे।

अग्रेजों के आगमन तथा मुसलिम धर्मतान्त्रिक राज्य के शनै शनै विलुप्त होने के साथ साथ उलमा वर्ग का सम्पूर्ण आडम्बर खण्ड-खण्ड हो गया। जो उपहार एव विशेषाधिकार उन्हे प्रदान किए जाते थे, वे समाप्त हो गए। मुसलिम शासनकाल मे जिस उच्चासीन स्थिति का वे उपभोग करते आए थे, उससे शनै शनैः परन्तु निश्चयात्मक रूप से वे निरस्त किए जा रहे थे। यह परिवर्तित परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम था क्योंकि ब्रिटिश राज्य में इस धार्मिक वर्ग की आवश्यकता शेष नहीं रही थी।

इस प्रकार, उलमाओं को आभिजात्यवर्ग से भी अधिक क्षति उठानी पड़ी। विभिन्न कानूनो द्वारा उन्हें भूमिहीन बना दिया गया। शिक्षा तथा कालान्तर मे न्यायपालिका का नियन्त्रण उनके हाथों से निकल गया। वे न केवल अपनी शक्ति व सम्मान से ही वंचित हुए, अपितु उनकी आय के प्राय सभी साधन भी समाप्त हो

---

१० वही, पृ० १६६।
११. वही, पृ० १५८।

गए। वे एक साधारण व्यक्ति की स्थिति मे परिणत कर दिए गए, जिनके चतुर्दिक दुर्भाग्य व्याप्त था। आश्चर्य-चकित होकर उन्होने परिवर्तित परिस्थितियो को देखा। ये अत्यधिक हताश एव इस्लामी शासन के विलुप्त हो जाने से उग्र परिवादी तो थे ही, अत कोई आश्चर्य नही कि उन्होने धार्मिक पुनरुत्थानवादी आन्दोलनो का सूत्र-पात किया[१२] तथा इस प्रकार इन आन्दोलनो द्वारा उनके मन मे व्याप्त गहन वेदना को बाहर निकलने का मार्ग मिला। उनके संघर्ष का मात्र लक्ष्य भारत मे मुस्लिम सत्ता का पुनरुत्थान था, जिसके द्वारा ही उन खोए हुए असख्य लाभो व विशेषाधिकारो की पुन: प्राप्ति सम्भव थी।

(स) फकीरो की दयनीय दशा :

मुसलिम समाज का एक अन्य महत्त्वपूर्ण वर्ग विशाल सख्या मे फकीरो का था। ये फकीर दो प्रकार के थे। उच्च श्रेणी, सूफियो, सन्तो तथा अन्य दिव्य पुरुषो की थी जो किसी प्रकार का उत्पादक श्रम नही करते थे, अपितु लोगो की धार्मिक, आध्यात्मिक तथा कभी-कभी अन्धविश्वासी आवश्यकताओं की पूर्ति किया करते थे। वे अपने खानकाह अथवा गद्दियाँ स्थापित करते थे जो राज्य अथवा आभिजात्यवर्ग द्वारा पोषित होती थी। उनमे से कुछ फकीर वैरागी एव एकान्तवासी होते थे, जो समाज से अलग अपनी कुटीरो मे निवास करते थे। निम्न श्रेणी के फकीर भिक्षुक होते थे, जो हाथ मे भिक्षा-पात्र लेकर इधर-उधर घूमते फिरते थे तथा पूर्णरूपेण भिक्षा पर निर्भर रहते थे। इस्लाम भिक्षा-वृत्ति की स्वीकृति देता है, अत मुसलिम समुदाय का एक बडा वर्ग राज्य एव जनसाधारण की ओर से खैरात पर निर्भर रहता था।

स्पष्टत वैरागियो के अतिरिक्त सम्पूर्ण वर्ग अपने आश्रयदाताओ की सुख-समृद्धि पर अवलम्बित था। जैसे ही उनके आश्रयदाता निस्सहाय हुए वैसे ही फकीरो का सन्तुलन भी बिगड गया। इस प्रकार वे अत्यधिक क्षतिग्रस्त हुए। फकीरी से अब उनका निर्वाह न होता था तथा उनके कष्टो की कोई सीमा न थी।

(द) व्यवसाय एवं उद्योग का विनाश :

मुसलिम समाज मे व्यावसायिक अथवा औद्योगिक मध्यम वर्ग न था। नि:-सन्देह उसमे कतिपय अरब तथा फारस के व्यापारी थे, परन्तु उनकी सख्या अधिक न थी। मुसलिम जनसाधारण मे अधिकाशत श्रमिक, शिल्पी एव दस्तकार, सैनिक तथा सामान्य व्यक्ति थे। राजकीय कारखानो के बन्द हो जाने तथा आभिजात्यवर्ग के सरक्षण की समाप्ति के परिणामस्वरूप उनकी दशा नितान्त दयनीय हो गई। १८वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राजनीतिक प्रभुत्व के अभ्युदय तथा उसके कर्मचारियों की उत्पीडनकारी गतिविधियो के फलस्वरूप उद्योगो का ह्रास एव विनाश हो गया। "कुशासन भ्रष्टाचार तथा दमनचक्र निरन्तर चलता रहा, व्यवसाय

---

१२ आगे देखिये, अध्याय-६।

गम्भीर रूप से नष्ट-भ्रष्ट हो गया, शिल्प उद्योग उजड गए तथा भारत से सम्पदा के निर्गम ने देश को मुद्रा एव द्रव्य से निरावृत्त कर दिया।"[१३] इस प्रकार "वह आर्थिक व्यवस्था नष्ट हो गई जिसके अन्तर्गत लाखो भारतीय श्रम करते थे, अपना उदर-पोषण करते थे तथा मध्य युग मे सदियो तक अपनी सरकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहे थे...... ....अब भारत, मुगलकाल की भाँति तैयार वस्तुओ अथवा लघु परिमाण मे मूल्यवान ऐशो-आराम की वस्तुओ के स्थान पर, कच्चे-माल का थोक निर्माता बन गया।"[१४] भारत की अनेक औद्योगिक कलाएँ मुसलमानो के हाथ मे रही थी, किन्तु अब वे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आर्थिक नीति के फलस्वरूप नष्ट हो गई।[१५]

निर्धनता से पीडित दस्तकारो का सजीव चित्र कवि नजीर ने चित्रित किया है। उदाहरणार्थ, वह पर्यवेक्षण करते हैं कि बेरोजगारी के कारण घर-घर मे निर्धनता अपना ताण्डव नृत्य कर रही है :

बेरोजगारी ने यह दिखायी है मुफलिसी
कोठे की छत नहीं यह छाई है मुफलिसी
दीवारो-दर के बीच समायी है मुफलिसी
हर घर मे इस तरह से भर आई है मुफलिसी
पानी का टूट जावे है ज्यूँ एक बार बन्द[१६]

वे आगे वर्णन करते हैं कि छत्तीस व्यवसायो के कारीगर बेकार बैठे हैं :

मारे हैं हाय हाय पै सब याँ के दस्तकार
और जितने पेशादार हैं रोते हैं ज़ार ज़ार
कूटे है तन लुहार तो पीटे है सर सुनार
कुछ एक दो के काम का रोना नहीं है यार
छत्तीस पेशे वालो का है कारोबार बन्द[१७]

नज़ीर सैनिकों की दशा का मार्मिक वर्णन करते हैं :

ऐसा सिपाह मर्द का दुश्मन ज़माना है
रोटी सवार को है न घोडे को दाना है

---

१३. वीरा ऐन्स्टे. 'इकनॉमिक डिवेलपमेन्ट' 'मॉडर्न इण्डिया एण्ड द वैस्ट', सम्पादक एल०एस०एस० ओ मैल्ली (ऑक्सफ़ोर्ड, १९४१), पृ० २६५।

१४. सरकार, 'फ़ॉल आव द मुगल एमपायर', भाग-४, पृ० ३४०।

१५. ए० यूसुफ़ अली, "मुस्लिम कल्चर एण्ड रिलिजस थॉट", 'मॉडर्न इण्डिया एण्ड द वैस्ट', पृ० ३६२।

१६. 'कुल्लियात-ए-नजीर', पृ० ४६५।

१७. वही, पृ० ४६६।

तनख्वाह तलब है न पीना न खाना है
प्यादे दुम्रालबन्द का फिर क्या ठिकाना है
दर दर खराब फिरने लगे जब नकारबन्द[१८]

सर्वसाधारण की स्थिति भी, जैसाकि नजीर ने अवलोकन किया, कुछ अच्छी न थी। अपनी काव्य रचना 'मुफलिसी'[१९] मे वे उनकी निर्धनता का विशद वर्णन करते हैं :

बीबी के नथ न लड़को के हाथों कड़े रहे
कपडे मियाँ के बनिये के घर मे पडे रहे
जब कड़ियाँ बिक गयीं तो खडर मे अड़े रहे
जंजीर न किवाड़ न पत्थर गड़े रहे
आखिर को ईंट ईंट खुदाती है मुफलिसी[२०]

तथा इसी प्रकार, एक अन्य स्थल पर वे उल्लेख करते हैं :

कमख्वाब ताश मशरू तनजेब खासा मलमल
सब मुफलिसी के हाथों गए अपने हाथ मलमल
पगड़ी रही न जामा पटका रहा न आंचल
ले टाट की कबा पर जोड़ा पुराना कम्बल[२१]

नजीर वस्तुत जनसाधारण के कवि थे तथा उनके द्वारा समकालीन व्यक्तियो के चित्रण से हमे उनकी आर्थिक अवस्था का बोध होता है। वे बार-बार अपनी विविध काव्य रचनाओ मे जनसमुदाय के दुर्भाग्य की ओर सकेत करते हैं; कभी सहानुभूति के साथ, तो कभी परिहास के साथ।

नजीर के वर्णनो का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नजीर ने लोगो की दयनीय दशा को नि:सहाय रूप मे देखा था। उन्होंने धनी तथा निर्धन वर्ग के बीच व्याप्त असमानता को असहनीय पाया तथा इसका प्रतिवाद किया। यद्यपि कम्यूनिज़्म (साम्यवाद) शब्द बाद के युग की शब्दावली से सम्बद्ध है तथापि जिस भावना को यह अभिव्यक्त करता है, उसने बहुत पहले ही नजीर की कविताओ को प्रेरित किया था। नजीर उर्दू के सर्वप्रथम कवि थे, जिन्होंने मानव समानता की भावना का पक्षपोषण गहन सवेदना के साथ किया। 'आदमी' नामक उनकी काव्य-रचना[२२] इस प्रसग मे एक दृष्टान्त है जिसमें वे कहते हैं :

१८. वही, पृ० ४७०।
१६. वही, पृ० ६२६–६१।
२०. वही, पृ० १२८।
२१ वही, पृ० ६६२।
२२. वही, पृ० ६८३-८५।

दुनियाँ मे बादशाह है सो है वो भी आदमी
और मुफलिसी-गदा है सो है वो भी आदमी
जरदार बेनवा है सो है वो भी आदमी
नियमत जो खा रहा है सो है वो भी आदमी
टुकड़े चबा रहा है सो है वो भी आदमी[२३]

× × × ×

या आदमी नकीब हो बोले है बार-बार
और आदमी ही प्यादे हैं और आदमी सवार
हुक्का सुराही जूतियाँ, दौडें बगल मे मार
काँधे पे रखके पालकी हैं दौड़ते कहार
और उस पे जो चढ़ा है सो है वो भी आदमी[२४]

× × × ×

इक ऐसे हैं कि जिनके बिछे हैं नए पलग
फूलो की सेज उनपे भमकती है ताजा रग
सौ-सौ तरह से ऐश के करते हैं रग ढग
और खाक मे पडा है सो है वो भी आदमी[२५]

नज़ीर की अनेक रचनाओ म तत्कालीन समाज मे व्याप्त असमानता के प्रति असन्तोष की भावना अन्तर्निहित है तथा साथ-साथ सामान्य व्यक्ति की दशा सुधारने की आकाक्षा भी।

अत अपनी काव्य रचना 'आटा दाल'[२६] मे नज़ीर अपने साथियो को परामर्श देते हैं कि वे पशु पक्षियो को पालने आदि मनोरजनो मे लिप्त रहने के स्थान पर जीविकोपार्जन के साधन जुटाएँ।[२७] इससे स्पष्ट होता है कि मुसलमान लोग प्राय अपने जीविकोपार्जन के प्रति कर्त्तव्य विमुख रहते थे। इस तथ्य का विस्तृत वर्णन उत्तर समकालीन लेखक मौलाना हाली ने किया है। वे लिखते हैं

"अगर किसी खानदान म हुस्न इत्तफाक से एक कमाऊ पैदा हो जाता है तो तमाम खानदान उसके सहारे पर फिक्रेमाश से फारिग उलबाल हो जाता है। एक *कमाता है और बीस खाते है यह सब इसलिए हुआ कि हम म कुव्वते अमल* बाकी न रही।"[२८]

---

२३ वही, पृ० ६८३।
२४ वही, पृ० ६८४।
२५ वही, पृ० ६८५।
२६ वही, पृ० ६६५-६६।
२७ वही।
२८ 'मकालात ए हाली, पृ० १८०।

उपर्युक्त तथ्यो व विवरणो से स्पष्ट हो जाता है कि मुसलिम जनसमुदाय को समय के साथ स्वय को परिस्थितियो के अनुरूप ढाल लेना चाहिए था, लेकिन वे ऐसा करने मे असफल रहे। अवसरानुकूल तथा परिस्थिति के अनुरूप स्वय को न ढाल पाने के कारण ही उन्हे कष्टो का सामना करना पडा। गम्भीर आर्थिक कठिनाइयाँ उनके समक्ष थी, फिर भी वे अपने विलासी जीवन की भोगलिप्सा का मोह सवरण न सके, प्रमाणस्वरूप है १९वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे भी उनका बहुपत्नीक बने रहना। इस प्रकार, स्पष्ट है कि अनक किंकर्त्तव्यविमूढ विलासी लोगो ने निर्धनता को स्वय निमन्त्रण दिया। गालिब भी ऐसे ही लोगो मे थे, आय के अनुसार उन्होने अपने व्यय मे कटौती नही की और परिणामत उन्होने ऋण लेना प्रारम्भ किया। इस प्रकार उन्होने एक कुलीन व्यक्ति का जीवन तो जीया, किन्तु ऋण का भार बढता ही गया।[२९] मुसलमानो ने परिस्थितियों को देखते हुए भी अपनी रुचियो मे परिवर्तन नही किया तथा अपने विचारो मे रूढिवादी एव अपरिवर्तनशील बने रहे। 'लकीर के फकीर' बने रहने की इस हठी प्रवृत्ति ने उन्हे समयानुसार परिवर्तित होने की दिशा की ओर देखने तक की स्वीकृति प्रदान न की, मानो उन्हे इसकी आवश्यकता ही न थी। परन्तु उन्हें इसका मँहगा मूल्य चुकाना पडा। उनकी इस प्रवृत्ति और आचरण के कारण उनकी आर्थिक स्थिति बद से बदतर होती गई, और यह प्राय निश्चित ही थी।

---

२९. देखिये, अध्याय-२।

९

धार्मिक पुनरुत्थानवादी मुसलमान एवं समकालीन समाज

१६वी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश मे सम्राट अकबर द्वारा निष्पादित नीतियों को, यथा–प्रशासन का धर्मनिरपेक्षीकरण, इस्लाम की राज्यधर्म से अपदस्थि तथा सभी धार्मिक सम्प्रदायो को समान स्तर प्रदान करना, यद्यपि अधिकाश मुसलिम जन समुदाय ने चुपचाप स्वीकार कर लिया था, तथापि यह कतिपय मुसलमान धर्मोपदेशको के लिए अरुचिकर था जिन्होने शक्तिशाली सम्राट की मृत्यु के तुरन्त पश्चात् ही इस्लाम धर्म की सर्वोपरिता की पुनः स्थापना के लिए एक आन्दोलन का सूत्रपात किया। इन धर्मोपदेशको मे शेख अहमद सरहिन्दी विशिष्ट थे, जो १७वी शताब्दी के मुसलिम धार्मिक पुनरुत्थानवादी आन्दोलन के पथ-प्रदर्शक बने तथा जिन्होने 'मुजद्दिद अल्फ ए-सानी' अथवा इस्लाम धर्म के द्वितीय सहस्त्राब्दी के पुनरुद्धारक की उपाधि अर्जित की। उन्होने प्रचार किया कि इस्लाम धर्म तथा हिन्दू धर्म दोनो परस्पर विरोधी हैं जिनका मेल कभी नही हो सकता तथा मुसलमान शासक का कर्त्तव्य है कि वह इस्लाम धर्म का शस्त्र बल द्वारा उत्थान करे।[1] उन्होने जहाँगीर को बताया कि धर्म तलवार के आधार पर समृद्ध होता है।[2] उन्होने इस्लाम को समस्त उत्तर कालीन परिवर्धनो एव हिन्दू प्रभावों से मुक्त करने के लिए एक प्रबल अभियान चलाया जो शनै-शनै मुसलमानो मे फैलता गया और यथा-समय सफल हुआ। इसने औरगजेब एव उसके उत्तराधिकारियो के समय राज्य की नीति निर्धारित करने मे तथा विशेष रूप से सस्थापक के दार्शनिक सिद्धान्तो एव कार्यक्रम मे श्रद्धा रखने वाले मुसलिम उलमाओ की क्रमागत पीढियों के उदय मे योगदान दिया।[3]

---

१ मुजद्दिद अल्फ़ ए सानी शख अहमद सरहिन्दी, 'मकतूबात ए-इमाम-ए रब्बानी', भाग २ (लखनऊ, १८७७), पृ० १२१।

२ वही, भाग ३, पृ० ८२।

३ आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, "रिलिजन इन इंडिया इन द एटीन्थ सेन्चुरी', 'जर्नल ऑव इडियन हिस्ट्री', ग्रन्थ ४०, भाग १, अप्रैल, १९६९, पृ० १९,

(अ) वलीउल्लाही आन्दोलन :

१८वीं शताब्दी के सर्वाधिक विख्यात मुसलमान धार्मिक नेता एव विचारक शाह वलीउल्लाह[४] थे। उन्हें भारतीय इतिहास के आधुनिक युग मे इस्लाम धर्म का शुद्धीकरण आन्दोलन प्रारम्भ करने का श्रेय प्राप्त है। प्रारम्भिक अवस्था से ही उन्होने मुग़ल साम्राज्य के बढते हुए विघटन तथा देश मे मुसलिम समुदाय के अधः-पतन को प्रत्यक्ष देखा था। अत. वे तत्कालीन परिस्थितियो से नितान्त असन्तुष्ट थे। वह भारतीय इस्लाम के पतन के कारण अत्यन्त दुखी थे, जो हिन्दू धर्म के सम्पर्क मे आने के परिणामस्वरूप "शनैं. शनैं अपनी कुछ मौलिक पद्धतियो से विचलित होता जा रहा था तथा अचेतन रूप से हिन्दुओ की रीतियो को अपनाता जा रहा था। ऐसा विशेष रूप से इस्लाम मे नवीन धर्मान्तरित लोगो के साथ था, जिन्होंने न केवल अपने पूर्वजो की हिन्दू सामाजिक पृष्ठभूमि को ही स्थिर रखा अपितु उनके कतिपय विश्वासो एव अन्धविश्वासो का अनुसरण भी करते रहे।"[५] वलीउल्लाह के लिए यह एक गम्भीर चिन्ता का विषय बन गया, जिन्होने "अनुभव किया कि यदि हिन्दू धर्म के साथ समन्वय की यह प्रक्रिया चलती रही तो शीघ्र ही मुसलिम सम्प्रदाय अपना पृथक अस्तित्व खो बैठेगा तथा एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब भारतीय इस्लाम हिन्दू-धर्म का एक सस्करण मात्र बन जाएगा।'[६]

शाह वलीउल्लाह की व्यग्रता का एक अन्य गम्भीर कारण जन-समुदाय पर सूफी रहस्यवाद का प्रभाव था जो हिन्दू वेदान्त के दार्शनिक सिद्धान्तो के सदृश था। वहदतुलवजूद अथवा तात्विकीय अद्वैतवाद का सिद्धान्त मुसलमान सूफियो के मस्तिष्क पर प्रभाव जमाता जा रहा था।[७] "अनेक अत्यधिक उदार एव धार्मिक प्रवृत्ति के हिन्दू मनीषी, मुसलमान सूफियों के साथ पक्तिबद्ध होकर रहस्यवाद पर फ़ारसी भाषा मे विपुल साहित्य की रचना कर रहे थे जिसका उद्देश्य हिन्दुओ तथा मुसलमानो के उच्च वर्ग को एक ही धार्मिक मच पर लाना था।"[८] इस सब ने वलीउल्लाह जैसे विशुद्धिवादियो की समस्या मे वृद्धि करदी।

शाह वलीउल्लाह की समस्या का तीसरा पक्ष नितान्त राजनैतिक था। मुसल-मान दार्शनिको तथा वस्तुत इस्लामी धार्मिक सिद्धान्तो के अनुसार, धर्म तथा राजनीति समान लक्ष्य के ही माध्यम समझे जाते थे और वह था इस्लाम का उत्कर्ष। अत: शाह वलीउल्लाह एक धर्मोपदेशक होते हुए भी राजनैतिक शक्ति को समान महत्त्व प्रदान करते थे। मराठों, जाटो तथा सिखो की तीव्रगति से बढ़ती हुई क्षेत्रीय

---

४. देखिए, परिशिष्ट 'ब'।
५. श्रीवास्तव, पृ० २०।
६. शाह वलीउल्लाह, 'हुज्जतुल्लाह-अल-बालिग़ा', (अरबी मूलपाठ, कराची, १९५३), श्रीवास्तव द्वारा उद्धृत, वही।
७. एस० एम० इकराम, 'रौद-ए-कौसर', (कराची), पृ० ३६२।
८. श्रीवास्तव, पृ० ९०।

तथा सैन्य शक्ति के परिणामस्वरूप मुगल सम्राट एवं प्रादेशिक मुसलिम शासकों की शक्ति, राज्यक्षेत्र एवं प्रतिष्ठा क्षीण होती जा रही थी। इन परिवर्तनों से वलीउल्लाह अत्यधिक चिन्तित थे। उनकी राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा थी—भारत में मुसलिम सत्ता पुनः स्थापित करना। अतः उनके प्रयास इस ध्येय की प्राप्ति के लिए निर्धारित थे।[९] फलतः १८वीं शताब्दी में शाह वलीउल्लाह ने जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया उसके तीन उद्देश्य थे

(१) भारतीय इस्लाम को उत्तरकालीन सदर्भों एवं हिन्दू प्रभावों से मुक्त करना तथा उसकी पूर्वकालीन पवित्रता पुनः स्थापित करना,

(२) वेदान्तीय अद्वैतवाद अथवा इब्नुल-अरबी के वहदतुलवजूद सिद्धान्त का बहिष्करण कर कट्टर सुन्नी रहस्यवाद की पुनर्स्थापना,

(३) मराठों, जाटों एवं सिखों की राजनैतिक शक्ति का उन्मूलन कर मुसलिम राजसत्ता की पुनस्थापना।

यह 'वलीउल्लाही आन्दोलन' के नाम से विख्यात है। इसका स्वरूप धार्मिक एवं राजनैतिक था।[१०]

वलीउल्लाह ने फारसी एवं अरबी साहित्य के साथ-साथ इस्लामी धर्मशास्त्र, विशेषतः क़ुरान व हदीस का विस्तृत एवं गहन अध्ययन किया था। उन्होंने अरबी एवं फारसी भाषा में विपुल साहित्य की रचना की तथा वे चालीस से भी अधिक ग्रन्थों के रचयिता थे।[११] अपने विशेष गुणों एवं ज्ञान के कारण वह अपने युग के कायमुज्जमाँ (पथप्रदर्शक) तथा मुजद्दिद (पुनरुद्धारक) बनने में समर्थ हुए।[१२] उनका विश्वास था कि ईश्वर ने उन्हें मुसलिम सम्प्रदाय के मध्य सभी क्षेत्रों में—आध्यात्मिक एवं सैद्धान्तिक, राजनैतिक एवं सामरिक, सामाजिक एवं आर्थिक-संगठन की पुनर्स्थापना का दायित्व सौंपा था। उनके, मुगल सम्राट, अहमदशाह अब्दाली, नजीबुद्दौला तथा अन्य को सम्बोधित पत्र[१३] उनके उद्देश्य की भावना, अपनी भविष्य-वाणीयुक्त अलौकिक दर्शन-शक्ति में विश्वास तथा विशिष्ट मुसलमानों एवं जनसाधारण को यह विश्वास दिलाने की क्षमता प्रदर्शित करते हैं कि उनके गैर मुसलमान विरोधियों की पराजय तथा विनाश पूर्व नियोजित था तथा यह कि यदि वे मराठों, जाटों एवं सिखों के विरुद्ध दृढ़ता से आगे बढ़ें तो युद्ध के उत्थान-पतन के

---

९ के० ए० निज़ामी (सम्पादक), 'शाह वलीउल्लाह देहलवी के सियासी मक्तूबात', (अलीगढ़, १९५१)।

१० श्रीवास्तव पृ० २१।

११ उनकी सूची के लिए देखिए, सियासी मक्तूबात', पृ० १८५-८६।

१२ शाह वलीउल्लाह ने स्वयं को अपने युग का कायमुज्जमा तथा मुजद्दिद घोषित किया (तज़्किरा शाह वलीउल्लाह'', 'अल फ़ुरक़ान', बरेली, पृ० ३५४, ४१०, ४११, 'सियासी मक्तूबात', पृ० नन।

१३ देखिए, परिशिष्ट स।

बावजूद भी अन्तत. सफलता उनको ही मिलनी निश्चित थी। उन्होंने लिखा तथा उपदेश दिया जैसे कि ईश्वर उनसे असख्य शब्दो मे कह रहा हो कि गैर मुसलमान शक्तियो के विनाश तथा मुस्लिम सर्वोपरिता की पुनःस्थापना हेतु उनकी प्रार्थना निश्चयात्मकरूप से मनोवाछित होगी।"[१४]

शाह वलीउल्लाह की विशुद्ध इस्लाम की कल्पना गैर मुसलमानो के प्रति धार्मिक सहिष्णुता के सूफी दृष्टिकोण को स्वीकार न करती थी। उन्होंने सूफियो के आचरणो को भ्रष्ट ठहराकर उनकी भर्त्सना की तथा उन गैर मुसलमानी रीतियो एव ढगो का तीक्ष्ण खण्डन किया जिन्हे मुस्लिम जनसाधारण ने आनुवशिक रूप मे अथवा हिन्दुओ के साथ सामाजिक सम्पर्क के माध्यम से अभिगृहीत किया था।

वलीउल्लाह द्वारा सजोए उद्देश्यो मे से एक था—भारत मे शक्तिशाली मुस्लिम प्रभुसत्ता की पुनर्स्थापना, क्योंकि बिना राजनैतिक शक्ति के मुस्लिम सगठन एव इस्लामी सर्वोपरिता प्राप्त करना कठिन था। परन्तु शाह वलीउल्लाह ने तैमूर वशजो को इस कार्य के लिए नितान्त अयोग्य पाया। अत उन्होंने विदेशी सहायता द्वारा भारत मे मुस्लिम शासन पुनःस्थापित करने के लिए एक योजना बनाई। उन्होने सम्भवत अक्तूबर १७५६ मे काबुल के अहमदशाह अब्दाली को एक भली भाँति तर्कयुक्त एव प्रलोभक पत्र[१५] लिखा कि वह दिल्ली पर चढाई करे तथा गैर मुस्लिम सर्वोपरिता का दमन करके तथा देश मे मुस्लिम शासन की पुनर्स्थापना करके पुण्य अर्जित करे। उन्होंने रुहेला सरदार नजीबुद्दौला, वज़ीर इमादुल-मुल्क तथा अन्य मुस्लिम सरदारो एव विशिष्ट व्यक्तियो से भी पत्र व्यवहार किया कि वे मराठों, जाटो व सिखो के विरुद्ध सगठन बनाएँ तथा अब्दाली को उसके कार्य मे सहायता प्रदान करें।[१६]

भारत पर अहमदशाह अब्दाली के नौ आक्रमणों मे से कम से कम छठा आक्रमण, जो मराठों के विरुद्ध पानीपत के युद्ध (१७६०–६१) मे परिणमित हुआ, निस्सन्देह शाह वलीउल्लाह द्वारा प्रायोजित था।[१७] अहमदशाह अब्दाली ने मराठा प्रभुत्व पर तीव्र प्रहार किया, परन्तु पतित मुगल साम्राज्य इस सुअवसर का लाभ किसी प्रकार भी न उठा सका। इसके विपरीत प्लासी के विजेता प्रमुख लाभग्राही बने जिन्होंने पानीपत के मैदान में मराठों की पराजय का पूर्णरूपेण लाभ उठाया।

(ब) शाह अब्दुल अज़ीज़ व उनका प्रसिद्ध फतवा :

१७६३ मे शाह वलीउल्लाह का प्रावरण उनके ज्येष्ठ पुत्र शाह अब्दुल अज़ीज़ (१७४६-१८२४) पर आ गिरा जो अठारह वर्ष की आयु मे मदरसा-ए-रहीमिया मे

---

१४. श्रीवास्तव, पृ० २१, २२; 'सियासी मक्तूबात', पत्र संख्या ५,६,७,६, ११ इत्यादि।

१५ देखिए, परिशिष्ट 'स'।

१६. वही।

१७. 'सियासी मक्तूबात', पृ० १६७।

पैतृक पद के उत्तराधिकारी बने तथा १८२४ तक अपने पिता के जीवन-लक्ष्य को चलाते रहे। अपने पिता की भांति उन्होने भी इस्लाम को, हिन्दुओ से ग्रहण किए अन्धविश्वासपूर्ण आचरणो से मुक्त करके सुधारने तथा पैगम्बर द्वारा अध्यापित इस्लाम के प्रारम्भिक सिद्धान्तो को पुन स्थापित करने की आवश्यकता पर बल दिया। अपने पिता की भांति उन्होंने भी भारत में मुस्लिम सत्ता की पुनः स्थापना पर जोर दिया, जिसके द्वारा इस्लाम का कायाकल्प उसके मूलस्वरूप मे किया जा सकता। उन्होने इसकी आशा को उस समय तक बनाए रखा जब तक कि १८०३ मे अंग्रेज़ो द्वारा आगरा व दिल्ली पर अधिकार स्थापित न कर लिया गया। परन्तु अब उन्हे वास्तविकता का बोध हुआ तथा वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस्लाम की लौकिक सत्ता की पुन स्थापना नही हो सकती। अत निराश एव हताश होकर उन्होने अपना प्रख्यात 'फतवा'[१८] प्रसारित किया जिसमे उद्घोषणा की कि भारत 'दारुल इस्लाम' (इस्लाम की भूमि) नही रहा तथा अब से इसे 'दारुल हर्ब' (युद्ध क्षेत्र अथवा शत्रु क्षेत्र) समझना चाहिए।[१९]

तौफीक अहमद निज़ामी के मतानुसार "यह फतवा १९वी शताब्दी के मुस्लिम राजनैनिक चिन्तन के इतिहास मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है। भारत मे ब्रिटिश शासन की स्थापना के प्रति यह मुसलमानो की प्रथम निश्चित भावाभिव्यक्ति थी। शाह अब्दुल अज़ीज १७६३ मे अपने पिता की मृत्यु के समय से ही दिल्ली मे बौद्धिक जीवन सम्बन्धी विषयों का मार्ग-निर्देशन कर रहे थे। १७६३–१८०३ की अवधि में उन्होने दिल्ली को जाटो, सिखो तथा मराठो द्वारा अनेक विप्लवो एव लूट-पाटो से प्रभावित होते देखा था ''' ''''' १७७१ मे उन्होने मराठों को दिल्ली नगर पर

---

१८ देखिए, परिशिष्ट 'द'।

१९ मुस्लिम वैधानिक विधि के अनुसार विश्व 'दारुल इस्लाम' (इस्लाम की भूमि) तथा 'दारुल हर्ब' (युद्ध क्षेत्र) में विभाजित है। 'दारुल इस्लाम' वह देश है जहाँ इस्लाम धर्म-विधि सुस्थापित होती है, दूसरे शब्दों में, जहाँ देश इस्लाम धर्म विधि द्वारा शासित होता है। वहाँ के निवासी मुसलमान होते हैं. गैर मसलमान वहाँ रह सकते हैं, परन्तु कतिपय प्रतिबन्धो एव अयोग्यताओ के साथ। वे 'ज़िम्मी' कहलाते हैं जिनकी सुरक्षा का जिम्मा (दायित्व) राज्य द्वारा व्यक्ति-कर अथवा जज़िया के बदले लिया जाता है। उन्हे धार्मिक, राजनैतिक सामाजिक तथा आर्थिक प्रतिबन्धा सहित द्वितीय श्रेणी का नागरिक समझा जाता है। 'दारुल हर्ब' काफ़िरो का देश होता है अत मुसलमानो की दृष्टि में युद्ध क्षेत्र समझा जाता है जब तक कि विजय द्वारा उसे 'दारुल इस्लाम' में परिवर्तित न कर लिया जाय। इस प्रकार 'दारुल हर्ब' को दारुल इस्लाम में परिवर्तित करना जिहाद (धर्म-युद्ध) का उद्देश्य है तथा सिद्धान्तत मुस्लिम राज्य गैर मुस्लिम विश्व के साथ निरन्तर युद्ध की स्थिति में होता है। जब एक मुस्लिम देश दारुल हर्ब बन ही जाता है तो सभी मुसलमानो का कर्त्तव्य है कि वह उस देश को त्याग दें। इस परदेशगमन में यदि एक पत्नी अपने पति के साथ जाना अस्वीकार करे तो स्वत ही तलाक शुदा बन जाती है (डी० बी० मैक्डॉनल्ड, "दारुल हर्ब", 'द ऐन्साइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम', भाग-१, पृ० ९१७-१८)।

ग्रधिकार करते तथा विसाजी को दिल्ली तथा राजधानी के चतुर्दिक जिलो का राजस्व सग्राहक नियुक्त होते देखा था। १७८४ मे महादजी सिन्धिया दिल्ली के कार्यवाहक शासक थे—परन्तु शाह अब्दुल अजीज ने उस कारण भारत को दारुल हर्ब घोषित नही किया।"[२०] परन्तु यह विचार भ्रान्तिमूलक एव त्रुटिपूर्ण है। वस्तुत शाह अब्दुल अजीज ने उस समय तक फतवा प्रसारित नहीं किया जब तक उन्हें यह आशा बनी रही कि मुगल साम्राज्य की पुन स्थापना हो जाएगी। शाह अब्दुल अजीज यह नही समझते थे कि मुस्लिम सर्वोपरिता का अन्त हो चुका है। सम्भवत मराठो के उत्थान को वह अल्पकालिक अवस्था समझते थे तथा विश्वास करते थे कि कोई अहमदशाह अब्दाली पुन प्रकट होगा जो मराठो को दिल्ली से भगा देगा। अपने फतवा मे उन्होने हिन्दू अथवा गैर मुसलमान के स्थान पर 'जिम्मी' सज्ञा का प्रयोग किया है[२१] जो सकेत करता है कि वह स्थिति को भारत मे मुस्लिम शासन के अन्तिम ह्रास के रूप मे ग्रहण नही करते थे। वह केवल इसके पुनरुज्जीवन की आवश्यकता अनुभव करते थे। दूसरी ओर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की प्रभुता मे उन्हे निश्चयात्मक रूप से मुस्लिम समाज के पूर्ण विघटन तथा मुस्लिम सत्ता के निर्णीत पतन के लक्षण दृष्टिगोचर हुए। अत फतवा तथा उसके द्वारा प्रतिरोध के आह्वान की आवश्यकता अनुभव की गयी।[२२]

'फतवा' की उद्घोषणा तथा भारत को दारुल हर्ब घोषित करने से एक नितान्त नवीन एव गम्भीर परिस्थिति उत्पन्न हो गयी, क्योकि अब भारत के मुसलमानों के लिए आवश्यक हो गया कि वे या तो जिहाद छेड़ें अन्यथा किसी स्वतन्त्र मुस्लिम देश मे जा बसें। सक्षेप मे गैर, मुसलमान अपहरणकर्ताओ के साथ सौहार्द्र अथवा मैत्री की कोई गुजाइश न थी। वस्तुत ऐसा करना 'हराम' था। इस प्रकार यह 'फतवा' धर्मशील मुसलमानो के लिए मुस्लिम सत्ता का मूलोच्छेदन करने वालो के विरुद्ध, किसी शक्तिशाली सेनानायक के अभाव म लोकप्रिय नेतृत्व के अन्तर्गत स्वय को सचालित करने का आह्वान था।

शाह अब्दुल अजीज का अगला कार्य एक इमाम अथवा नेता का चयन करना था जो धर्मयुद्ध का सचालन कर सके तथा जो उनसे 'बेअत' ले सके अथवा उनके प्रति निष्ठा एव सेवकत्व की शपथ ले सके।[२३] उन्होंने अपने शिष्य सय्यद अहमद बरेलवी

२० 'मुस्लिम पॉलिटिकल थॉट एण्ड ऐक्टिविटि इन इण्डिया ड्यूरिंग द फर्स्ट हाफ ऑव द नाइटींथ सेन्चुरि' (अलीगढ़ १९६६), पृ० २५

२१ देखिए परिशिष्ट 'द'

२२ जीयाउल हसन फ़ारूकी 'द देवबन्द स्कूल एण्ड द डिमाण्ड फॉर पाकिस्तान' (बम्बई १९६३), पृ० ४-५

२३. "जब उत्तरदायी मुसलमानो की सर्व सम्मति से इमाम का चयन हो जाय तो उसके प्रति निष्ठा की शपथ में विलम्ब की अनुज्ञा नहीं है" (शाह अब्दुल अज़ीज़, 'फ़तावा ए-अज़ीज़ी,' भाग-२, पृ० ७७)

का चयन इमाम एव अमीरुल मुस्लमीन के रूप मे किया तथा मुहम्मद इस्माइल[२४] को उनके नायब एव सैन्य अभियानो के प्रमुख आयोजक के रूप मे किया। मुहम्मद इस्माइल का विचार था कि जो व्यक्ति इमामत को अस्वीकार करेंगे अथवा स्वीकार कर लेने के पश्चात् उससे मुँह मोड लेंगे, वे इस्लाम के प्रति गद्दार समझे जाएँगे तथा एक काफिर की भाँति दण्डित किए जाने के भागी होंगे।[२५] शाह अब्दुल अजीज के शिष्यों एव अनुयायियो ने विशुद्धिवादी आन्दोलनो का सूत्रपात किया जिन्हें 'कुरान की ओर लौटो' आन्दोलनो की सज्ञा दी जा सकती है क्योकि उनका मूल उद्देश्य कुरान को विश्वास के आधार एव आचार के मार्ग दर्शक के रूप मे यथोचित स्थान दिलाना था।[२६]

(स) सय्यद अहमद बरेलवी (१७८६–१८३१):

भारत म तथाकथित 'वहाबी आन्दोलन'[२७] के सस्थापक सय्यद अहमद एक साधारण कुलोत्पन्न व्यक्ति थे। उनका जन्म १७८६ मे हुआ था। १८०० में अपने पिता के निधनोपरान्त उन्होंने स्वय को आर्थिक कठिनाइयों से ग्रस्त पाया तथा दयनीय जीवन व्यतीत किया। बहरहाल वह दिल्ली के शाह अब्दुल अजीज के पास पहुँचे तथा चिश्तिया, कादिरिया एव नक्शबन्दिया सिलसिलो मे दीक्षित हुए। कालान्तर मे शाह अब्दुल अजीज ने उन्हे खलीफा नियुक्त किया।

सय्यद अहमद ने सर्वप्रथम अपने सिद्धान्तो का प्रचार उत्तरी भारत के रुहेलो के मध्य किया, जहाँ शीघ्र ही उन्हे "अत्युत्साही एव उपद्रवी अनुयायी प्राप्त हुए।"[२८] अपनी प्राथमिक सफलता से प्रोत्साहित हो कर वे आगे बढे। १८२० मे जब उन्होंने पूर्व की ओर प्रयाण किया तो उनके अग्रसरण ने एक विजयोल्लास-सम्बन्धी शोभायात्रा का रूप धारण कर लिया। जहाँ कही भी वे गए बहुसख्यक लोग उनके दल में सम्मिलित होने के लिए प्रस्तुत हो गए। प्रतिष्ठित एव सुशिक्षित लोग अपने जूते

---

२४ यह मौलाना अब्दुल गनी के पुत्र एवं शाह अब्दुल अज़ीज के भतीज थे।

२५ मिर्ज़ा हैरत देहलवी 'हयात-ए तय्यब' (दिल्ली) पृ० २७८।

२६ अब्दुल्ला यूसुफ़ अली, पृ० ३९४।

२७ के० एम० अशरफ के मतानुसार, 'वहाबी सज्ञा निस्सन्देह अनुपयुक्त है क्योकि तथाकथित भारतीय वहाबियो के राजनैतिक उद्देश्य तथा सामान्यत उनके सामाजिक दृष्टिकोण नज्द के अब्दुल वहाब (मृ० १७८७) के सिद्धान्तो से नही अपितु दिल्ली के शाह वलीउल्लाह (मृ० १७६२) की पहले की शिक्षाओं से प्राप्त किये गए थे अत कतिपय मुसलमान धार्मिक पुनरुत्थानवादियों यथा उबैदुल्ला सिन्धी (१८६१–१९४८), गुलाम सरवर एवं अजमल खाँ ने स्वयं को 'वलीउल्लाही' अथवा शाह वलीउल्लाह के अनुयायी कहना उचित माना है' ('मुस्लिम रिवाइवलिस्टस एण्ड द रिवोल्ट ऑव १८५७,' 'रिबेलियन १८५७', सम्पादक, पी० सी० जोशी दिल्ली, १९५७, पृ० ९४)। बहरहाल उन्होने इसके लौकिक एव एतिहासिक सयोग के कारण सज्ञा को स्थिर रखा है।

२८. हंटर, पृ० १२।

उतार कर नगे पांव साधारण सेवकों की भांति उनकी पालकी के साथ दौड़ते थे।[२९] पटना में उन्होंने विराम लिया जहाँ नगर के एक गणमान्य मुसलमान विलायत अली तथा उनके परिवारजनों द्वारा उनका भव्य स्वागत-सत्कार किया गया। पटना मे उनके अनुयायियों की सख्या इतनी बढ़ गई कि एक नियमित शासन पद्धति नियोजित करनी पड़ी। मार्ग मे पड़ने वाले सभी बड़े नगरों में जाकर व्यापारिक लाभों पर कर एकत्र करने के लिए उन्होंने अभिकर्त्ताओं की नियुक्ति की। इसके अतिरिक्त उन्होंने चार खलीफाओं[३०] एव एक उच्च धर्माचार्य की नियुक्ति एक औपचारिक विलेख द्वारा की जैसाकि मुसलमान सम्राट प्रान्तों के गवर्नरों की नियुक्ति करने मे प्रयोग करते थे। इस प्रकार पटना मे एक स्थायी केन्द्र की रचना कर वह गगा के मार्ग का अनुसरण करते हुए तथा मार्ग मे पड़ने वाले सभी महत्त्वपूर्ण नगरों मे धर्म परिवर्तन कार्य एव अभिकर्त्ताओं की नियुक्ति करते हुए कलकत्ता की ओर अग्रसर हुए। कलकत्ता मे जनसमुदाय इतनी विशाल सख्या में उमड़ पड़ा कि वे पृथक पृथक रूप से दीक्षित करने के नियम का पालन न कर सके। अत अपनी पगड़ी को खोलते हुए उन्होंने घोषित किया कि वे सभी जो उसकी विस्तृत लम्बाई के किसी भाग को छू सकेंगे, उनके शिष्य बन जाएँगे।[३१]

अपनी इस अपूर्व सफलता से गर्वित होकर अब उन्होंने मक्का की तीर्थयात्रा करना निश्चय किया। १८२२ मे अपनी अरब की यात्रा के मध्य वह वहाबी सुधारकों के प्रभाव मे आए।[३२] सय्यद अहमद अरब से वहाबीवाद के सस्थापक अब्दुल वहाब के महान प्रशसक बनकर लौटे।[३३] अब्दुल वहाब से प्रेरणा ग्रहण करते हुए, जिन्होंने अरब मे एक भव्य साम्राज्य की स्थापना की थी, सय्यद अहमद अब भारत मे एक साम्राज्य निर्मित करने की अभिलाषा रखने लगे। अपने शिक्षक शाह अब्दुल अजीज की भांति सय्यद अहमद ने भी भारत को 'दारुल हर्ब' घोषित कर दिया। एक बड़ी संख्या में 'पैम्फलेट' लिखे गए जिनमे मुसलमानों से भारत विजय हेतु सगठित होकर काफिरों के विरुद्ध जिहाद करने का अनुरोध किया गया। इस कार्य को निष्पन्न करने हेतु सय्यद अहमद ने अपने अनुयायियों के लिए शस्त्र प्रयोग प्रशिक्षण की व्यवस्था की तथा सैन्य प्रदर्शन सचालित किए।

---

२९ वही, पृ० ३१।

३० प्रमुख धर्माचार्य के रूप में शाह मुहम्मद हुसैन के अतिरिक्त वह थे—मौलवी विलायत अली, उनके भ्राता मौलवी इनायत अली, मौलवी मरहूम अली तथा मौलवी फ़रहत हुसैन।

३१. हंटर, पृ० ११।

३२. इस सामान्य विश्वास के विपरीत अब कतिपय विद्वानों द्वारा यह विचार व्यक्त किया जाता है कि सय्यद अहमद ने अपने सिद्धान्तों को स्वतन्त्र रूप से विकसित किया तथा उनके आन्दोलन का अरब के वहाबियों से कोई सम्बन्ध न था (प्रोसीडिंग्स, हिस्ट्री कांग्रेस-XII, १९५०)।

३३. देखिए, परिशिष्ट 'घ'।

१८२४ मे वे पटना मौलवी वर्ग के साथ सीमा प्रान्त एव अफगानिस्तान गए तथा पजाब के सिख शासन के विरुद्ध जिहाद का प्रचार किया। उनकी पश्चिमोत्तर की यात्रा अपने हिजरत के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए की गई थी। किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि वे अपनी ध्येय प्राप्ति के लिए युद्धप्रिय पठानो का सहयोग प्राप्त करना चाहते थे। 'तरगीबुल जिहाद' (धर्म-युद्ध हेतु प्रोत्तेजन) नामक उद्घोषणा मे २१ दिसम्बर, १८२६ का दिवस युद्ध प्रारम्भ करने हेतु निश्चित किया गया जिसमे समस्त मुसलमानो को सम्मिलित होने का आह्वान किया गया।[३४] पठान जातियो ने उनके आह्वान के प्रति लालसापूर्ण प्रतिक्रिया प्रकट की। "यह लोग जो मुसलमानो मे सर्वाधिक विक्षुब्ध एव अन्धविश्वासी थे, धर्म की अनुमति के अन्तर्गत अपने हिन्दू पडोसियों का परिलुण्ठन करने मात्र का अवसर पाकर अति आनन्दित हुए।"[३५] रण-अभियान सुव्यवस्थित था तथा कतिपय युद्ध सफल भी रहे। भारत मे वहावी आन्दोलन का यह प्रारम्भ था।

वहरहाल, सय्यद अहमद को सिखों के विरुद्ध अधिक सफलता न मिली यद्यपि १८३० के अन्तिम चरण में कुछ समय के लिए वे पेशावर पर अधिकार स्थापित करने में समर्थ हुए। पेशावर मे उन्होने स्वय को खलीफा घोषित किया तथा अपनी नामांकित मुद्राएँ भी प्रसारित की।[३६] परन्तु शीघ्र ही उनके हिन्दुस्तानी तथा पठान अनुयायियों के मध्य मतभेद उत्पन्न हो गया। पठानों ने हिन्दुस्तानियो के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तथा एक बडी सख्या मे उनको मौत के घाट उतार दिया। पेशावर पर सिखो का पुन अधिकार हो गया तथा सय्यद अहमद के साहसी प्रगति-क्रम का सहसा अन्त हो गया जब अगस्त १८३१ मे बालाकोट मे वह सिख सैना के विरुद्ध युद्ध मे 'शहीद' हो गए।[३७]

यद्यपि मार्ग-दर्शक की मृत्यु के कारण आन्दोलन को आघात पहुँचा, परन्तु वहाबियो ने उत्साहपूर्वक अभियान को पूर्ववत् बनाए रखा। उन्होने अपना ध्यान जिहाद के सिद्धान्त पर केन्द्रित कर दिया तथा धार्मिक विद्रोह की आवश्यकता एव उसके प्रति कर्त्तव्य को समर्पित साहित्य का विकास किया। यह साहित्य ब्रिटिश शक्ति के पतन की भविष्यवाणियों से भी परिपूर्ण था। यह प्रज्वाल्य सामग्री वहाबियों के हाथो मे एक प्रबल शस्त्र सिद्ध हुई। शनै शनै एव नीरवता से वहाबी सिद्धान्तों मे से आध्यात्मिक तत्त्व परित्यक्त कर दिया गया तथा धर्म-युद्ध की महत्ता पर बल देकर मानव हृदय के निकृष्टतम भाव सवेगो का आह्वान किया गया।[३८] वहाबियों ने अपने

---

३४ डी० एस० मार्गोलियॉथ "वहाबिज्म इन इण्डिया', 'ऐ साइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम' भाग-४ पृ० १०८६।

३५ हटर, पृ० १४।

३६ वही, पृ० १७ मार्गोलियॉथ पृ० १०८६।

३७ हटर, पृ० ९०।

३८ वही, पृ० ७०।

बान्धवो के लिए जिहाद एवं हिजरत के मध्य विकल्प निश्चित किया था। चूंकि हिजरत एक सैद्धान्तिक नियम था अतः शस्त्र उठाने पर अत्यधिक बल दिया गया तथा इसी विषय पर अनवरत प्रचार किया गया।[३९]

(द) बंगाल के फराइजी पुनरुत्थानवादी :

(१) हाजी शरीअतुल्लाह (१७६४–१८३७)—फराइजी सम्प्रदाय बहुत कुछ वहाबी के समान ही था। इसकी स्थापना पूर्व बंगाल में हाजी शरीअतुल्लाह द्वारा १८०४ में हुई। उनका जन्म १७६४ में बहादुरपुर ग्राम के एक अविख्यात परिवार में हुआ था।[४०] १८ वर्ष की आयु में वे मक्का की तीर्थयात्रा पर गए तथा वहाँ शेख ताहिरस्सबुनुलमक्की के शिष्य बन गए जो शाफई सम्प्रदाय के अध्यक्ष थे। वहाँ पर २० वर्ष के दीर्घकालीन निवासोपरान्त वे १८०२ में भारत लौट आए। मक्का में उनका दीर्घकालीन निवास सम्भवतः उन्हें वहाबियो के प्रभाव में ले आया। अनेक वर्षों तक शरीअतुल्लाह अपने नवनिर्मित सिद्धान्तों का प्रवर्तन अपने देशज जिलो के ग्रामो में करते रहे। यद्यपि उन्हें अधिक विरोध एवं अपशब्दो का सामना करना पडा तथापि उन्होंने एक श्रद्धावान समर्थको का समूह आकृष्ट कर लिया तथा शनैः शनैः एक महात्मा के रूप में ख्याति अर्जित की।

शरीअतुल्लाह ने धार्मिक सुधारों का सूत्रपात भी किया जिसमें लोगो से गैर इस्लामी प्रथाओ का परित्याग करने तथा पैगम्बर द्वारा प्रतिपादित इस्लाम की मौलिक शिक्षाओ का अनुसरण करने के लिए कहा गया। इसके अतिरिक्त उन्होंने भी ब्रिटिश आधीन देश को 'दारुन हर्ब' घोषित कर दिया जहाँ जुमे की नमाज पढना तथा महान ईदों को मनाना अवैध था। उन्होंने अपने प्रत्येक शिष्य से पूर्व पापो के लिए तौबा अथवा पश्चाताप करने तथा भविष्य में अधिक संयत एवं पवित्र जीवन व्यतीत करने का सत्यनिष्ठ वचन देने की अपेक्षा की। उनके द्वारा तौबा पर बल देने के कारण उनके अनुयायी स्वयं को तौबर मुसलमान कहते थे। फराइज अदा करने अथवा ईश्वर तथा पैगम्बर द्वारा आरोपित दायित्वों के पालन पर बल देने के कारण वह फराइजी भी कहलाते थे।

हाजी शरीअतुल्लाह ने हिन्दू बहुदेववाद के साथ दीर्घकालीन सम्पर्क के परिणामस्वरूप विकसित अन्धविश्वासों की भर्त्सना की। उन्होंने पुनरुत्थापित धर्म के नाम पर ग्रामीणजनों को जमींदारों के आग्रहणो के विरुद्ध संगठित किया। इस प्रकार 'ईमान' के पवित्रतम आदर्शों की ओर लक्षित एवं धार्मिक आन्दोलन को लौकिक उद्देश्यो में लगा दिया गया।[४१] एक सामान्य विचार यह भी था कि फराइजियों का

---

३९ देखिए, परिशिष्ट 'र'।

४० एम० हिदायत हुसैन, "फ़राइज़ी सेक्ट", 'ऐनसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम', भाग-२ पृ० ५७।

४१ एम० बी० चौधरी, 'सिविल डिस्टर्बेंसेज ड्यूरिंग द ब्रिटिश रूल इन इण्डिया, १७६५–१८५७ (कलकत्ता,१९५५), पृ० ११३।

वास्तविक उद्देश्य विदेशी शासकों का निष्कासन तथा मुस्लिम सत्ता की पुनर्स्थापना था।[४२]

(२) मुहम्मद मुहसिन (१८१६-१८६०)—शरीअतुल्लाह की मृत्यु के पश्चात् फराइज़ी नेतृत्व उनके पुत्र मुहम्मद मुहसिन के हाथों में चला गया जो दूधू मियाँ के नाम से अधिक विख्यात थे। दूधू मियाँ विचार एवं व्यवहार में नितान्त भिन्न व्यक्ति थे। अपने जीवन के प्रारम्भिक चरण में उन्होंने मक्का का भ्रमण किया तथा वहाँ से लौटकर अपने पिता के सिद्धान्तों में अपने सिद्धान्तों का समावेश कर उनका प्रचार करने लगे। उन्होंने पूर्वी बंगाल को क्षेत्रों (हलकों) में विभक्त कर दिया तथा प्रत्येक में एक खलीफा नियुक्त किया, जिसे आन्दोलन के ध्येय एवं उद्देश्यों की प्रगति के लिए दान एकत्र करने का अधिकार प्राप्त था। उन्होंने एक गुप्तचर प्रणाली का भी गठन किया, जिसके माध्यम से वे अपने अभिकर्त्ताओं के अधिकार क्षेत्र की प्रत्येक घटना से अवगत रहते थे। सम्प्रदाय के सदस्यों के हितों की रक्षा किसी भी प्रकार के माध्यम से की जाती थी। यहाँ तक कि उन्होंने 'समस्त मुसलमान कृषकों को अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित होने के लिए बाध्य करने का प्रयास किया तथा इन्कार करने पर उनको पिटवाया व दीनदारों के समाज से बहिष्कृत किया तथा उनकी फसलें नष्ट करादीं।"[४३]

दूधू मियाँ तथा उनके अनुयायी, हिन्दू, मुसलमान एवं यूरोपीय ज़मीदारों के लिए आतंक का विषय बन गए।[४४] उन्होंने एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त की घोषणा की तथा प्रचार किया कि चूंकि समस्त भूमि ईश्वर की थी अतः किसी को उत्तराधिकार के रूप में उस पर स्वामित्व का एकमात्र अधिकार नहीं था और न ही उस पर कर वसूल करने का। कृषक वर्ग को प्रेरित किया गया कि वह ज़मीदारों अथवा सरकार को कर देने के दायित्व को नकारते हुए स्वयं भूमि पर अधिकार करलें। वे वाद विवादों का निर्णय करते थे, अविलम्बित न्याय वितरण करते थे तथा जो कोई अपने विवादों को उनकी पूर्वानुमति के बिना ब्रिटिश न्यायालयों में ले जाने का साहस करता उसे दण्डित करते थे।[४५] उन्होंने आग्रह किया कि उन व्यक्तियों को दण्डित करना पाप नहीं था, जो उनके सिद्धान्तों को अपनाने से इन्कार करते थे अथवा जो समाज एवं उसके मान्य नेताओं के निर्णयों के विरुद्ध सरकारी न्यायालयों में पुनरावेदन करते थे।[४६] इस प्रकार सम्प्रदाय द्वारा अपनाई गईं क्रान्तिकारी गतिविधियों

---

४२ बंगाल सरकार को प्रेषित पुलिस अधीक्षक डेम्पीयर की रिपोर्ट दिनांकित १३ मई, १८४३, 'सिलेक्शन्स फ्रॉम द रेकॉर्ड्स ऑव द गवनमेण्ट ऑव बेंगाल (पेपर नं० ४२), पृ० १४१।

४३ हिदायत हुसैन, पृ० ५८।

४४ वही।

४५ वही।

४६ वही।

ने देश के कानून की अवहेलना की तथा दूधू मियाँ को अधिकारियों के खुले विरोध में ला खड़ा किया। दूधू मियाँ के कार्य-कलापों ने जमींदारों एवं नील-उत्पादकों को संगठित कर दिया, जिन्होंने उन पर अनेक दावे किए। १८३८ में उन पर लूटमार का आरोप लगाया गया, १८४१ में उन्हें हत्या के आरोप में सेशन के सुपुर्द किया गया, १८४६ में उन पर अपहरण एवं लूटमार का अभियोग चलाया गया। परन्तु प्रत्येक अवसर पर उन्हें विमुक्त कर दिया गया क्योंकि उनके विरुद्ध साक्ष्य देने के लिए साक्षी तैयार करना असम्भव हो गया। ५ दिसम्बर १८४६ को उन्होंने पानछर के नील के कारखाने पर आक्रमण करके उसे जला डाला जिसके कारण उन पर जुलाई १८४७ में अभियोग चलाया गया तथा उन्हें दोषी ठहराया गया, परन्तु अपील में उन्हें विमुक्त कर दिया गया।[४७] बहरहाल, दूधू मियाँ को जुलाई १८५७ में पुनः बन्दी बना लिया गया तथा अलीपुर बन्दीगृह में राज्य बन्दी के रूप में रखा गया। १८६० में बहादुरपुर में उनका देहावसान हो गया।

वहाबी तथा फराइज़ी अंग्रेजों को भारत से निकालने में अथवा इस्लाम को अपने प्रबुद्ध आदर्शों के अनुसार पुनः स्थापित करने में असफल रहे। यद्यपि उनकी विचारधारा के दूरगामी प्रतिप्रभाव हुए, परन्तु उसका तात्कालिक प्रभाव मुख्यतः एक अल्प-संख्या में मुस्लिम जनसमुदाय के शिक्षित तथा धनी लोगों तक सीमित रहा। मुख्यतः यही दोनों वर्ग परिवर्तित परिस्थितियों से नितान्त असन्तुष्ट थे—शिक्षित वर्ग जनसाधारण पर से, जो हिन्दू प्रथाओं को अपनाने में अधिकतम अभिरुचि प्रदर्शित कर रहा था, अपना नियन्त्रण समाप्त हो जाने के कारण, तथा धनी वर्ग, अपनी शक्ति एवं विशेषाधिकारों के विलुप्त हो जाने के कारण, जिनका उपभोग वे मुस्लिम-शासन के अन्तर्गत करते आए थे। कतिपय विपथगामी उदाहरणों को छोड़कर, जनसमुदाय वस्तुतः उनके धर्मयुद्ध के आह्वान से अप्रभावित ही रहा।

(य) हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध .

१९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्धकालीन समाज का पर्यवेक्षण प्रदर्शित करता है कि पुनरुत्थानवादियों ने दो जातियों के बीच मतभेद की खाई उत्पन्न करने का प्रयास किया। परन्तु भारतीय वातावरण अचेतनरूप से ही मुसलमानों को प्रभावित करता गया, इस कारण और अधिक, क्योंकि मुस्लिम जनसमुदाय का एक बड़ा वर्ग हिन्दू धर्मान्तरित लोगों का ही था। ये नवीन धर्मान्तरित लोग अपनी संस्कार सम्बन्धी जीवन पद्धति पर स्थिर रहने के इच्छुक थे। यदि हिन्दू लोग अपने देवी–देवताओं की मूर्तियों की पूजा हेतु मन्दिरों में जाते थे तो विशेषतः नवीन मुसलमान भी सन्तों के मज़ारों पर जाते थे, तथा स्वतन्त्र रूप से हिन्दू कर्मकाण्डों का अनुसरण करते थे वे वहाँ दीपक जलाते थे, चादर एवं पत्ते समर्पित करते थे, प्रसाद (तबर्रुक) बाँटते थे, पुष्प एवं मालाएँ चढ़ाते थे, अगरबत्तियाँ जलाते तथा सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग करते थे और

४७ वही।

मूर्ति-पूजको जैसी श्रद्धा के साथ मजारो के समक्ष नत मस्तक होते थे। यहाँ तक कि वे मजारो की परिक्रमा भी करते थे। एक सच्ची सूफी भावना के साथ सगीत प्राय: सदैव इस पूजा का आवश्यक अग होता था। दरगाहो एव मजारो पर कव्वालियों तथा गायन-वादन का प्रचलन एक नियमित विशिष्टता बन गई थी। ऐसा अवसर कभी-कभी नियमित मेले का रूप भी धारण कर लेता था जैसाकि फूल वालों की सैर के विषय मे था।[४८] हिन्दू भी मुक्त हृदय से मुसलमानों का साथ देते थे, यहाँ तक कि कभी-कभी तो जाति एव सम्प्रदाय का भेद भी समाप्त हो जाता था। यद्यपि कट्टर उलमाओ के लिए यह स्थिति आक्रोश का कारण सिद्ध हुई, परन्तु जनसाधारण द्वारा उनकी अधिक चिन्ता न की गई।

वस्तुत हिन्दुओ की अनेक प्रथाएँ मुस्लिम जनसाधारण ने अगीकार कर ली थी।[४९] दीपावली पर्व के अवसर पर मुसलमान भी अपने यहाँ दीपक जलाते थे। वे द्यूत-क्रीडा मे भाग लेते थे। उनकी महिलाएं अपने बच्चो को खिलौने एव मिठाइयाँ दिलाती थी। अन्य रीतियाँ भी उनके द्वारा सम्पन्न की जाती थी।[५०] इस पर्व की शुभ प्रकृति उनकी अन्धविश्वासी प्रवृत्ति को आकर्षित करती थी। वे जन्माष्टमी के उत्सव मे भी सम्मिलित होते थे तथा कस एव कन्हैया का कृत्रिम युद्ध रुचिपूर्वक देखते थे।[५१] हर्षोल्लास का पर्व होली एक ऐसा अवसर था जो मुसलमानो की सर्वाधिक सख्या को आकृष्ट करता था।[५२] वे मुक्त हृदय से रगरेलियो मे भाग लेते थे तथा रगीले पर्व मे इस प्रकार घुल मिल कर व्यवहार करते थे मानो वे भारतीय समाज के अभिन्न अग हो। टेसू राय की प्रथा भी उल्लेखनीय है जिसका मुसलमान बालक दिल खोलकर आनन्द लूटते थे।[५३]

नजीर अकबराबादी जो जनसाधारण के प्रतिनिधि कवि थे, आगरा के तैराकी मेले *का वर्णन करते हैं जिसमे हिन्दू तथा मुसलमान समानरूप से भाग लेते थे।*[५४] उन्होने हिन्दू त्यौहारो का सजीव वर्णन उतनी ही श्रद्धा एव उत्साह से किया है जितना कि मुस्लिम त्यौहारो का। वे बार-बार दृढता से उल्लेख करते हैं कि दोनो ही सम्प्रदाय के लोग दिल खोल कर एक दूसरे के त्यौहारो म भाग लेते थे मानो उनका एक समरूप समाज हो। वस्तुत हिन्दू तथा मुसलमान के प्रति कवि की सवेदना मे कोई अन्तर न था। उन्होने अपनी कविता 'बालपन बाँसुरी बजैया' मे भगवान कृष्ण

---

४८ पीछे देखिए, अध्याय-६।

४९. मुसलमानो द्वारा तावीज का प्रयोग इस संदर्भ मे एक उदाहरण है।

५० मिर्ज़ा क़तील, पृ० ८४।

५१ वही, पृ० ८७।

५२ वही पृ० ६२ "अफगानों और बाज मुतासिब मुसलमानो के अलावा सभी मुसलमान दिल खोल कर होली में हिंदुओ के साथ शरीक होते हैं।"

५३ पीछे देखिए, अध्याय-५।

५४ 'कुल्लियात-ए-नज़ीर', पृ० ४४८-५१, इसके अतिरिक्त पीछे देखिए, अध्याय-६।

के बालपन का वर्णन बड़े ही भक्ति भाव से किया है।[५५] जबकि अन्य सब तो अपनी 'बसन्त' ऋतु का आनन्द लेते थे, नज़ीर बड़े ही तीव्र उत्साह से अपना 'बसन्ता' मनाते थे

सब की तो बसन्ते हैं पै यारों का बसन्ता।[५६]

जनसाधारण के एक सच्चे प्रतिनिधि के रूप मे नज़ीर समाज का चित्रण उसके किसी धार्मिक अन्तर्विभाजन की अपेक्षा किए बिना करते हैं। साम्प्रदायिक झगड़े जो १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण मे सामान्य हो गए थे, वह उसके पूर्वार्द्ध मे अज्ञात थे।

सद्भाव एव मैत्री की भावना केवल मुस्लिम जनसाधारण तक ही सीमित न थी वरन् समाज का उच्च वर्ग भी मधुर सामाजिक सम्बन्धो की स्थापना मे विश्वास रखता था।[५७] वस्तुत उस युग मे आभिजात्य वर्गीय लोगों के मध्य सामाजिक सम्पर्कों मे किसी एक के हिन्दू होने अथवा दूसरे के मुसलमान होने का कोई भेदभाव न था। पृथक्तावादी प्रवृत्तियाँ अभी पनपने न पाई थी यद्यपि धार्मिक पुनरुत्थानवादियो ने उनका बीजारोपण करना प्रारम्भ कर दिया था।

---

५५ कुल्लियात-ए नज़ीर, पृ० ७४३-४६।

५६ वही, पृ० ४२३।

५७ उदाहरणार्थं देखिए मिर्ज़ा गालिब द्वारा अपने हिन्दू मित्रो को लिखित पत्र 'उर्दू ए-मुअल्ला', पृ० ३१४-१५, ३७० इत्यादि।

१०

उपसंहार

१६वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध कालीन उत्तरी भारत ने उन अनुप्रभावो को देखा तथा अनुभव किया जो राज्य के सरकारी तथा सैन्य विभागो मे मुस्लिम अभिजात्य-वर्ग के अपनी प्रभावशाली एव प्राय. एकाधिकारिणी स्थिति से विस्थापन के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए थे। सरक्षण के क्षीण होने के परिणामस्वरूप दस्तकार वर्ग, जिससे मुस्लिम समाज व्यापकरूप से सरचित था, विनष्ट हो गया। कवि एव कलाकार भी समान नियति के शिकार थे। यह परिवर्तन उलमाओ की सघटित हुई शक्तियो एव विशेषाधिकारो पर, निश्चित प्रहार था, जो घोर सकटो मे परिणत कर दिए गये थे। राजनैतिक उथल-पुथल ने इन लोगो के सामाजिक जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया।

मुसलमान लोग सामान्यत निर्धन थे। परिवर्तित परिस्थितियो के परिणाम-स्वरूप अब उनमे से अधिकाश बेरोजगार हो गए थे। अब न तो मुस्लिम सैनिको को लड़ने के लिए युद्ध ही थे, और न कारीगरो को काम करने के लिए कारखाने। आर्थिक परिणामो के प्रति किकर्तव्यविमूढ़ अभिजात्यवर्ग अपनी प्रतिष्ठित स्थित का बाह्य रूप बनाए रखने के लिए मनोरजनो एव मनोविनोद मे लिप्त रहता था। मुस्लिम जनसाधारण भी उनका खूब आनन्द लूटते थे, जिससे स्थिति पूर्णत पतन की ओर अग्रसर थी। हम आनन्द मिश्रित आश्चर्य के साथ अनुशीलन करते है कि असख्य प्रकार के मनोरजन विकसित कर लिए गए थे, जिनमे अनेक बहु-श्रम-साध्य एव समय उपभोगी थे। यद्यपि लोग सभी युगो एव सभी देशो मे मनोरजन का आश्रय लेते आये है, परन्तु हम अपने पर्यवेक्षण काल मे मुसलमानो को विशेषरूप से विविध प्रकार के समय-शोषक खेलो मे तल्लीन पाते है। यह एक शोचनीय ऐतिहासिक तथ्य है कि मुस्लिम अभिजात्यवर्ग पर न तो कोई दायित्व था, जिसका वे पालन करते और न ही कोई उनकी अभिरुचि रह गई थी जिसकी परिरक्षा मे वे समय व्यतीत करते। परिणामतः उनके पास अतिशय विश्रान्ति थी जिसे नष्ट कर दिया जाता था।

नवाबो तथा अमीरो द्वारा पशु-युद्ध आयोजित किए जाते थे। शेर, चीते तथा तेंदुए जैसे भयानक पशु भी युद्ध-स्थल म लाए जाते थे। हस्ति-युद्धो का भी आयोजन होता था। इस खेल के प्रेमी लोग व्यक्तिगत सुखानुभूति के लिए बेचारे महावत के

प्राणों की भी चिन्ता न करते थे। यह प्रदर्शित करता है कि १६वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध म भी इन लोगों की अभिरुचियाँ वैसी ही बनी रही, जैसीकि १६वी शताब्दी मे थी। एक ऐसे युग मे, जबकि उनके पास न तो नतृत्व करने के लिए कोई सेनाऐं थी, और न धारण करने के लिए कोई शस्त्र थे तथा वे निश्चयात्मक रूप से अपने राजनैतिक प्रभुत्व से निरस्त कर दिए गये थ, उनकी सामरिक प्रतिभा का इससे अधिक सम्यक् प्रदर्शन सम्भवत अन्य कोई न हो सकता था।

यह युग उर्दू काव्य मे विकास के लिए महत्वपूर्ण है क्योकि इसमे ही मीर, नजीर, ग़ालिब, मोमिन तथा जौक जैसे विशिष्ट शायर हुए। इस युग की प्रमुख सास्कृतिक सस्थाओ मे मुशायरो का स्थान अग्रगण्य है। पूववर्ती शताब्दी मे प्रारम्भ होकर अब ये साहित्यिक-जगत् के स्थायी वैशिष्ट्य के रूप मे प्रतिष्ठित हो गए थे। मुशायरे, शायरों तथा प्रतिष्ठित व्यक्तियो के यहाँ आयोजित किए जाते थे। यहाँ तक कि मुगल सम्राट तथा अवध के बादशाह एव नवाब भी उन्ह सरक्षण प्रदान करते थे। मुशायरास्थल सुरुचिपूर्ण ढग से सुसज्जित किया जाता था, तथा हुक्का एव पान जैसे सुखद पदार्थों की समुचित व्यवस्था की जाती थी। शनै शनै ये तत्कालीन बुद्धिजीवियो के सम्मिलन स्थान, एव किसी भी अन्य महत्वपूर्ण मनोरजन के साधन की भाँति विनोदस्थल बन गए थे। परन्तु शीघ्र ही पतन प्रारम्भ हो गया। कविता को रेख्ती पद्य का रूप दे दिया गया। यह एक प्रकार की रचना होती थी, जिसमे कवि ऐसे लिखता था मानो वह एक स्त्री हो। नि सन्देह वह एक दूषित भावना से ही ऐसा करता था। ऐसी रचनाऐं प्राय कामुकता, छिछोरेपन तथा विषयासक्ति पर आधारित हुआ करती थीं। उनका मुख्य उद्देश्य हास्य उत्पन्न करना तथा सुलभ विषयवासनाओ को उत्तेजित करना होता था। इस प्रकार की रचनाओ का प्रयोग लोगो के अश्लील मनोरजन तथा क्षुद्र वासनाओ की तुष्टि के लिए किया जाता था। इस तथ्य का निरूपण रेख्ती कविता यथेष्ट रूप से करती है। जो भी हो, मुशायरा की सास्कृतिक सस्था शीघ्र ही शायरा के मध्य पारस्परिक प्रतिस्पर्धा एव ईर्ष्या आदि दुर्गुणो का अखाडा बन गई। अपने आश्रयदाताओ की कृपा-दृष्टि प्राप्त करने की खींचातानी ने मुशायरा स्थल को युद्ध-स्थल मे परिणत कर दिया। प्रहसन-काव्य तथा व्यग रचनाएँ एक दूसरे के प्रति लक्षित की जाती थीं। तत्पश्चात् कटाक्ष एव अश्लील गाली-गलौज की बारी आई। कभी कभी वाद विवाद कटारो व तलवारो द्वारा निर्णीत होते थे।

नृत्य गान जो वैभवशाली मुगलों के सुरुचिपूर्ण मनोरजन थे, अब अमीरो एव कुलीनो के जीवन के नियमित लक्षण बन गए थे। नतक एव नतकियाँ दोनो ही नियुक्त किए जाते थे। भाँड एवं नक्काल अपनी अपनी भङ्गतियो तथा नकलो द्वारा हास-परिहास प्रस्तुत करत थे, जो प्राय अश्लील होती थीं। वेश्याएँ भी सपोषित की जाती थी। युग की प्रवृत्ति ने ऐसी सस्थाओ पर अपने प्रभाव चिह्न छोड दिए थे, जो सास्कृतिक प्रगति की दिशा म विकसित होने के स्थान पर सुलभ आनन्द

तथा मनोरंजन का साधन बन कर रह गयीं थी। रहस तथा स्वांग भी इन लोगो मे लोकप्रिय हो गए थे।

बहरहाल, इन विकृतियो का एक स्वस्थ एव यथार्थ सास्कृतिक परिणाम उल्लेखनीय है, यह था—उर्दू नाटक का उदय। ऑपेरा (सगीत नाट्य) की योजना लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह को, उनके मनोरजनार्थ प्रस्तावित की गई। प्रवर्तक को स्वप्न मे भी अनुमान न था कि वह तत्कालीन लोगो के सास्कृतिक जीवन मे एक विचित्र वैशिष्ट्य का सूत्रपात कर रहा था। इन्दरसभा, जिस नाम से इसकी प्रसिद्धि हुई, ने अत्यधिक लोकप्रियता अर्जित की। इसमे सन्देह नही कि यह मन बहलाव का एक स्वस्थ साधन था जो सही अर्थ मे मनोरजन प्रदान करता था।

हमे अपने पर्यवेक्षण काल में मुसलमानो मे प्रचलित सामाजिक व्यवहार के प्रति परिष्कृत प्रतिमानो का परिचय प्राप्त होता है। सादर झुककर अभिवादन के पश्चात् 'मिज़ाज पुर्सी' होती थी। वार्तालाप अत्यधिक विनीत एव विनम्र स्वर मे होता था। अतिथियो का स्वागत अत्यधिक सौजन्य के साथ किया जाता था। सामाजिक गोष्ठी मे शालीनता का पालन किया जाता था। वे अत्यधिक मर्यादापूर्ण ढग से बैठते थे, तथा सयम एव विनम्रता से व्यवहार करते थे। पहल का अवसर सदैव दूसरे को प्रदान किया जाता था। अत यही से 'पहले आप' के शिष्टाचार का सूत्रपात हुआ। मुस्लिम समाज की यह विशेषता भारत के सास्कृतिक इतिहास मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। वस्तुत सामाजिक शिष्टाचार मे उच्चवर्गीय मुसलमानो का विशेष योगदान है। इस दृष्टि से वे निस्सन्देह हिन्दुओ से अपेक्षाकृत अधिक आगे थे। उन्होने अपने शिष्टाचार का विकास व्यापक रूप से किया था, जो कभी-कभी उनके लिए असुविधाजनक भी सिद्ध होता था। उनके अत्यन्त परिमार्जित शिष्टाचार प्राय उनके समाज की विशिष्टता बन गए थे।

परन्तु यह उल्लेखनीय है कि कभी-कभी उनके आडम्बरपूर्ण व्यवहार एव शालीनताएँ हास्यास्पद सीमा तक पहुँच जाते थे क्योंकि प्राय इस कारण उन्हें अपनी वास्तविक भावनाओ तथा परिस्थितियो को छिपाने के लिए विवश होना पडता था। वे अपने महत्त्व के विषय मे अतिशियोक्तिपूर्ण कल्पनाएँ गढा करते थे, उदाहरणार्थ, वे शब्दाडम्बरयुक्त नामो एव उपाधियो का प्रयोग करते थे, स्वय को उच्च कुलोत्पन्न प्रकट करते थे तथा प्रदर्शनीय जीवन मे विश्वास रखते थे। केवल उनके परिचितो को ही नही, अपितु उनके मित्रो तथा कभी-कभी सम्बन्धियो तक को उनके जीवन-यापन की वास्तविक परिस्थितियो का बोध न हो पाता था। इस तथ्य की अभिव्यक्ति सुविख्यात उर्दू लेखक, मौलवी नज़ीर अहमद ने अपन लेख 'मिर्ज़ा ज़ाहिरदार बेग' मे स्पष्ट एव प्रभावोत्पादक रूप से की है। यह प्रवृत्ति साधारण समारोहो एव उत्सवो पर अपव्यय के लिए भी उत्तरदायी सिद्ध होती थी।

प्रारम्भ से ही सामाजिक इतिहास के ग्रथो मे तत्कालीन जन-जीवन के जो चित्र अकित होते आए हैं, उनमे तत्कालीन लोगो की वेश भूषा तथा भोजन आदि

का विवरण भी प्राप्त होता है। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थ के वस्तु-पटल पर भी तत्कालीन लोगों के वेशभूषा व भोजनादि के विभिन्न रंगों का समोजन आवश्यक ही नहीं, महत्त्वपूर्ण भी हो उठता है। यद्यपि विभिन्न क्षेत्रों के निवासियों की वेश-भूषा तत्क्षेत्रीय जलवायु से प्रभावित होती है, परन्तु धनी एवं निर्धन की वेश-भूषा में सदैव अन्तर रहता है। पर्यवेक्षण काल में मुस्लिम जनसाधारण अपनी वेश-भूषा के प्रति विशेष रूप से सचेत नहीं रहते थे। इसके विपरीत आभिजात्यवर्ग अपनी वेष-भूषा को अत्यधिक महत्त्व की दृष्टि से देखा करता था जिसे उसने कतिपय सुनिश्चित सामाजिक प्रतिष्ठाओं के अनुरूप अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से विकसित किया था। अतः यह असम्भव था कि समाज का उच्चस्तरीय व्यक्ति बहुमूल्ययान एवं बोझिल परिधान धारण किए बिना ही घर से बाहर चला जाए चाहे कितनी ही तेज धूप क्यों न हो। भड़कीले वस्त्रों के प्रदर्शन की होड जो एक प्रथा बन चुकी थी, १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भी प्रचलित रही, जिसके कारण कुलीन व्यक्ति अपनी दरिद्रता की स्थिति में भी उसका प्रतिपालन करने में ही अपनी कुलीनता समझते थे।

मुस्लिम स्त्रियाँ शोख एवं भड़कीले वस्त्र धारण करती थीं जिनके अनेक प्रकरण देशी स्रोतों से ही ग्रहण किए गए थे। पर्दा-प्रथा स्थायी रूप से विद्यमान थी जिसके अन्तर्गत बुर्का अथवा कम से कम चादर का प्रयोग अवश्य होता था। वे हिन्दू-स्त्रियों की भाँति आभूषण-प्रिया थीं, जिनसे उन्होंने न केवल अभिरुचि ग्रहण की थी, वरन् आभूषणों की विस्तृत विविधता को भी ग्रहण किया था।

मुसलमानों की अनेक रुचियों में से एक थी—सुस्वादु भोजन प्रियता। इस रुचि के लिए वे मुक्त हस्त से व्यय करने में भी सकोच नहीं करते थे। वे प्रकृत्या अपव्ययी प्रवृत्ति के होते थे तथा दुर्दिनों के लिए धन बचाकर रखना पसन्द नहीं करते थे। वह 'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ' के सिद्धान्त का अक्षरश पालन किया करते थे। यह आश्चर्यजनक बात है कि पुलाव के सत्तर विविध प्रकार का उन्हें बोध था तथा उनमें से अधिकांश सामान्यतः पकाए जाते थे। खिचडी, चावल तथा रोटी बीसियों प्रकार से पकाई जाती थी तथा प्रत्येक के अलग-अलग नाम थे। कबाब एवं सालन भी सामान्यत. पसन्द किए जाते थे तथा विविध प्रकार से तैयार किए जाते थे। मिष्ठानों की सख्या अगणित थी। यद्यपि उनमें से अनेक हिन्दू हलवाइयों से ग्रहण की गयी थीं, तथापि एक बड़ी सख्या उन्हीं के द्वारा आविष्कृत थी। प्रतीत होता है कि एक सामान्य मुसलमान अपनी आय का आधे से अधिक भाग अपनी हाँडी पर व्यय कर देता था।

मुसलमान लोग मदिरा एवं माजून आदि मादक पदार्थों के व्यसनी थे। इस्लाम धर्म में मदिरा के विरुद्ध कठोर निषेधाज्ञा होते हुए भी मुसलमान विशेष रूप से इसके व्यसनी थे। ग़ालिब जैसे प्रतिनिधि कवि मदिरा के अतिशय अनुरागी थे, जिसका सेवन वे क़र्ज़ लेकर भी करने में सकोच नहीं करते थे। वे इसके इतने अधिक व्यसनी थे कि इसको नमाज से अधिक वरीयता प्रदान करते थे। उनका कथन था कि 'जिसको

शराब मैस्सर है उसको और क्या चाहिए जिसके लिए दुआ माँगे ?" यह उनका व्यक्तिगत विचार ठहराया जा सकता है, परन्तु यह उतनी ही गम्भीरता से उनके वर्ग के लोगों की सामान्य प्रवृत्ति को प्रतिबिम्बित करता है।

उत्तेजक पदार्थों मे पान तथा हुक्का सर्वाधिक प्रमुख थे। बीडी सिगरेटो के वर्तमान युग मे हुक्का जैसे सतोषप्रद मनोरजन एव स्वस्थ उत्तेजक का अभिप्राय यथेष्ट रूप से समझ सकना कठिन है, परन्तु १९वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे यह धनी एव निर्धन दोनो के लिये समान रूप से रुचिकर था। यह जितना स्फूर्तिदायक होता था उतना ही विश्रातिदायक। सामाजिक सम्मेलनो में इसका आनन्द व्यापक रूप से लिया जाता था, जहाँ इसका विशेष आयोजन होता था। हुक्के के अन्यान्य प्रकार विकसित हो गए थे। उन पर सुदर्शनीय अलकरण भी किया जाता था। लखनऊ मे इसका स्तर आभिजात्यवर्गीय-समाज की शालीन रुचि तक उठा दिया गया। यहाँ तक कि उसके कशो को आनन्दयुक्त, सुगन्धित एव गुणात्मक बनाने के लिए उसमे प्रयुक्त होने वाले तम्बाकू म भी परिमार्जन किया गया। उच्च घरानो मे उसकी देख-भाल के लिए स्थायी रूप से हुक्काबरदार नियुक्त किए जाते थे। इसकी स्वच्छ निर्दोषता, हानिरहितता एव गौरवपूर्ण प्रयोग इसके प्रति सामान्य रुचि उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी थे।

जैसाकि तत्कालीन साहित्य मे अनेक प्रसगो से प्रमाणित होता है, १९वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे वेश्यावृत्ति कुख्यात रूप से लोकप्रिय थी। यद्यपि मुसलमानो को एक ही समय में चार पत्नियाँ तक रखने तथा अपनी सामर्थ्यानुकूल चाहे जितनी उप पत्नियाँ रखने की अनुमति प्राप्त थी, तथापि वह इस आचरण का अवलम्बन, नृत्य-गान के माध्यम से मनोरजनार्थ, तथा उतना ही अधिक कामुकता की परितुष्टि के लिए एव कालान्तर मे तथाकथित सामाजिक शिष्टाचार के लिए, लिया करते थे। उदाहरणार्थ, लखनऊ मे यह प्रसिद्ध था कि जब तक कोई व्यक्ति वेश्याओ की सगति मे प्रशिक्षण प्राप्त न करे वह शिष्ट नही बनता। इस प्रकार इस दुर्व्यसन ने तत्कालीन समाज मे एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया था तथा इसकी स्थिति सुदृढ करने हेतु आत्मरजन को शिष्टाचार की शिक्षा प्राप्त करने के साधन रूप मे अगीकार किया गया। इसी कारण कतिपय महानुभाव तो अपने पुत्रो को वेश्याओ के पास काम-तुष्टि अथवा मनोरजनार्थ नहीं, अपितु सद्व्यवहार एव सामाजिक शिष्टाचार अर्जित करने भेजते थे। नि सन्देह वेश्याओ का व्यवहार इतना परिष्कृत व सुसस्कृत होता था कि लोग उससे अत्यन्त प्रभावित हो उठते थे। परन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि दुराचार के इस पक्ष का प्रयोग, वेश्याओ तथा उनके आभिजात्यवर्गीय अभ्यागतो के लिए एक सामाजिक आधार की अपेक्षा, जिस पर वह अपने व्यवसाय को न्यायोचित सिद्ध कर सकें, एक सुरक्षा कपाट के रूप मे अधिक क्या जा सकता था।

जबकि सभी युगों मे वेश्यावृत्ति के औचित्य-समर्थन मे अनेक मार्जन प्रति-

पादित किए जा सकते हैं, समलिंग मैथुन के अप्राकृतिक यौनभाव-सम्बन्धी अनर्थ के विषय मे एक भी नही किया जा सकता, जिसका सूत्रपात भारत मे मुसलमानो द्वारा किया गया था। मुस्लिम समाज का ऐतिहासिक अध्ययन नि सन्देह प्रस्तुत करता है कि यह दुराचार, जो सर्वाधिक घृणित था, मुगलकाल से पूर्व एव मुगलकाल मे प्रचलित था। मुगलो के पतन एव अराजकतापूर्ण स्थिति के प्रादुर्भाव के साथ ही विलासी समाज की सयमित कामनाएँ खुलकर समक्ष आ गई। किसी नैतिक, धार्मिक अथवा प्रशासकीय प्रतिबन्ध के अभाव मे यह दुराचार एक फैशन बन गया था। सुलभ मनोरजन के अन्तर्गत आने के कारण यह आगरा, दिल्ली, रामपुर, लखनऊ, फैजाबाद तथा मुर्शिदाबाद के मुसलमानो के जीवन का सामान्य लक्षण बन गया था। प्रतीत होता है कि इस दुर्व्यसन ने वेश्यावृत्ति की भाँति व्यापक रूप से समाज म एक सस्था का रूप धारण कर लिया था। यह तथ्य तत्कालीन कवियो की रचनाओ में निहित इनके उदाहरणो से स्पष्ट हो जाता है। जन कवि नजीर ने आत्म-रजन के प्रसगो का बारम्बार उल्लेख किया है। इससे एक भ्रष्ट युग तथा भ्रष्ट समाज की निम्न-स्तरीय अभिरुचियो का बोध होता है। इन तथ्यो व उद्धरणो द्वारा मन मे आश्चर्य एव खेद मिश्रित भावनाएँ उभरती है कि तत्कालीन समाज का नैतिक स्तर इतना अधिक पतन के गर्त मे डूब चुका था कि सभ्य समाज व आभिजात्य वर्ग द्वारा समलिंग मैथुन की निन्दा व भर्त्सना तो दूर, अपितु साधारण आलोचना का एक उदाहरण तक भी नही मिलता। इसी सभ्य समाज का प्रश्रय पाकर काव्य-श्रोताओ को एक सरस व कोमल काव्य-विषय प्राप्त हो गया। काम लोलुपता के अत्यन्त भार से दबे हुए तत्कालीन विलासियो ने इसका सहर्ष प्रसन्नतापूर्वक अभिनन्दन कर इसे ग्रहण किया। इन तथ्यो से १६वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध कालीन मुस्लिम समाज के पूर्ण नैतिक पतन का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है।

मुस्लिम शिक्षा के विषय मे कहा जा सकता है कि वह मूल तत्व मे मजहबी थी। इस शिक्षा का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थी को धर्मतान्त्रिक राज्य मे यथोचित रूप से रहने के लिए तैयार करना था। यह एक प्रकार का प्रशिक्षण था, जो उसे इस्लाम के उत्कर्ष के लिए, एक सच्चे मुसलमान की भाँति सच्ची लगन से कार्य करने के लिए दीक्षित करता था। प्राथमिक शिक्षा द्वारा बालक को वर्णमाला एव सयुक्त अक्षरो का ज्ञान कराया जाता था। साथ ही कुरान की आयतो को कण्ठाग्र कराया जाता था। दोषी छात्रो को दण्डित करने के लिए विविध प्रणालियो का प्रयोग किया जाता था, जिनमे से अनेक यन्त्रणादायक एव बर्बर थी।

मदरसे उच्च शिक्षा के केन्द्र थे। ये सस्थाएँ स्पष्ट धार्मिक अभिनति रखती थी तथा कट्टरपन्थिता की गढ थी। पढाए जाने वाले मुख्य विषय धर्म दर्शन, तफसीर, हदीस एव फिक़ थे। इन सस्थाओ का मुख्य उद्देश्य, छात्र के मन-मस्तिष्क मे एक विशेष प्रकार के विश्वासो को स्थापित करना था तथा उसको इस्लाम धर्म के सिद्धान्तो की रक्षा एवं प्रसार के लिए, सम्यक् रूप से अनुशासित करना था। इस

प्रकार यह शिक्षा-प्रणाली धर्मतान्त्रिक राज्य की भावना के समानान्तर चलती थी। लखनऊ का मदरसा-ए-फरंगी महल तथा दिल्ली का मदरसा-ए-रहीमिया उस युग के सर्वाधिक महत्वपूर्ण मदरसो मे से थे।

यह शिक्षा प्रणाली गम्भीर त्रुटियो से ग्रसित थी। प्रथमत यह विषय-वस्तु एव प्रणाली दोनो मे ही अपकृष्ट थी। रुढिग्रस्त एव प्राधिकारवादी होने के कारण यह विद्यार्थियो मे अन्वेषण की स्वतन्त्र एव स्वाधीन प्रेरणा जाग्रत करने मे सहायक सिद्ध नही होती थी। विषय के साथ-साथ ही शिक्षक की पक्षग्राहिता भी शिष्यो के मनो मस्तिष्क मे पारित हो जाती थी। जबकि प्रारम्भिक पाठशालाएँ केवल पढने, लिखने एव अकगणित का साधारण ज्ञान कराती थी, उच्च शिक्षा केन्द्र, धर्म प्रेरित होने के कारण कम से कम एक पक्का मुसलमान तथा अधिक से अधिक एक विद्वान धर्माचार्य उत्पन्न करन के अतिरिक्त और कुछ न करते थे। शिक्षा-प्रणाली का भारतीय सस्कृति स नितान्त पार्थक्य और भी अधिक गम्भीर असगति थी। इसमे भारत के इतिहास, दर्शन, साहित्य तथा धर्म के अध्ययन की कोई व्यवस्था न थी। फलत: इसन विभक्त व्यक्तित्व को उत्पन्न किया तथा एक मुस्लिम नवयुवक को दृष्टिकोण एव व्यवहार मे भारतीय बनान म नितान्त असफल सिद्ध हुई। प्राचीन भारतीय इतिहास तथा देश के धर्म एव सस्कृति के विषय मे मुस्लिम विद्वान कितने अनभिज्ञ रहते आए हैं यह इसमे स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक मुस्लिम लेखको ने इसके विषय म क्या लिखा है। उदाहरणार्थ, एस० एम० जाफर हिन्दू धर्म के विषय मे लिखते हैं ('सम कल्चरल एस्पैक्ट्स ऑव मुस्लिम रूल इन इण्डिया', पेशावर, १९३९, पृ० ५२) कि यह अपने हास्यास्पद सिद्धान्तो एव अनुष्ठानो के कारण मात्र तिरस्कार की अनुभूति जागृत करने के अतिरिक्त और कुछ न कर सका। इस कथन से भारतीय विषयों के प्रति मुस्लिम विद्वानों की अनभिज्ञता एव उपेक्षा का परिचय प्राप्त होता है। यह रोचक बात है कि २० वी शताब्दी के तृतीय चतुर्थांश के अन्तिम चरण मे भी हम प्राचीन भारतीय इतिहास, हिन्दू धम एव दर्शन का कोई गम्भीर मुस्लिम विद्वान कठिनता से ही पाते हैं।

बहरहाल, १८१३ के चार्टर एक्ट के पश्चात् शिक्षा सम्बन्धी सुधारो तथा देश मे अंग्रेज़ी शिक्षा के अनेक कॉलेजो की स्थापना के बावजूद मुसलमानो ने उनसे लाभान्वित होने के स्थान पर उनका घोर प्रतिरोध किया। उन्होने अंग्रेज़ी शिक्षा का विरोध किया तथा सरकार पर असद्भाव का दोषारोपण किया। वे नवीन शिक्षा प्रणाली के प्रति आशकाओ से परिपूर्ण थे। इस प्रकार वे अपने रूढिवादी दृष्टिकोण पर अडिग रहे तथा उन फलदायक वीथिकाओ से पृथक रहे जो उनके समक्ष खुली थी। दूसरी ओर हिन्दुओ ने स्वतन्त्र रूप से परिवर्तन का स्वागत किया तथा अंग्रेज़ी के नवस्थापित केन्द्रो से लाभान्वित हुए। वस्तुत आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के विरुद्ध उनके कोई पूर्वाग्रह न थे।

यह उल्लेखनीय है कि मुसलमानों की आशकाएँ अकारण थी। पाश्चात्य

शिक्षा के प्रति उनकी विरोधी मनःस्थिति किसी ठोस आपत्ति के स्थान पर, जो नवीन प्रणाली से पृथक्त्व को न्यायसंगत सिद्ध कर सकती, भावुकतापूर्ण विद्वेष एवं धार्मिक पूर्वाग्रह के कारण अधिक थी। वह अपने विश्वास पर दृढ़ता से स्थिर रहे कि मात्र अनुसरणीय शिक्षा उनकी अपनी ही शिक्षा थी। वे अंग्रेजी संस्थाओं को 'मक्तबे' अथवा जहालत के स्थान कहते थे तथा अंग्रेजी शिक्षा से उपलब्ध होने वाले सम्भावी भौतिक लाभों को त्यागने के लिए उद्यत थे। इस प्रकार वे हवा का रुख पहचानने में असफल रहे।

इसके अवश्यम्भावी प्रतिप्रभाव हुए। १८४४ में जब सरकार ने लोक-नियुक्तियों के लिए उन व्यक्तियों को वरीयता प्रदान करने का निश्चय किया जिन्होंने पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त की थी, तो हिन्दू लोग जिन्होंने उस समय तक स्वयं को अपेक्षित योग्यता से पूर्णरूपेण सन्नद्ध कर लिया था, नवीन नीति के मुख्य लाभग्राही बने। सरकारी पदों की प्राप्ति हेतु प्रयाण में मुसलमानों की अपेक्षा उन्होंने प्राथमिक लाभ प्राप्त किया तथा समयान्तर उन पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया जो मुसलमानों के लिए रोष का कारण बना। इस प्रकार जबकि हिन्दुओं ने बौद्धिक व नैतिक पुनरुत्थान में पदार्पण किया, मुसलमान घोर निर्धनता, अज्ञानता एवं अनासक्ति की स्थिति में परिणत हो गए जिसके लिए उनका स्वयं का हठी दृष्टिकोण मुख्यतः उत्तरदायी था।

मुस्लिम राज्य के पतन तथा अंग्रेजों के आगमन के साथ मुस्लिम आभिजात्यवर्ग अपनी सुविधापूर्ण स्थिति से वंचित होता चला गया। उन्हें सैन्य पदों से वंचित कर दिया गया। भूमि सुधारों के सूत्रपात के पश्चात् उन्हें आनुवंशिक भूस्वामित्व से विस्थापित कर दिया गया। उच्च राजकीय पदों की नियुक्तियाँ, जो मुसलमानों के लिए प्रायः सुरक्षित रहती थीं, वस्तुतः अब उनके लिए समाप्त हो गयीं। उनका विलासी जीवन एवं तन्द्रिल प्रवृत्तियाँ उनके लिए घातक सिद्ध हुए। वह अब भी विश्वास करने के लिए उद्यत न थे कि उनका सूर्यास्त हो चुका था तथा अन्य का उदय हो चुका था। वह अपने विचारों में गतिहीन एवं रूढ़िवादी बने रहे तथा उन्होंने 'आगे बढ़ने अथवा सही दिशा में देखने से इन्कार कर दिया। इन सब से उनकी आर्थिक दशा पर गम्भीर प्रतिप्रभाव हुए। वह अब बिना आजीविका के परित्यक्त कर दिये गए। यह सर्वथा उचित ही कहा गया है कि मुस्लिम शासन के अन्तर्गत एक उच्च कुलोत्पन्न मुसलमान के लिए निर्धन बन जाना असम्भव था, परन्तु अब ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत उसके लिए धनवान बने रहना असम्भव हो गया।

उलमा भी असीमित राज्य संरक्षण का उपभोग करते आए थे। शिक्षा, न्यायपालिका एवं धर्म विषयक विभागों पर उनका एकाधिकार था। धर्मतान्त्रिक राज्य के विलुप्त हो जाने के कारण उलमा वर्ग का सम्पूर्ण आडम्बर खण्ड-खण्ड हो गया। शनैः शनैः परन्तु निश्चयात्मक रूप से वह अपनी उच्चासीन स्थिति से अपदस्थ किए जा रहे थे, जिसका उपभोग वे मुस्लिम शासनकाल में करते आए थे। वह एक

साधारण व्यक्ति की श्रेणी मे परिवर्तित किए जा रहे थे। वे धर्मतान्त्रिक राज्य के विलुप्त हो जाने के परिवादी तो थे ही, अत हताश होकर उन्होंने धार्मिक पुनरुत्थान-वादी आन्दोलनो का सूत्रपात किया जिनके द्वारा उनके मन की गहन वेदना प्रकट हुई।

फकीरो की दशा दयनीय थी। इस्लाम धर्म भिक्षा-वृत्ति की स्वीकृति प्रदान करता है, अत. मुस्लिम समुदाय का एक बडा वर्ग खैरात पर निर्भर रहता था। उनका भाग्य प्राय पूर्णरूपेण अपने आश्रयदाताओ की सुख समृद्धि पर अवलम्बित था। जैसे ही उनके आश्रयदाता निस्सहाय हुए वैसे ही फकीरों का सन्तुलन भी बिगड गया। फकीरी से अब उनका निर्वाह न होता था तथा उनके कष्टों की कोई सीमा न रही।

मुस्लिम जनसमुदाय अधिकाशत: श्रमिको, शिल्पियो, कारीगरों, सैनिको तथा सामान्य व्यक्तियो से सगठित था। देशी व्यवसाय एव उद्योगों के विनाश के साथ ही वे भी निर्धन हो गए। उनकी निर्धनता का चित्र तत्कालीन उर्दू साहित्य में सजीवता से चित्रित किया गया है। परन्तु इसमे सन्देह नहीं कि अपनी दयनीय दशा के लिए वे स्वय भी उत्तरदायी थे। उन्होने परिस्थितियो को देखते हुए भी अपनी रुचियों को परिवर्तित नही किया तथा अपने विचारों मे रूढ़िवादी एव अपरिवर्तनशील बने रहे। 'लकीर के फकीर, बने रहने की इस हठी प्रवृत्ति ने उन्हें समयानुसार परिवर्तित होने की दिशा की ओर देखने तक की स्वीकृति प्रदान न की। उनकी इस प्रवृत्ति और आचरण के कारण उनकी आर्थिक स्थिति बद से बदतर होती गई, जोकि प्राय निश्चित ही थी।

भारत मे मुस्लिम शासन की समस्त कालावधि में हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध का प्रश्न इसके सामाजिक इतिहास मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अकबर जैसे प्रबुद्ध शासको के समय के अतिरिक्त मुस्लिम राज्य विशिष्ट रूप से धर्मतान्त्रिक था। मुगल काल के पूर्व समय तक समस्त इस्लामी जगत के लिए एक खलीफा की अवस्थिति को आवश्यक रूप से स्वीकार किया जाता था। वह धार्मिक एव लौकिक अध्यक्ष था तथा सभी विषयो मे सर्वोच्च पदाधिकारी था। इस प्रकार राजनीति, धर्माज्ञाओ द्वारा नियन्त्रित होती थी। सभी सस्थाऐं—प्रशासनिक, राजनैतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक, जो राज्य द्वारा विकसित तथा अभिस्वीकृत की जाती थीं, उनका उद्देश्य धर्म विधि (शर) का अनुसेवन करना था। भारत मे मुगलों के अभ्युदय के साथ यद्यपि खलीफा की कल्पना तो विलुप्त हो गई तथापि राज्य का स्वरूप वस्तुत यथावत् बना रहा।

राज्य के इस धर्मतान्त्रिक स्वरूप ने उलमाओं को अपरिमित शक्तियां एव विशेषाधिकार प्रदान किये थे। वे राज्य के धर्म-विषयक विभाग, शिक्षा विभाग एव न्यायपालिका पर वस्तुत हुकूमत करते थे। वे केवल विधि के व्याख्याकार ही नहीं अपितु उसके अत्युत्साही सरक्षक भी समझे जाते थे। वे इसके हितों की निगरानी एक

मिशनरी के श्रद्धोन्माद के साथ करते थे तथा इसके उत्कर्ष के लिए एक 'गाजी' की भाँति जोश के साथ कार्य करते थे। सुन्दर दाढी तथा सिर पर चित्ताकर्षक कुल्ला अथवा बडी पगडी या दोनो ही उनके व्यक्तित्व को भव्य गरिमा से मडित करते थे। कधो पर झूलता हुआ शानदार परिधान उनकी भव्य गरिमा के अनुकूल ही सुदर्शनीय होता था। अपने गौरव मडित भव्य व्यक्तित्व के साथ साथ, असीम विद्वता, ओजस्विता और आत्मसयम की साक्षात् सजीव प्रतिमा के समान ये उलमा इस्लाम के शौर्य की उद्घोषणा किया करते थे।

अत कोई आश्चर्य नही कि उन्हें प्रचण्ड आघात लगा, जब इस राज्य का अस्तित्व वस्तुत समाप्त होता गया तथा उसके साथ उनकी शक्तियाँ एव विशेषाधिकार विलुप्त होते गए। राजनैतिक शक्ति का ह्रास एव धर्मतान्त्रिक राज्य की क्षीण होती स्थिति ने उनके अस्तित्व को ही खतरे मे डाल दिया। अत उन्होने मुस्लिम धर्म पुनरुत्थानवादी आन्दोलनो का सूत्रपात किया। कुछ समय तक उन्होने इस आशा को सजोए रखा कि मुस्लिम राजसत्ता की पुन स्थापना हो जाएगी। यहाँ तक कि इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विदेशी आक्रमणकारी को आमन्त्रित करने मे भी सकोच नहीं किया। जब विदेशी सहायता भी निरर्थक सिद्ध हुई तो चरम विवशता की स्थिति मे उन्होंने जनसाधारण से जिहाद का आह्वान किया तथा उन्हें पथभ्रान्त करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार उन्होने दो जातियो के बीच वैमनस्य का बीजारोपण कर दिया। इस तथ्य से मुँह नही मोडा जा सकता कि उनके आन्दोलनो ने हिन्दू मुस्लिम सम्प्रदायो के बीच इतना अधिक पृथक्भाव उत्पन्न करने का प्रयास किया कि जो कालान्तर मे द्विराष्ट्र सिद्धान्त के सूत्रीकरण म एव अन्त मे देश के विभाजन मे फलीभूत हुआ।

१६वी शताब्दी के पूर्वार्द्धकालीन मुस्लिम समाज के सिंहावलोकन से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उस समय पुनरुत्थानवादियो ने अपने प्रयासो मे कोई कोर कसर न उठा रखी ताकि दो जातियो के बीच परस्पर मत-वैभिन्न्य की खाई उत्पन्न हो जाए और पारस्परिक सास्कृतिक आदान प्रदान की सभी सम्भावनाएँ समाप्त हो जाएँ। किन्तु अथक् प्रयत्नो के बावजूद भी उन्हें आशानुकूल सफलता तुरन्त न प्राप्त हो सकी। मुस्लिम जनसमुदाय का एक बडा वर्ग, जो हिन्दू धर्मान्तरित था, अपने अचेतन रूप से ही भारतीय वातावरण से प्रभावित हो गया था। सूफी भावना मे भी सहिष्णुता एव सामाजिक विषयों मे स्वतत्र आदान-प्रदान की स्वीकृति प्राप्त थी। उलमाओ ने अपनी वर्तमान स्थिति को अनदेखा करते हुए इस सबका घोर विरोध किया, किन्तु इस विरोध को विकसित होने के लिए और उनकी निषेधाज्ञाओ को फलीभूत होने के लिए एक भिन्न वातावरण की आवश्यकता थी, जिसे हम कालांतर में ही धीरे-धीरे अपने सशक्त चरण बढाते आते हुए पाते हैं।

परिशिष्ट (अ)

भारत मे समलिंग मैथुन दुराचार का ऐतिहासिक अध्ययन

समलिंग मैथुन के अप्राकृतिक दुराचार का सूत्रपात इस्लाम-पूर्व-कालीन खानाबदोश अरबों के मध्य हुआ प्रतीत होता है।[1] मरुस्थल की अर्ध बर्बर परिस्थितियो के अन्तर्गत अरब लोग स्त्री को बहुमूल्य निधि समझते थे तथा एक गम्भीर अनैतिकता व्याप्त थी। अत प्रच्छन्नता, पृथकता एव पर्दे की व्यवस्था की गई थी।[2] इसमे सन्देह नही कि इस्लाम पूर्व के अरब समाज मे कामुकता का प्राबल्य था तथा कुरान शरीफ मे सयमित व्यवहार के लिए आवश्यक निषेधाज्ञाएँ निर्धारित करनी पड़ी थीं।[3] पैगम्बर ने, जोकि प्राचीन पूर्वदेशीय महान सामाजिक एव धार्मिक पुनरुद्धारक थे, इस अप्राकृतिक अपराध के दोषियो का विशेष उल्लेख किया था—"यदि तुममें से दो पुरुष दुश्चरित्रता के अपराधी हैं तो दोनो को दण्डित करो ··· ···।"[4]

---

१ इस दुराचार की व्युत्पत्ति के विषय में विभिन्न मत उपलब्ध होते हैं। कुछ लेखक यथा-हैवलॉक ऐलिस इसकी व्युत्पत्ति खोजने के लिए प्राचीन मेसोपोटामियां की सस्कृतियो तक जाते हैं। बदायूँनी इसे ट्रांस ऑक्स्याना की प्रथा (दुराचार नही ?) कहते हैं (मुन्तखाबुत्तवारीख, लोवे, भाग-२, पृ० १४) मुहम्मद यासीन इसे मगोलो का दुराचार कहते हैं ('ए सोशल हिस्ट्री ऑव इस्लामिक इण्डिया', लखनऊ १९५८, पृ० १०७)। स्पष्टत इसकी व्युत्पत्ति अधिक प्राचीन थी जैसाकि कुरान में इसके प्रसगों से परिलक्षित होता है। बाइबिल सम्बन्धी वृत्तलेख का अनुकरण करते हुए यह सोडोम नगर (मृत सागर के पूर्व में स्थित) का संकेत करता है जहाँ यह अप्राकृतिक दुराचार व्याप्त था। लूत नामक पैगम्बर को नगर के प्रमादी लोगों को सुधारने हेतु भेजा गया। कुरान का कथन है कि "हमने लूत को भेजा : उन्होंने अपने लोगों से कहा तुम ऐसा दुराचरण करते हो जिसे तुमसे पूर्व संसार में कभी किसी ने नहीं किया ? चूँकि तुम अपनी काम वासना की तुष्टि स्त्रियों के स्थान पर पुरुषों से करते हो तुम लोगों ने वस्तुतः सीमाओ का उल्लघन कर दिया है" (सूरा VII, ८०-८१, अब्दुल्ला यूसुफ अली, 'द होली कुरान', भाग-१, लाहौर, १९३७, पृ० ३६१)। अन्ततोगत्वा सोडोम नगर ध्वस्त कर दिया गया क्योंकि उसके निवासियो ने लूत का उपदेश मानने से इकार कर दिया। (इसके अतिरिक्त देखिए, टी० पी० ह्यूजेज, 'डिक्शनरी ऑव इस्लाम', लन्दन, १८८५, पृ० २६६, 'एनसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम', भाग-३, पृ० ५३)।

२ सय्यद अमीर अली 'द स्पिरिट ऑव इस्लाम (लन्दन, १९२२), पृ० २५०-५१।

३. सूरा II-१८७, अब्दुल्ला यूसुफ अली, 'द होली कुरान', भाग-१, पृ० ७३।

४. सूरा IV-१६, वही, पृ० १८४, जॉर्ज सेल, 'अल-कुरान', पृ० ६१-६२, ई० एम० व्हैरी, ए कॉम्प्रिहेन्सिव कॉमेन्ट्री ऑन द कुरान', भाग-२ (लन्दन, १८८४), पृ० ७५।

यद्यपि धर्म द्वारा निषेधाज्ञा कर दी गई थी, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि अरब लोग इस्लाम धर्म अंगीकार करने के पश्चात् भी इस दुराचार का अनुसरण करते रहे। उत्तर कालीन अरब समाज मे इस दुराचार के निर्बाध प्रचलन के लिए निम्न परिस्थितियाँ उत्तरदायी रही होंगी—

(१) काफिलो की लम्बी कतारों में एव मरुस्थलीय नगरो मे स्त्रियाँ सहज सुलभ न थी, निस्सन्देह उन्हें बाज़ार से खरीदा जा सकता था, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति एक दास-कन्या का उच्च मूल्य व्यय करने की क्षमता नही रखता था,

(२) अरब समाज मे पर्दे पर अत्यधिक बल दिया जाता था,

(३) जबकि एक स्त्री के साथ अवैध सम्बन्ध तिरस्कृत समझा जाता था, इस अप्राकृतिक दुराचार के दुर्व्यसनियो को समाज द्वारा लांछित नही किया जाता था। समाज का भय केवल पूर्वोक्त अवस्था मे ही एक अवरोध था;

(४) लडके अपेक्षाकृत सस्ते तथा सहज सुलभ थे, इसके अतिरिक्त उन्हें बेखटके तथा बिना किसी भयावधान के लम्बे मार्गों पर ले जाया जा सकता था। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टिकोण से यह दुराचार सुरक्षा के अतिरिक्त अन्य अनेक सुविधाएं प्रस्तुत करता था।

(५) *युवा जनसख्या का एक भाग सामान्य* पारिवारिक जीवन से दूर, सैन्य शिविरो मे विच्छिन्न कर दिया जाता था,

(६) ऐसा प्रतीत होता है कि यह दुराचार परम्परागत रूप से चलते चले आने के कारण, इस तरह मे जनजीवन का एक सहज स्वाभाविक अंग बन गया होगा कि समाज का एक बडा भाग इस दुराचार से ग्रस्त हुए बिना न रह सका, तथा इससे मुक्ति प्राप्त करना प्राय असम्भव-सा हो गया होगा।

अरबो के साथ समलिंग मैथुन का प्रसार अन्य इस्लामी देशो मे भी हुआ। उन्ही के द्वारा इस दुराचार का सूत्रपात ईरान में हुआ। अवेस्ता अथवा इस्लाम पूर्व ईरान के अन्य धर्म-ग्रन्थों या किसी भी साहित्यिक कृति मे इस दुराचार का सकेत मात्र भी उपलब्ध नही होता। प्रतीत होता है कि ईरान मे इस दुराचार ने सूफी सिलसिलो के विकास के साथ एक उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था। 'साकी' की प्रथा, जैसाकि खय्याम एव हाफिज सहित शास्त्रीय युगीन फारसी-काव्य के प्राय. सभी महान कवियो ने चित्रित की है, उस मान्यता की द्योतक है जिसे तत्कालीन समाज ने इस दुराचार को प्रदान की थी। किन्तु इसमे सन्देह नहीं कि उस समय इसका स्तर अप्राकृतिक कामुक प्रवृत्ति से ऊँचा समझा जाता था, तथा इससे उच्चकोटि के काव्यात्मक एव कभी-कभी आध्यात्मिक सम्बन्ध तक स्थापित हो जाते थे। ऐसा

प्रतीत होता है कि इस प्रकार जो इसके अभ्यस्त (आदी) थे, समाज ने उन लोगों को निवाहने का प्रयत्न किया और वह भी एक अत्यधिक परिष्कृत रूप में।[५]

भारत मे यह दुराचार इस्लाम के आगमन से पूर्व अज्ञात था। धर्म ग्रन्थो अथवा संस्कृत साहित्यिक-कृतियो मे इसका किंचित मात्र संकेत भी उपलब्ध नही होता। शील तथा आचार विषयक महान् ग्रंथ यथा-सूत्र, स्मृति एव धर्म-शास्त्र उपलब्ध होते हैं, परन्तु वे इस विषय पर सर्वथा मौन हैं। अत. इसमे कोई सन्देह नहीं कि कतिपय अन्य दुराचारों तथा निन्द्य मनोरंजनो की भाँति समलिंग मैथुन का सूत्रपात भी भारत मे मुसलमान आक्रमणकारियो द्वारा किया गया। इसका सर्वप्रथम उल्लेख हमे अमीर खुसरो की 'मसनवी शहर आशोब' अथवा 'रुबाइयात पेशावरान' मे उपलब्ध होता है, जिसमे दिल्ली के दस्तकार लडकों को सम्बोधित प्रेम चौपाइयो को संग्रहित किया गया था। ये समलिंग काम भावना मे रचित है, जिसमे समकालीन व्यक्तियों ने कुछ भी निन्द्य नहीं पाया।[६] इसी कवि द्वारा रचित 'ऐजाज-ए-खुसरवी' के कतिपय अंश "इसी विशिष्ट पक्ष मे प्रचलित नितान्त क्षुद्र आचारो को पुन: प्रतिबिम्बित करते हैं।"[७] यह कितने व्यापक स्तर पर प्रचलित था, इस तथ्य से सिद्ध हो जाता है कि ज़ियाउद्दीन बर्नी जैसे इतिहासकार ने भी इसके विरुद्ध एक शब्द नही कहा है। प्रतीत होता है कि यह समाज मे इतना अधिक सामान्य था कि निन्दा के लिए कोई स्थान न था।

निस्सदेह कतिपय सुस्पष्ट दृष्टान्त हमे उपलब्ध होते हैं। जैसाकि के० एम० अशरफ उचित रूप मे परिगणन करते हैं कि, "मुइज़ुद्दीन कैकूबाद[८] के अपने पुरुष-प्रियतमों से सम्बन्ध, सुल्तान अलाउद्दीन खिल्जी[९] के मलिक काफूर से तथा उसके पुत्र एव उत्तराधिकारी मुबारक शाह[१०] के खुसरो खाँ से, इतने अधिक सुविदित हैं

---

५. मुहम्मद यासीन का विचार (वही, पृ० १०७) कि "सूफ़ी लोग 'पवित्र प्रेम' के बहाने इस अपवित्र कामोन्माद में लिप्त रहते थे", समुचित प्रतीत नहीं होता है। यद्यपि यह दुराचार तात्कालीन समाज मे व्यापकता से प्रचलित था तथापि दो-एक यत्र-तत्र उदाहरणों के आधार पर सामूहिक रूप से सूफियो को इसका दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

६. मुहम्मद हबीब 'हज़रत अमीर खुसरो ऑव देहली' (बम्बई, १९२७), पृ० ४५; इसके अतिरिक्त देखिए एम० डब्ल्यू० मिर्ज़ा, 'द लाइफ एण्ड वर्क्स ऑव अमीर खुसरो' (कलकत्ता, १९३५), पृ० २१४, २१९; ऐसे ही उदाहरणों के आधार पर के० एम० अशरफ ने अवलोकन किया कि, "पुरुष प्रियतम के प्रति प्रेम जो तत्कालीन फ़ारसी काव्य एवं साहित्य में इतने सुस्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है, वस्तुत एक अस्वस्थ यौनभाव-सम्बन्धी रुझान को प्रदर्शित करता है" (अशरफ़ 'लाइफ़ एण्ड कण्डिशन' इत्यादि, पृ० ३२१)।

७. अशरफ़, पृ० ३२१।

८. १२८७–१२९० ई०।

९. १२९६–१३१६ ई०।

१०. १३१६–१३२० ई०।

कि जिनकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। विस्मयजनक रूप से ये अपरिमित विकृतियाँ इतिहासकारों अथवा धार्मिक सन्तों से नैतिक अथवा धार्मिक आधारों पर किसी टीका टिप्पणी का प्रतिवेदन नहीं करतीं, यद्यपि यही लोग रज़िया सुल्ताना को कलंकित करने से नहीं चूकते जिसका अपराध इससे अधिक कुछ न था कि उसने पर्दे का बहिष्कार किया तथा एक प्रतिभाशाली एबीसीनियावासी को उस पद पर आरूढ़ किया जो इससे पूर्व तुर्कों के लिए आरक्षित होता था।[११] वस्तुतः राजोचित शिष्टाचार विषयक एक ग्रन्थ स्पष्टतया एक कुलीन पुरुष के लिए समलिंग-मैथुन की मान्यता प्रदान करता है।"[१२]

प्रतीत होता है कि इस अस्वस्थ यौन-सम्बन्धी मनोग्रन्थि का अनुसरण उत्तरकालीन शासकों द्वारा किया गया। यह विस्मयजनक है कि फ़ीरोज़ तुग़लक[१३] जैसा धार्मिक प्रवृत्ति का सुल्तान भी इस विपर्यास से पृथक न रह सका। उसके यहाँ सुन्दर लड़कों का एक विशाल विभाग सपोषित था, जिन्हें उसने दासों के रूप में उपहारों में प्राप्त किया था। वह उनका अतिशय अनुरागी था। 'सभी मुक्तियों एवं प्रादेशिक पदाधिकारियों को निर्देशित करते हुए सुल्तान द्वारा एक स्थायी आदेश प्रसारित किया गया था कि वे दासों को पकड़ें तथा उनमें से सर्वश्रेष्ठ को दरबार में भेजें। सामंतों ने दासों के प्रति सुल्तान की उत्सुकता अनुभव करते हुए भव्य तथा आकर्षक ढंग से सुविन्यस्त एवं अलंकृत सुन्दर दासों को उसे भेंट करने की प्रथा बना ली थी।'[१४]

इस दुराचार का प्रचलन महान मुगलों के समय में बना रहा। प्रथम मुगल सम्राट बाबर में यह अवगुण विद्यमान था, जैसा कि उन्होंने स्वयं अपने सम्मरण में इसका संकेत किया है। मुहम्मद यासीन का विचार कि 'आभिजात्यवर्ग द्वारा अपने अनुचरवर्ग में एक बड़ी संख्या में सुन्दर बाल भृत्यों को रखना प्रथागत था'[१५] अतिरंजित प्रतीत नहीं होता। टेवर्नियर सूरत के मुसलमान गवर्नर के विरुद्ध दरवेशों एवं फ़कीरों के भीषण विद्रोह का वर्णन करते हैं, जिनमें से एक के पुत्र को उसने अनैतिक कार्य के लिए बलात् रोक लिया था।[१६] अबुल फज़ल एवं बदायूँनी जैसे

---

११ यह मलिक जमालुद्दीन याकूत था जो अमीर-ए-आखोर के महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त कर दिया गया था ए० बी० एम० हबीबुल्ला (फाउंडेशन ऑव मुस्लिम रूल इन इण्डिया', इलाहाबाद, १९६१ पृ० ११६) सहमत हैं कि ' अमीर ए-हाजिब की भांति अमीर ए आखोर, एक महान विशेषाधिकार युक्त एवं शक्तिशाली पद था जो प्रतीत होता है कि सदैव एक तुर्क द्वारा ही ग्रहण किया जाता था।

१२ अशरफ़, पृ० ३२१–२२, वे इसे कुबुस नामा (ब्रिटिश म्यूजियम पाण्डुलिपि ४७–४८) से प्रमाणित करते हैं। यह विशिष्ट लेखांश इसके बम्बई संस्करण से निकाल दिया गया है।

१३ १३५१–१३८८ ई०।

१४ आर० सी० जौहरी, फ़ीरोज़ तुग़लक' (आगरा १९६८), पृ० १२६।

१५ 'इस्लामिक इण्डिया', पृ० १०७।

१६ वही।

विख्यात इतिहासकारो के ग्रन्थो मे इस दुराचार के उल्लेख और अधिक प्रबोधक हैं। अबुल फज़ल अनौपचारिक रूप से वर्णन करते हैं कि शाह कुली खाँ मेहरम, काबुल खाँ नामक लडके से प्रेम करते थे तथा इस सामाजिक नीति के उल्लघन के कारण अकबर ने उन्हें फटकारा था।[१७] बदायूँनी ने विशेषरूप से खानजमाँ अलीकुली खाँ के दृष्टान्त का वर्णन किया है, जो शहीम बेग नामक लडके से दिलोजान से प्रेम करते थे।[१८] वे "शहीम बेग के प्रति आश्चर्यजनक अनुराग प्रदर्शित करते थे और उसे 'मेरे बादशाह' कहते थे, तथा उसे प्रसन्न करने मे स्वय को पूर्णरूपेण समर्पित कर देते थे, और अनेक बार साधारण परिचारक की भाँति उसकी सेवा करते थे तथा ऐसा करते समय उसके समक्ष खडे रहते थे ·· ····।"[१९] समान चित्रमय उदाहरण रसखान का है जो हिन्दी के विख्यात मुसलमान कवि थे। वे अपने जीवन के प्रारम्भिक चरण मे एक बनिए के पुत्र पर आसक्त हो गए थे।[२०] परिणामस्वरूप लडके के सम्बन्धियो ने उनके साथ दुर्व्यवहार किया। तत्पश्चात् उन्होने अपना प्रेम भगवान कृष्ण के प्रति सक्रमित कर दिया तथा उन्ही के विषय मे काव्य रचनाएँ की। उनका उदाहरण इस तथ्य का द्योतक है कि जबकि तत्कालीन मुस्लिम समाज इस सामाजिक दुराचार से ग्रसित था, हिन्दू लोग प्राय इसका अनुमोदन नही करते थे। मौलवी अब्दुल वली, सरमद की जीवनी मे इस दुराचार का उल्लेख करते है, अराजकतावादी विख्यात सूफी अभय चन्द नामक एक हिन्दू लडके पर मोहित हो गए थे, यहाँ तक कि उन्होंने उसके द्वार पर धरना दे दिया। अन्ततोगत्वा उन्हे अपने प्रियतम को अपने साथ ले जाने की अनुमति प्राप्त हो गई।[२१]

१८वी शताब्दी मे सुसस्कृत मुग़ल राज्य के पतन एव विघटन के साथ यह दुराचार न केवल सतत रूप से चलता रहा अपितु इसने एक वृहत्काय रूप धारण कर लिया। किसी नैतिक, धार्मिक अथवा प्रशासनिक नियन्त्रण के अभाव मे पतित समाज की दारुण प्रवृत्तियाँ प्रमुक्त हो गईं। मुहतसिब की सस्था प्रभावहीन बन गई। राजनैतिक अराजकता ने इस सुलभ मनोरजन को जनसाधारण मे भी सामान्य बना दिया। नैतिक अथवा वैधानिक रूप से दुष्कर्माग्रो पर समाज का कोई प्रतिबन्ध अथवा नियन्त्रण न रहा।

---

१७. 'अकबरनामा' (बेवरिज), भाग २, पृ० १२१।

१८. 'मुन्तख़ाबुत्त्वारीख', (लोवे), भाग २, पृ० १३–१४।

१९. वही, पृ० १४।

२०. आर० सी० शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० २३१।

२१. "सरमद : हिज़ लाइफ़ एण्ड एक्ज़ीक्यूशन", 'इण्डियन ऐंटिक्वरि', भाग ३६, १९११, पृ० ११९–२६।

परिशिष्ट (ब)

शाह् वलीउल्लाह् (१७०३–१७६२) की प्रारम्भिक जीवनी

दिल्ली के शाह् वलीउल्लाह् का जन्म, औरगजेब की मृत्यु, जो भारत मे मुस्लिम शक्ति के पतन को अकित करती है, से चार वर्ष पूर्व १७०३ मे हुआ था। उनका नाम अजीमुद्दीन था, यद्यपि कालान्तर मे वे वलीउल्लाह् (ईश्वर के प्रतिनिधि) के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके पिता शाह अब्दुर्रहीम, औरगजेब द्वारा आज्ञप्त फतावा-ए-आलमगीरी के सकलनकर्त्ताओ मे से एक थे। पाँच वर्ष की आयु मे वे स्कूल मे दाखिल हुए। सात वर्ष की आयु मे उन्होने रमजान के उपवास रखना तथा प्रतिदिन नमाज पढना प्रारम्भ कर दिया। उसी वर्ष उन्होने कुरान का अध्ययन समाप्त कर लिया तथा फारसी मे शिक्षण प्राप्त करने लगे। दस वर्ष की आयु मे उन्होने फारसी भाषा मे दक्षता प्राप्त करली। वे अपने पिता द्वारा ही नक्शबन्दिया सिलसिले मे दीक्षित हुए तथा सूफी धर्म प्रचार मे अपना समय व्यतीत करने लगे। वे जब केवल सत्रह वर्ष के थे तो उनके पिता ने उन्हे खिलाफत प्रदान की। बारह वर्ष तक वलीउल्लाह् अध्यापन कार्य करते रहे। तत्पश्चात् वे मक्का चले गए जहाँ एक वर्ष से अधिक समय तक रहे। इस अवधि मे उन्होने दो बार – १७३० तथा १७३२ मे हज की। वे हज्जाज के महाविज्ञो के प्रभाव मे आए, जिनसे उन्होंने शिक्षा ग्रहण की। मदीना मे उन्होने शेख अबू ताहिर मुहम्मद इब्न इब्राहीम उल कुरदी[1] से हदीस का ज्ञान प्राप्त किया तथा शेख सुलेमान मग़रिबी ने उन्हें मलिकी न्यायशास्त्र की शिक्षा प्रदान की। इनके अतिरिक्त उन्होने शेख वसनावी एव ताजुद्दीन अल-हनफी[2] जैसे अन्य अरबी विद्वानो से शिक्षा ग्रहण की। इसी समय उनके महान समकालीन मुहम्मद इब्न अब्दुल वहाब भी इन्हीं धार्मिक स्थानो पर अध्ययन कर रहे थे तथा सम्भवतः अन्य के साथ इन्ही अध्यापकों के निर्देशन मे।[3] तत्पश्चात् वे दिल्ली लौट आए तथा शेष जीवन देश मे कट्टर इस्लाम धर्म के लक्ष्य समर्थन में व्यतीत किया।

---

१. शाह् वली ... लतीफ़ की तर्ज ... ख़्क़' (दिल्ली, १८६७), पृ० २८।

२ ... उनकी ... १९५२), पृ० ७।

एच०

परिशिष्ट (स)

शाह वलीउल्लाह का अहमदशाह अब्दाली तथा अन्य व्यक्तियो को सदेश

अहमदशाह अब्दाली को प्रेषित पत्र मे शाह वलीउल्लाह ने सर्वप्रथम मुसलमानो की भारत विजय मे हुए सघर्ष (जद्दोजहद) का सक्षिप्त उल्लेख किया। उन्होने लिखा कि एक दीर्घकालीन एव दृढ सकल्प युद्ध एव अनेक बलिदानो के पश्चात् वे दीर्घकाल तक लगभग समस्त देश पर अधिकार करने मे सफल हुए तथा इस्लाम के प्रसार एव 'तौर-ओ-तरीका' की स्थापना के लिए भरसक प्रयत्न किया। परन्तु उत्तरकालीन मुगल शासको की उपेक्षा एव अयोग्यता के कारण, देश मे गैर-मुसलमानो ने सिर उठाना प्रारम्भ कर दिया तथा विस्तीर्ण राज्य-क्षेत्रो को हडप लिया। इन हडपने वालो मे मराठे सर्वप्रमुख थे। किन्तु यदि इस्लाम के गाजी उनके विरुद्ध अभियान हेतु कमर कस लेते तो मराठो का उन्मुलन कोई दुष्कर कार्य न था। उन्होने आगे लिखा कि मराठों की कौम एक अलग कौम थी, परन्तु उन्हे गैर मराठो का सहयोग प्राप्त था। अत यदि इन गैर-मराठों को उनसे अलग कर दिया जाए तो मराठो का दमन सहज ही किया जा सकेगा। "अलगरज, कौमे मरहटा का फितना हिन्दुस्तान के अन्दर बहुत बडा फितना है। हक ताला भला करे उस शख्स का जो इस फितने को दबाए।" गैर-मुसलमानो की एक अन्य कौम जाटो की थी। जाटो ने आगरा एव दिल्ली के मध्य राज्य-क्षेत्र को हडप लिया था। वे आरम्भ मे काश्तकारी करते थे, तथा शाहजहाँ के समय मे इस कौम को आदेश था कि घोडो पर सवार न हो, बन्दूक अपने पास न रखें तथा अपने लिए गढी न बनाएँ। परन्तु उत्तरकालीन मुस्लिम शासको ने उपेक्षा एव अनासक्ति की नीति का अनुसरण किया। फलत. जाटो की कौम शक्तिशाली एव विद्रोही कौम बन गई। वलीउल्लाह ने विस्तार से उल्लेख किया कि किस प्रकार कभी-कभी मन्त्रियो ने जाटो का पक्ष लिया, जिसके परिणामस्वरूप उनकी शक्ति बढती चली गई। तथापि जाटो का दमन करना सरल कार्य था क्योंकि उन्होंने जिन क्षेत्रो पर अधिकार कर लिया था वे उन मुस्लिम आभिजात्यो के थे, जिनके वशज अभी जीवित थे तथा यदि उनको उचित रूप में सहायता की जाती तो वे निस्सदेह उन्हे पुन प्राप्त करना चाहते।

वलीउल्लाह ने अब्दाली को सूचित किया कि हिन्दुस्तान की वार्षिक आय सात, आठ करोड रुपये से कम न थी, परन्तु सरकार की दुर्बलता के कारण एक कौडी भी वसूल करना दुष्कर था। किसी समय बादशाह के पास एक लाख से भी अधिक सेवक थे, जिनमे प्यादे, सवार, अहले नक्दी तथा जागीरदार सभी सम्मिलित थे। बादशाहो की गफलत से नौबत यहाँ तक पहुँची कि जागीरदार अपनी जागीरें खो बैठे तथा सैनिको को वेतन तक न मिल पाता था। अन्तत सभी सेवक तितर-बितर हो गए तथा भिक्षा-पात्र अपने हाथ मे ले लिया। सलतनत का नाम के अतिरिक्त कुछ भी शेष न रहा। जब बादशाह के मुलाज़िमो का यह बुरा हाल था तो सामान्यत मुसलमानो की दयनीय दशा की कल्पना सहज ही की जा सकती थी। वे लोग नाना प्रकार के ज़ुल्मो एव बेरोजगारी के शिकार थे। "अलावा इस तगी और मुफ़लिसी के जब सूरजमल की कौम ने और सफ़दर जग ने मिलकर दहली के पुराने शहर पर धावा बोला, यह गरीब सब के सब बे खानुमा, परेशान और बेमाया हो गए—फिर मुतवातिर आसमान से कहत नाजिल हुआ। गरज़ कि जमाअते मुस्लमीन काबिले रहम है।" दूसरी ओर हिन्दू लोग समृद्ध थे तथा राजकीय सत्ता का उपभोग कर रहे थे। सक्षेप मे, "इस ज़माने मे ऐसा पादशाह जो साहबे इक्तदारो शौकत हो, और लशकरे मुखालफ़ीन को शक्स्त दे सकता हो, दूर अन्देश और जगे आजमा हो, सिवाय आँजनाब के कोई और मौजूद नहीं है। यकीनी तौर पर जनाबे आली पर फर्ज़ ऐन है—हिन्दुस्तान का कसद करना, और मरहटो का तसल्लुत तोडना और ज़ुअफ़ाए मुस्लमीन को ग़ैर मुस्लिमो के पजे से आज़ाद करना। अगर गुलबए कुफ़ मुआज़ल्ला, इसी अन्दाज़ पर रहा तो मुसलमान इस्लाम को फ़रामोश कर देंगे और थोडा ज़माना गुज़रेगा कि यह मुस्लिम कौम ऐसी कौम बन जाएगी कि इस्लाम और ग़ैर इस्लाम मे तमीज़ न हो सकेगी। यह भी एक बलाए अज़ीम है, इस बलाए अज़ीम के दफ़ करने की कुदरत बफ़ज़्ले खुदावद जनाब के अलावा किसी को मैसर नही है।"

वलीउल्लाह ने अहमदशाह अब्दाली से ईश्वर तथा इस्लाम के पैगम्बर के नाम पर प्रार्थना की, कि वह शत्रुओ का प्रतिरोध करने के लिए हिन्दुस्तान पर चढ़ाई करे "ताकि खुदाए ताला के यहाँ बडा सवाब जनाब के नामए ऐमाल मे लिख जाए और मुजाहिदीन फी सबीले अल्लाह की फहरिस्त मे नाम दर्ज हो जाए, दुनिया मे बे हिसाब गनीमतें मिलें और मुसलमान दस्ते कुफ़्फ़ार से खलासी पाजाएँ।" परन्तु वे मुसलमानो के घरों को लूट-पाट करने की भूल न करें जैसीकि नादिर शाह ने की थी। क्योकि उस स्थिति मे हिन्दू, सत्ता धारण किए रहगे तथा मुसलमान इतने निर्बल हो जाएँगे कि इस देश से इस्लाम का नाम ही मिट जाएगा। वलीउल्लाह ने अब्दाली को बतलाया कि खुदाए ताला ने मुजाहिदीन की मुख्य विशेषता के विषय मे फरमाया था कि "वो ग़ैरो पर सख्त दिल हैं और अपनो पर मेहरबान हैं।" उन्होंने यह भी फरमाया था कि वे उन्हें प्रेम करते हैं जो मुसलमानो पर कृपालु हैं तथा ग़ैर मुसलमानों पर कठोर हैं। अत जब अब्दाली भारत आएँ तथा उनकी सेना ऐसे स्थान पर पहुँचे

जहाँ पर मुसलमान तथा गैर मुसलमान दोनो रहते हो तो यह सावधानी रखना आवश्यक था कि 'किसी मुसलमान का माल न लूटा जाए तथा किसी मुसलमान की इज्जत मे फर्क न आने पाए।" वलीउल्लाह ने एक हदीस का हवाला दिया कि 'अल्लाह के नजदीक तमाम दुनिया का जवाल क़त्ले मुस्लिम के मुकाबले मे हेच है।" वलीउल्लाह ने यह लिखते हुए पत्र समाप्त किया कि यदि अब्दाली, पत्र मे लिखी गई बातो पर विचार करने की कृपा करें तथा हिन्दुस्तान पर आक्रमण करना स्वीकार करें तो उन्हें उद्देश्य प्राप्ति हेतु उनसे कही अधिक अवसर प्राप्त होगे जो उनकी दृष्टि मे थे।[1]

मात्र अफगान आक्रमणकारी को आमन्त्रित करना ही पर्याप्त न था, अत वलीउल्लाह ने स्थानीय मुस्लिम नेताओ को भी प्रेरित करना आवश्यक समझा कि वे अब्दाली को सहयोग प्रदान करें तथा मराठो व जाटो के विरुद्ध अभियान का बीडा उठाने म पहल करें। अत उन्होने विशिष्ट मुसलमानो का एक गुट सगठित करन का प्रयास किया तथा मीर बख्शी नजीबुद्दौला एव वज़ीर इमादुलमुल्क को लिखा कि वे उस पवित्र कर्त्तव्य का पालन करें। शाह वलीउल्लाह मराठो से युद्ध करने तथा उन्हें विनिष्ट करने हेतु देश मे नजीब को सर्वाधिक उपयुक्त मुस्लिम सरदार समझते थे। रुहेला सरदार प्रत्येक कठिनाई मे वलीउल्लाह से परामर्श लिया करता था।[2] शाह उसे, प्रतिद्वन्द्वियो पर पूर्ण विजय का आश्वासन देकर, प्रोत्साहित किया करते थे जिसके लिये उनकी प्रार्थनाएँ ईश्वर द्वारा स्वीकार करली गई थी।[3] उन्होने नजीब से, जोकि अब्दाली की भाँति एक अफगान था तथा अपनी जाति के लोगो की एक शक्तिशाली सेना का अध्यक्ष था, आग्रह किया कि वह मराठो एव अन्य गैर मुसलमानो से युद्ध करने मे पहल करे, तथा उन पर उसकी विजय का आश्वासन दिया। उन्होने नजीब को लिखा कि, "फकीर वलीउल्लाह अफाअना की जानिब से बाद सलाम मुहब्बत मशाम के वाज़ह हो कि नसरते मुस्लमीन के लिए यहाँ दुआ की जा रही है और सरवशे गैबी से आसारे कुबूल महसूस होते हैं। उम्मीद है कि अल्लाह ताला तुम्हारे हाथ पर तरीकाए 'जद्दोजहद' को जिन्दा करके उसके बरकात इस दुनियाँ मे और आखिरत मे अता फरमाएगा।"[4] नजीब के चिन्ता एव भय के समय मे वली-

---

१. पत्र सख्या २, 'सियासी मक्तूबात', पृ० ४५-५८, उर्दू अनुवाद पृ० ६७-११४, 'इस पत्र की कोई तिथि नही है परन्तु जैसाकि इसमें उल्लेख किया गया है कि एक अनुभवहीन युवक, जो एक पूर्वकालीन राज्यपाल का पौत्र था, बगाल की गद्दी पर आरूढ़ था, यह स्पष्ट है कि यह पत्र अप्रेल १७५६ तथा २ जनवरी १७५७ को क्लाइव द्वारा कलकत्ता पर अधिकार करने के मध्य लिखा गया होगा" (आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, "शाह वलीउल्लाह एण्ड द मराठा अफगान कॉन्टेस्ट फ़ॉर सुप्रिमेसी", जर्नल ऑव इण्डियन हिस्ट्री', भाग ४१, पृ० २ १-२२, फुटनोट)।

२. 'सियासी मकतूबात', पृ० २०२, इसके अतिरिक्त देखिए पत्र संख्या ७, पृ० १२०।

३ वही, पत्र संख्या ३ तथा ४, पृ० ११५-१६।

४. वही, पत्र सख्या ३, पृ० ५८, उर्दू अनुवाद, पृ० ११५।

उल्लाह ने रुहेला सरदार के उत्साह सवर्धन हेतु उसे बार-बार लिखा कि वह मराठो के विरुद्ध अपना सघर्ष जारी रखे तथा आश्वासन दिया कि अन्त मे विजय उसी की होगी। वलीउल्लाह ने नजीब की कुशलता पर अपना सन्तोष व्यक्त करते हुए एव उसकी सफलता की कामना करते हुए लिखा कि, "पर्दए गैब मे मरहटा और जट का इस्तीसाल (उन्मूलन) मुकर्रर हो गया है, बस वक्त पर मौकूफ है जूंही कि अल्लाह के बन्दे कमर-ए-हिम्मत बाँधेंगे (मराठा सर्वोपरिता का) तिलिस्मे बातिल टूट जाएगा।"[५] एक अन्य पत्र मे सूफी सन्त ने नजीब को आश्वासन दिया कि शीघ्र ही वह मराठो पर विजय प्राप्त करेगा तथा जिसके लिए वह ईश्वर से प्रार्थना करते रहे थे। उन्होने लिखा कि हिन्दुस्तान मे तीन शत्रु जातियां थी तथा जबतक उन तीनो का उन्मूलन न किया जाएगा तबतक न कोई बादशाह आराम से बैठेगा, न कोई उमरा चैन से बैठेंगे और न जनता शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकेगी। अतः यह अभीष्ट था कि मराठो को पराजित करने के पश्चात् नजीब को जाटो के विरुद्ध प्रस्थान करना चाहिए तथा तत्पश्चात् सिखो के विरुद्ध। परन्तु उसे सावधान रहना चाहिए कि मुसलमानो की लूट-पाट अथवा उनका उत्पीडन न होने पाए। यदि इस मन्त्रणा का अनुसरण न किया गया तो उन्हे भय था कि उद्देश्य प्राप्ति न हो सकेगी।[६]

शाह ने गैर मुस्लिम सरदारो के विरुद्ध अभियानो का नेतृत्व करने की वाञ्छनीयता के विषय मे नजीब को बार-बार प्रभावित किया तथा उन पर उसकी विजय का आश्वासन दिया। १७६१ मे पानीपत की मराठा-पराजय के पश्चात् उन्होने नजीबुद्दौला से जाटो के विरुद्ध प्रस्थान करने का आग्रह किया। "हकीकत ये है", उन्होने लिखा, "कि फकीर ने आलमे रूया (स्वप्न लोक) मे कौमे जाट का इस्तीसाल इसी किस्म का देखा है जिस तरह कौमे मरहटा का इस्तीसाल हुआ है और यह भी ख्वाब मे देखा है कि मुसलमान, जाटो के देहात और किलाजात पर मुसल्लत हो गए हैं और वो देहातो किले मुसलमानो की जाए बूदोबाश बन गए है। गालिब गुमान ये है कि रुहेले जाटो के किलो मे अकामत गज़ी होंगे, ये चीज़ गैबुल गैब मे मुसम्ममो मुकर्रर है, फकीर को इस बारे मे जर्रा बराबर शक्को शुब्रा नही है।'[७] उन्होंने नजीब से जाटो के विरुद्ध अभियान प्रारम्भ करने की तिथि एवं समय सूचित करने को कहा ताकि वे अभियान प्रारम्भ होने से लेकर विजय प्राप्ति के समय तक ईश्वर से प्रार्थना करते रहें।[८]

इसी प्रकार शाह वलीउल्लाह अन्य मुस्लिम सरदारो एव विशिष्ट व्यक्तियो के सम्पर्क मे थे। उन्होने उन्हें प्रेरित किया कि वे गैर मुसलमानो के विरुद्ध नजीब को

---

५. वही पत्र संख्या ५, पृ० ११७।

६ वही, पत्र संख्या ६, पृ० ११८–१९।

७. वही, पत्र संख्या ७, पृ० १२०–२१।

८. वही, पृ० १२१; इसके अतिरिक्त देखिए पत्र संख्या ८, पृ० १२४।

सहयोग प्रदान करें तथा इस्लाम विरोधी शक्तियो के दमन हेतु भरसक प्रयत्न करें। उन्होंने भारतीय अफगानो,[९] बलोचियो एव अन्य मुसलमानो के समस्त वर्गों का समर्थन प्राप्त करने हेतु अपने प्रभाव का प्रयोग किया। उन्होने मज्दउद्दौला से कहा कि वे अफवाहो पर ध्यान न दें तथा मराठो एव जाटो के पतन मे विश्वास रखें जिसका निर्णय दिव्यलोक मे हो चुका था।[१०] उन्होंने ताज मुहम्मद खाँ बलोच से अनुरोध किया वे भ्रातृ मुस्लिम सरदारो से अपने विरोध समाप्त करें मूसा खाँ एव अन्य विशिष्ट व्यक्तियो से मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना कर अपनी समस्त सम्मिलित शक्ति जाटों के विरुद्ध लगादें।[११]

---

९. वही, रुहेलखण्ड के मौलाना सय्यद अहमद को सम्बोधित पत्र सख्या १९, पृ० १४१।
१० वही पत्र सख्या २४, पृ० १५०-५१।
११ वही पत्र सख्या २३, पृ० १४८-४९।

परिशिष्ट (द)

शाह ग्रब्दुल ग्रज़ीज़ का विख्यात फतवा

वस्तुत मूल फतवा तो फारसी भाषा मे है, किन्तु उसका अभिप्राय निम्न प्रकार है —

"...... ......इस नगर (दिल्ली) मे इमाम-उल-मस्लमीन किसी प्रभुत्व का उपभोग नही करता। वास्तविक शक्ति ईसाई पदाधिकारियों के हाथ मे है। इन पर कोई प्रतिबन्ध नही है, तथा 'कुफ्र' के ग्रादेशो के प्रख्यापन का ग्रर्थ है कि प्रशासन एव न्याय मे, शान्ति एव सुव्यवस्था के विषयों मे, व्यवसाय, वित्त एव राजस्व सग्रह के क्षेत्र में — हर स्थान पर 'कुफ्फार' सत्ताधिकारी हैं। हाँ, कुछ इस्लामी सस्कार ऐसे हैं यथा— जुमे ग्रौर ईद की नमाज, ग्रज़ान तथा गोवध, जिनमें वे कोई हस्तक्षेप नही करते, परन्तु इन सब संस्कारो का ग्राधार ही उनके लिए महत्वहीन है। वे निस्सकोच मस्जिदो को तोडते हैं तथा कोई मुसलमान ग्रथवा कोई जिम्मी नगर मे ग्रथवा उसके ग्रास-पास बिना उनकी ग्राज्ञा के प्रवेश नहीं कर सकता। यदि वे यात्रियो एव व्यापारियों को नगर मे जाने से नहीं रोकते तो यह उन्ही के हित मे है। दूसरी ग्रोर शुजाउल मुल्क तथा विलायती बेगम जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति बिना उनकी ग्राज्ञा के नगर मे जाने का साहस नही कर सकते। यहाँ (दिल्ली) से कलकत्ता तक ईसाइयो का पूर्ण नियन्त्रण है। निस्सदेह हैदराबाद, रामपुर, लखनऊ इत्यादि जैसे राज्यो मे उन्होने प्रशासन स्थानीय ग्रधिकारियों के हाथो मे छोड रखा है; परन्तु यह इस कारण है कि उन्होने उनका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया है तथा उनकी सत्ता के ग्रागे ग्रात्म-समर्पण कर दिया है।"[1]

---

१. शाह ग्रब्दुल ग्रज़ीज़, 'फतावा-ए-ग्रज़ीज़ी' (दिल्ली, १३११ हि०), पृ० १७।

परिशिष्ट (य)

अरब के वहाबी

अरब मे वहाबीवाद के संस्थापक मुहम्मद इब्न अब्दुल वहाब थे जो १७०३ मे अायायना मे उत्पन्न हुए थे।[1] उन्होने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा बसरा एवं मदीना मे प्राप्त की। चूंकि तत्कालीन अरब समाज सामाजिक एवं आर्थिक कुरीतियो से ग्रसित था, अब्दुल वहाब ने उसे सुधारने का बीडा उठाया। अपनी यात्रा एवं अध्ययन के मध्य वे सूफीवाद के प्रभाव मे आए। तत्पश्चात् वे इब्न तैमिया द्वारा समारम्भ बौद्धिक धर्मयुद्ध की ओर आकृष्ट हुए। इब्न तैमिया "नवीन प्रक्रियाओ के घोर शत्रु' थे, तथा उन्होंने "सन्तो की उपासना एवं मजारों की तीर्थयात्राओ के विरुद्ध अभियान चलाया।" अब्दुल वहाब ने इब्न तैमिया द्वारा व्याख्यित 'फिक' के हम्बली' मत का अनुसरण किया। दार्शनिको, धर्मशास्त्रियो एवं सूफियो के विरुद्ध इब्न तैमिया के तर्क का सार यह था कि ईश्वर के प्रति मात्र लौ लगाए रहना तथा ध्यानस्थ होना ही पर्याप्त न था अपितु उसकी इच्छा का पालन एवं अनुसरण करना आवश्यक था। वे 'तकलीद'[2] के विरोधी थे। उनका कुरान एवं सुन्ना की ओर लौटने का आह्वान तथा इजतिहाद' के अधिकार का दावा सुस्थापित धार्मिक प्रथाओ की उपस्थिति मे साहसिक प्रयास थे।

अब्दुल वहाब की शिक्षाओ मे भी समान विषय-वस्तु विद्यमान है। उन्होने किसी नवीन धर्म का प्रचार नही किया, परन्तु अनेक बातों को परित्यक्त अवश्य किया। उन्होने "भ्रष्टाचार एवं तत्कालीन पतन की शिथिलता को परित्यक्त किया। (उन्होने) मध्यकालीन साम्राज्य की व्यवस्थापनाओ एवं सांस्कृतिक समृद्धि को भी तिलाजलि दी। (उन्होंने) रहस्यवादी मार्ग की अन्तर्वर्ती संवेदनशीलता एवं अन्य पार्थिव पवित्रता का परित्याग किया। (उन्होने) न केवल दर्शन की अपितु धर्म

---

१ के० बी० फ़िल्बी 'अरेबिया' (लन्दन, १९३०), पृ० ८।

२ तकलीद का शाब्दिक अर्थ है अनुसरण करना। पारिभाषिक रूप में इसका अर्थ, इस्लाम के स्रोतों के रूप मे कुरान एवं हदीस के अतिरिक्त इजमा (सर्वसम्मति) तथा सुयोग्य धर्मोपदेशक के क़ियास (सिद्धान्त) को स्वीकार करना होता है।

विद्या की विदेशी प्रभावादिता को भी परित्यक्त किया।"[3] उन्होंने एकमात्र शास्त्रीय विधि पर आग्रह किया, जो उनके अनुसार धर्म का सार थी। पुरातन धर्म का पालन करना तथा एक ऐसे समाज की स्थापना करना जहाँ वह धर्म स्थापित हो, इस्लाम था। अन्य सब व्यर्थ एव अवांछित था।

अब्दुल वहाब मात्र धर्मोपदेशो मे विश्वास नही करते थे। वे उन्हें दृढ एव गम्भीर रूप से कार्यान्वित करने का ठोस इरादा रखते थे। उन्होंने दरिया (नज्द) के इब्न सऊद से मैत्री भी की ताकि सिद्धान्त एव प्रयोग साथ साथ चल सकें। १७६५ तक इब्न सऊद ने नज्द के अधिकाश भाग पर अधिकार कर लिया था, जिससे वे भौतिक अधिष्ठाता बन गए, जबकि अब्दुल वहाब धार्मिक पक्ष की देखभाल करने लगे। उनके द्वारा स्थापित शासन पद्धति कुरान तथा हदीस के आदेशों के यथावत् अनुरूप थी। राजनैतिक सर्वोपरिता इब्न सऊद के पुत्र एव उत्तराधिकारी अब्दुल अज़ीज़ के शासनकाल मे तबतक प्रसारित होती गई जबतक कि सम्पूर्ण नज्द अधिकार में न आगया। प्रसारण की प्रक्रिया १७९२ मे अब्दुल वहाब की मृत्यु के पश्चात् भी जारी रही। १८०३ मे हज्जाज़ पर आक्रमण तथा मक्का पर अधिकार किया गया। वहाबियो द्वारा 'पवित्र नगरों को धर्मद्रोह के कतिपय मोचाग्रो से विमुक्त करने[4]' के प्रयासो ने, तथा 'धर्म सुधार' के कतिपय अत्युत्सुक कृत्यो ने मुस्लिम समुदाय के बीच उन्हें बदनाम कर दिया। अरब के विस्तृत भू भागो पर वहाबी सर्वोपरिता की स्थापना को तुर्की अधिकारियो द्वारा सशय एव आतक की दृष्टि से देखा गया जिन्होंने इसे निकटवर्ती बगदाद एव बसरा के तुर्की प्रान्तो के लिए राजनैतिक सकट समझा। १८०३ मे एक ईरानी शीया ने अब्दुल अजीज़ का वध कर दिया और उनके पुत्र सऊद उनके उत्तराधिकारी बने। सऊद ने १८०६ में मक्का एव मदीना पर पुन अधिकार कर लिया, जिन्हें तुर्कों ने कुछ समय पूर्व पुन विजित कर लिया था। अपनी शक्ति सुदृढ करने के पश्चात् सऊद ने अब सीरिया, ईराक तथा फारस की खाडी के क्षेत्र को अपने प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत लाने का प्रयास किया।

अरब शक्ति का पुनरुत्थान तथा मक्का एव मदीना जैसे पवित्र नगरो का वहाबियो के हाथो मे चला जाना ऐसी घटनाएँ थी जिन्होंने तुर्की सुल्तान की भौतिक एव आध्यात्मिक सर्वोपरिता को गम्भीर आघात पहुँचाया, क्योंकि सिद्धान्तत वह दोनो पवित्र नगरो के पालक एव सरक्षक के अतिरिक्त मुस्लिम समुदाय के धर्माध्यक्ष एव खलीफा भी थे। साथ ही फारस की खाडी मे वहाबी प्रभाव का उद्गम भारत मे अग्रेज सत्ताधिकारियों के लिए अत्यधिक व्यग्रता का लक्षण था। १८०९ मे बम्बई सरकार ने एक नौ-सेना कैप्टिन वेनराइट एव कर्नल स्मिथ के नेतृत्व में भेज दी

---

३ डब्ल्यू० सी० स्मिथ 'इस्लाम इन मॉडर्न हिस्ट्री' (प्रिन्सटन, १९५७), पृ० ४२।

४ फ़िल्बी पृ० ८३।

जिन्होंने मसकट के इमाम के सहयोग से वहाबियो को पराजित कर दिया।[५] वहाबियो का दमन करने हेतु तुर्कों ने भी मिस्र के मुहम्मद अली पाशा से सहायता मांगी। १८१८ तक वहाबियो की राजनैतिक शक्ति पूर्णत: विनिष्ट हो गई परन्तु उनके द्वारा प्रस्तुत नैतिक एव सामाजिक पुनरुत्थान का विचार बना रहा।

---

५ 'सिलेक्शन्स फ्रॉम द रेकॉर्ड्स ऑव द गवर्नमेण्ट ऑव बेङ्गाल, भाग ४२।

परिशिष्ट (र)

भारत में वहाबी मत प्रचार के मुख्य तत्व

भारत में वहाबी मत-प्रचार ने निम्नांकित तत्वों पर अनवरत रूप से आग्रह किया[1] :—

(१) भारतीय मुसलमान स्वयं को नरक से बचाने हेतु काफिर के विरुद्ध जिहाद अथवा पतित भूमि से पलायन (हिजरत) का विकल्प रखता है।

(२) जो दूसरों को धर्मयुद्ध अथवा पलायन से रोकेंगे वे हृदय से धूर्त हैं।

(३) जिस देश में शासकीय-धर्म इस्लाम धर्म से भिन्न है, वहाँ हज़रत मुहम्मद के आदेश लागू नहीं हो सकते।

(४) मुसलमानों का यह कर्तव्य है कि एक होकर काफिरों से युद्ध करें।

(५) जो युद्ध में भाग लेने में असमर्थ हैं, उन्हें सच्चे धर्म के देश में जा: बसना चाहिए।

(६) धर्म-युद्ध एक ऐसा युद्ध है जो धर्म के लिए लड़ा जाता है। एक मुसलमान का प्रथम कर्तव्य भारत में अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध धार्मिक विद्रोह करना है।

(७) जो भेंट देता है तथा युद्ध में भी भाग लेता है वह ईश्वर से सात हजार गुना प्राप्त करेगा। जो ईश्वर के इस कार्य में एक योद्धा को सन्नद्ध करता है वह एक शहीद का श्रमफल प्राप्त करेगा।

(८) कायर मत बनो; दिव्य नेता का साथ दो; तथा काफिर पर प्रहार करो।

(९) ईश्वर न करे मुसलमान ऐसे देश में मरें जो काफिरों द्वारा शासित हों।

(१०) जब तुम्हें कभी न कभी मरना ही है, तो क्या ईश्वर की सेवा में अपना जीवन अर्पित करना श्रेयस्कर नहीं है ?

---

[1] हण्टर, पृ० ७०।

परिशिष्ट (ल)

उत्तरकालीन मुग़लों का कालक्रम
(१७०७ से १८५८ ई० तक)

१७०७–१७१२	बहादुर शाह प्रथम
१७१२–१७१३	मुइज़्ज़ुद्दीन जहांदार शाह
१७१३–१७१६	फर्रुखसीयर
१७१६	निकोसीयर
१७१६	रफ़ीउद्दरजात
१७१६–१७४८	मुहम्मद शाह
१७४८–१७५४	अहमद शाह
१७५४–१७५६	आलमगीर सानी
१७५६–१८०६	शाह आलम द्वितीय
१८०६–१८३७	अकबर शाह द्वितीय
१८३७–१८५८	बहादुर शाह द्वितीय

परिशिष्ट (व)

अवध के वज़ीरो एवं बादशाहो का कालक्रम
(१७२२ से १८५६ ई० तक)

१७२२–१७३६	सम्रादत खाँ बुरहान उल मुल्क
१७३६–१७५४	अबुल मन्सूर खाँ सफदर जंग
१७५४–१७७५	शुजाउद्दौला
१७७५–१७६७	आसफ़ुद्दौला
१७६८–१८१४	सआदत अली खाँ
१८१४–१८२७	गाज़ीउद्दीन हैदर (नवाब १८१४–१६ बादशाह १८१६–२७)
१८२७–१८३७	नसीरुद्दीन हैदर
१८३७–१८४२	मुहम्मद अली शाह
१८४२–१८४७	अमजद अली शाह
१८४७–१८५६	वाजिद अली शाह

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

(अ) पूर्वकालीन ग्रन्थ

(i) उर्दू ग्रन्थ—

मीर हसन दहलवी : *मसनवियात-ए-मीर हसन दहलवी* (नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, १६४५)।

मीर हसन दहलवी : सिहरुल बियाँ (नेशनल प्रेस, इलाहाबाद, १६२५)।

„ „ : तज़किरा शुअ्रा-ए-उर्दू (अलीगढ़, १६२२)।

हसन, काज़ी मुर्तज़ा : हदीकतुल आकालीम, १७८१ में रचित (न० कि० प्रेस, लखनऊ, १८७६)।

(ii) फ़ारसी ग्रन्थ—

अबुल फज़ल : आईन-ए अकबरी, भाग १, अंग्रेज़ी अनुवाद, एच० ब्लॉकमेन (लन्दन, १८७३)।

अबुल फज़ल : *अकबर नामा*, अंग्रेज़ी अनुवाद, एच० बेवरिज, ३ भाग (कलकत्ता, १६०७-१२)।

अल बदायूँनी, अब्दुल कादिर : मुन्तखाबुत्तवारीख, अंग्रेज़ी अनुवाद, डब्ल्यु० एच० लोवे, भाग २, (लन्दन, १८८४)।

वलीउल्लाह, शाह : शाह वलीउल्लाह के सियासी मकतूबात, उर्दू अनु० खलीक अहमद निज़ामी, (अलीगढ़, १६५१)।

सरहिन्दी, शेख़ अहमद : मकतूबात-ए-इमाम-ए-रब्बानी, ३ भाग (अहमदी प्रेस, दिल्ली, १२८८ हि० तथा न० कि० प्रेस, लखनऊ, १८७७)।

(iii) अरबी ग्रन्थ—

वलीउल्लाह, शाह : हुज्जतुल्लाह-अल-बालिघा (कराची, १६५३), उर्दू अनुवाद खलीक अहमद सम्भली, 'आयातुल्ला-ए-कामिला' (*कुतुबखाना इस्लामी, लाहौर, १८६७*)।

वलीउल्लाह शाह	अलजुज-ए-लतीफ की तरजुमातुलग्रब्दुल जईफ (दिल्ली, १८९७)।
वलीउल्लाह शाह	इन्साफ फी बयान-ए-सबावुल इख्तिलाफ़, मूलपाठ उर्दू अनुवाद सहित (दबदबा ए ग्रहमदी, लखनऊ, १३०५ हि०)।
वलीउल्लाह शाह	फैसलातुल वहदतुलवुजूद वश्शहूद (ग्रहमदी प्रेस, दिल्ली, १३२४ हि०)।
वलीउल्लाह शाह	तफहीमात ए इलाहिया (मतबूग्रा इल्मी मजलिस, दभिल)।

(IV) अंग्रेजी ग्रन्थ—

वेवरिज, ए० एस० (ग्रनु०)	बाबरनामा ग्रॉर मेमोग्रर्स ग्रॉव बाबर, २ भाग, १९२१।
गुलाम हुसेन, मिर्जा	सियारुलमुताखिरीन, ग्रनु० भाग १, ब्रिग्स (१८३२) भाग २ तथा ३ हाजी मुस्तफा (एन० रेमण्ड, कलकत्ता, १७८९)।
होजेज, ग्रार० ए० विलियम	ट्रेवल्स इन इण्डिया ड्यूरिंग द यीग्रर्स १७८०-८३ (लन्दन, १७९३)।
पोलियर, ऐन्टोनी लुई हेनरी	शाह ग्रालम II एण्ड हिज कोर्ट, सम्पादक पी० सी० गुप्ता (एस० सी० सरकार एण्ड सन्स लि०, कलकत्ता, १९४७)
ट्विनिंग, टॉमस	ट्रेवल्स इन इण्डिया, ए हण्ड्रेड यीग्रर्स ग्रगो (लन्दन, १८९३)

(ब) समकालीन अप्रकाशित ग्रन्थ

(I) उर्दू ग्रन्थ—

ग्रब्दुल ग्रजीज दहलवी, शाह	कुल्लियात ए ग्रजीज (सुलेमान सग्रह, मौलाना ग्राजाद लाइब्रेरी मु० वि० वि० ग्रलीगढ)
इक्तिदार उद्दौला	तारीख ए इक्तिदारिया (निजाम लाइब्रेरी हैदराबाद)
ऐशी, नवाब तालिब ग्रली	दीवान ए ऐशी (सुलेमान सग्रह, मौ० ग्रा० लाइब्रेरी, ग्रलीगढ)
कासिम दहलवी, हकीम मीर कुदरतुल्ला खाँ	कुल्लियात ए कासिम (ग्रजुमन तरक्की ए उर्दू, ग्रलीगढ़)
जुरग्रत कलन्दर बख्श	कुल्लियात ए जुरग्रत, १८१९ में कलकत्ता में प्रतिलिखित (मौ० ग्रा० लाइब्रेरी, ग्रलीगढ)

नकवी, सय्यद गुलाम अली — इमदुस्सआदत (मौ० आ० लाइब्रेरी, अलीगढ़)

नामी काकोरवी, मुहम्मद अजमत अली — मुरक्क़ा ए खुसरवी १२८६ हि० मे रचित (मक्बूल आलम लाइब्रेरी, पटना)

मुसहफी, गुलाम हमदानी — दीवान ए-मुसहफी, ६ भाग (रजा लाइब्रेरी, रामपुर) भाग ६ (अ० त० उ०, अलीगढ़)

मुहम्मद, सय्यद — फरहग-ए-जेवरात (अ० त० उ०, अलीगढ़)

हसरत — दीवान ए-हसरत (र० ला०, रामपुर)

हिदायत, गुलाम हुसेन — कुल्लियात-ए हिदायत (अ० त० उ०, अलीगढ़)

(ii) फारसी ग्रन्थ—

'इश्क़' अज़ीमाबादी, आगा हुसेन कुली खाँ : नश्तर-ए इश्क, १२३३ हि० मे सम्पूरित (र० ला०, रामपुर)

ज़का, खूब चन्द — इयारुश्शुअरा, १८३१–३२ ई० मे सम्पूरित (अ० त० उ०, अलीगढ़)

(स) समकालीन प्रकाशित ग्रन्थ

(i) उर्दू ग्रन्थ—

अख्तर, वाजिद अली शाह — इश्क नामा मन्जूम (मतबा सुल्तानी, लखनऊ)

अली, मुहम्मद अहद — शबाब ए लखनऊ, विलियम नाइटन कृत 'प्राइवेट लाइफ ऑव एन ईस्टर्न किंग' का उर्दू रूपान्तर (अन्नाजिर प्रेस, लखनऊ १९१२)

आतिश, ख्वाजा हैदर अली : कुल्लियात ए आतिश (न० कि० प्रेस, लखनऊ, १९०७)

इन्शा, इन्शा अल्ला खाँ — कुल्लियात ए इन्शा अल्ला खाँ (न० कि० प्रेस, लखनऊ, १८७६)

" : रगी इन्शा (निजामी प्रेस, बदायूँ, १९२४)

करीम उद्दीन, मौलवी : तजकिरा तबक़ातुश्शुअरा ए हिन्दी, १८४७ मे रचित (अ० त० उ० प्रकाशन)

खाँ, सर सय्यद अहमद — आसारुस्सनादीद (दिल्ली, १८४३)

गरदीजी, सय्यद फतहअली हुसैनी — तजकिरा ए रेख्ता गोयाँ, सम्पादक मौलवी अब्दुल हक़ (अ० त० उ० औरंगाबाद, दक्षिण, १९३३)

मक्ता, महृद अली खाँ . दस्तूरुल कमाहत, सम्पादक इम्तियाज़ अली अर्शी (हिन्दुस्तान प्रेस, रामपुर, १९४३)

(iii) अंग्रेज़ी ग्रन्थ--

अली, मिसेज़ मीर हसन : ऑब्ज़र्वेशन्स ऑन द मुसलमान्स ऑव इण्डिया, २ भाग (लन्दन १८३२)

इर्वाइन ई० : द इन्कॉम्पॅरेबॅल् गेम ऑव चेस् (लन्दन १८२०)

एडम, डब्ल्यु : रिपोर्ट्स ऑन वर्नॅक्यूलर एज्यूकेशन इन बेङ्गॉल एण्ड बिहार, १८३५, १८३६ एण्ड १८३६ (कलकत्ता, १८६८)

एडवर्ड (सम्पादक) ऑटॅबाइऑग्रफि ऑव लुत्फुल्ला, ए मॅहैमिडन् जेन्टिलमॅन् एण्ड हिज़ ट्रान्ज़ैक्शन्स विद हिज़ फॅलो क्रीचर्स (१८५७)

एडवर्ड्स, एल० रेमिनिसेन्सेज़ ऑव फॉर्टी यीअर्स इन इण्डिया (लन्दन, १८७४)

क्रुक, विलियम (सम्पादक) : जाफर शरीफ कृत कानून-ए-इस्लाम अथवा इस्लाम इन इण्डिया, अनु० जी० ए० हर्कलॉट्स (ऑक्सफोर्ड, १९२१)

गालिब, असदुल्ला खाँ : सिलेक्शन्स फ्रॉम ग़ालिब, अनु० एच० सी० सारस्वत (नई दिल्ली)

जाफ़र शरीफ़ : कानून-ए-इस्लाम, अनु० जी० ए० हर्कलॉट्स (लन्दन, १८३२)

टॉड, कर्नल जेम्स : ऐनल्स एण्ड ऐन्टिक्विटीज़ ऑव राजस्थान, ३ भाग, प्रस्तावना सहित विलियम क्रुक द्वारा सम्पादित (ऑक्सफोर्ड, १९२०)

ट्रेवेल्यन, चार्ल्स ई० : ऑन द एज्यूकेशन ऑव द पीपुल ऑव इण्डिया (लन्दन, १८३८)

डफ़, अलेक्ज़ेन्डर : "स्टेट ऑव एज्यूकेशन इन बेङ्गाल एण्ड बिहार,' 'कलकत्ता रिव्यू,' १८४४

थॉर्नटन, एडवर्ड : इण्डिया · इट्स स्टेट एण्ड प्रॉस्पेक्ट्स (लन्दन, १८३५)

नाइटन, विलियम : द प्राइवेट लाइफ ऑव एन ईस्टर्न किंग, सम्पादक एस० बी० स्मिथ (ऑक्सफोर्ड, १९२१)

पार्क्स, एफ : वान्डरिंग्ज़ ऑव ए पिल्ग्रिम इन सर्च ऑव द पिक्चरिस्क, २ भाग (लन्दन, १८५०)

पोस्टन्स, मिसेज : वेस्टर्न इण्डिया इन १८३८, २ भाग (लन्दन, १८३९)

पैग्ज़, जे० : ए वॉइस फ्रॉम इण्डिया (लन्दन, १८४८)

पैरी, सर ई० : बर्ड्स आई व्यू ऑव इण्डिया (लन्दन, १८५५)

फिलिप्स, सी० एच० : लेटर्स फ्रॉम इण्डिया १८२९–३२ (लन्दन, १९३६)

फॉरबेस, जेम्स : ओरिएन्टल मेमोअर्स, २ भाग (लन्दन, १८५४)

फ़ॉस्टर, जॉर्ज : जर्नि फ्रॉम बेङ्गाल टु इंगलैण्ड, थ्रू द नॉर्दर्न पार्ट ऑव इण्डिया, कश्मीर, अफगानिस्तान एण्ड रश्या बाइ द केस्पियन सी, २ भाग, १८०८

बनर्जी, के० एम० ए प्राइज ऐसे ऑन नेटिव फीमेल एज्यूकेशन (कलकत्ता, १८४१)

बर्टन, सर आर० : सिन्ध एण्ड द रेसेज़ दैट इन्हेबिट द वैली ऑव द इण्डस (लन्दन, १८५१)

ब्लैण्ड, एन० . द पर्शिअन गेम ऑव चेस (लन्दन, १८५०)

मार्शमैन, जे० सी० : द लाइफ एण्ड टाइम्स ऑव कैरी, मार्शमैन एण्ड वार्ड, २ भाग (लन्दन, १८५९)

मित्तर, एस० सी० : ए डिस्कोर्स ऑन द डमेस्टिक लाइफ एण्ड कन्डिशन ऑव द बेङ्गॉली सोसाइटी (कलकत्ता, १८५६)

मेलकॉम, सर जॉन : गवर्नमन्ट ऑव इण्डिया (जॉन मुरे, लन्दन, १८३३)

मेथ्यूज़, ए० एन० (अनु०) : मिश्कतुल-मसाबीह (कलकत्ता, १८०९)

विलसन, एच० एच० : ग्लॉसरि ऑव इण्डियन टर्म्स (लन्दन, १८५५)

सय्यद, ए० एफ० : ऑन द महैमिडन्स ऑव इण्डिया (कलकत्ता, १८६२)

स्लीमैन, डब्ल्यू० एच० : ए जर्नि थ्रू द किंगडम ऑव अवध, २ भाग (लन्दन, १८५८)

" : रैम्बिल्स एण्ड रिकलेक्शन्स ऑव एन इण्डियन अफिशल, सम्पादक वी० ए० स्मिथ (ऑक्सफ़ोर्ड, १९१५)

हेबर, रिजाइनल्ड — नैरेटिव ग्रॉव ए जर्नि थ्रू द अपर प्रॉविन्सेज ग्रॉव इण्डिया, १८२४–१८२५, ३ भाग (जे० मुरे, लन्दन, १८२८)

(द) उत्तर समकालीन ग्रन्थ

(1) उर्दू ग्रन्थ—

ग्रहमद, मौलवी नज़ीर — तौबतुनसूह (न० कि० प्रेस, लखनऊ, १९३२)

ग्राज़ाद, मुहम्मद हुसेन — ग्राब ए-हयात (लाहौर, १९१७)

खाँ, मुहम्मद इमाम ग्रली (सम्पा०) — ग्रासार-ए-यादगार (मेयो त्स्वीर ग्रालम प्रस, लखनऊ, १९०२)

खाँ, सर सय्यद ग्रहमद : सीरत-ए-फरीदिया (मुफीद-ए-ग्राम प्रेस, ग्रागरा, १८९६)

,, — तज़किरा ग्रहल-ए-दहली (कराची, १९५५)

खाँ सियादत हुसन सय्यद जलालुद्दीन हैदर — ग्रफसाना-ए-लखनऊ (पाण्डुलिपि, प्रो० मसूद हसन रिज़वी लाइब्रेरी, लखनऊ) १२९० हि० मे रचित

खाँ, हकीम नवाब ग्रली — शम्शुत्त्वारीख, भाग २ (राय साहब मुन्शी गुलाब सिंह, लखनऊ, १८९८)

ग़नी, नज़मुल — तारीख-ए-ग्रवध, भाग ४ (मतबा उलेलूम, मुरादाबाद, १९१३)

,, : ग्रखबारस्सनादीद, भाग २ (न० कि० प्रेस, लखनऊ, १९१८)

तमन्ना, राम सहाय — तारीखे सुग्रए ग्रवध (लखनऊ, १८७६)

नवल किशोर, मुन्शी — नादिरुल ग्रस्र (न० कि० प्रस, लखनऊ, १८६३)

राम, लाला श्री — खमखाना ए-जावीद, ४ भाग (लाहौर तथा दिल्ली, १९११–२६)

शरर, ग्रब्दुल हलीम — गुज़िश्ता लखनऊ (मर्केन्टाइल प्रेस, लाहौर)

,, — दरबार-ए-हरामपुर (कानपुर)

,, : मज़ामीन-ए-शरर, ४ भाग (गिलानी प्रेस, लाहौर १३४१ हि०)

शहबाज, सय्यद मुहम्मद ग्रब्दुल ग़फ़ूर : ज़िन्दगानी बेनज़ीर (न० कि० प्रेस, लखनऊ, १९००)

मोनियर विलियम्स, सर० एम० — मॉडर्न इण्डिया एण्ड द इण्डियन्स (लन्दन, १८७९)

लतीफ, सय्यद मुहम्मद — आगरा हिस्टॉरिकल एण्ड डेस्क्रिपटिव (कलकत्ता, १८९६)

हॉवैल, ए० — एज्यूकेशन इन ब्रिटिश इण्डिया प्रायर टु १८५४ एण्ड इन १८७०–७१ (कलकत्ता, १८७२)

हटर, डब्ल्यु० डब्ल्यु० — द इण्डियन मुसलमान्स (लन्दन १८७२)

(य) आधुनिक ग्रन्थ

(1) उर्दू ग्रन्थ—

अब्दुल हक — मरहूम दहली कॉलिज (अ० त० उ० दिल्ली, १९४५)

अब्दुल्ला बट (सम्पादक) : मकालात-ए-यॉम-ए-शाह इस्माइल शहीद (लाहौर, १९४३)

अब्दुल्ला, सय्यद — बहस-ओ-नजर (मकतबा उर्दू, लाहौर, १९५२)

" : शुअरा-ए-उर्दू का तजकिरा और तजकिरा निगारी का फन (मकतबा उर्दू, लाहौर, १९५२)

अली, ए० यूसुफ — अंग्रेजी अहद मे हिन्दुस्तान के तमद्दुन की तारीख (हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, १९३९)

" : हिन्दुस्तान के माशरती हालात (हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, १९२८)

अली, मुहम्मद अहद — मुरक्का-ए-अवध (अन्नाजिर प्रेस, लखनऊ १९१२)

अल्वी, अमीर अहमद : बहादुर शाह जफर (नामी प्रेस, लखनऊ, १९३५)

" · "हयात-ए-मुसहफी", 'निगार', जनवरी, १९३९

अहमद, मौलवी बशीरुद्दीन : वाकयाते दारुल हुकूमते दहली, ३ भाग (आगरा, १९१९)

अहमद, सय्यद तुफैल अहमद — मुसलमानो का रौशन मुस्तक्बिल (दिल्ली, १९४५)

" : रूहे रौशन मुस्तक्बिल (निजामी प्रेस, बदायूँ, १९४६)

आसी, अब्दुल बारी — 'इन्शा के कुछ नए हालात और ग़ैर मतबूआ कलाम', 'उर्दू', अक्तूबर, १९४५

इकराम, शेख मुहम्मद : मौज-ए-कौसर, द्वितीय संस्करण (फीरोज सन्स, कराची)
" : रोद-ए-कौसर (ताज आफिस, कराची)
कासमी तमकीन : तजकिरा रेख्ती (मज्मुल इस्लाम प्रेस, हैदराबाद दक्षिण, १९३०)
कादरी, हामिद हसन : दास्तान-ए-तारीख-ए-उर्दू (अजीजी प्रेस, आगरा, १९५७)
खाँ, सय्यद इसगर हुसैन : कदीम हुनर व हुनरमन्दान-ए-अवध (सरफराज कौमी प्रेस, लखनऊ, १९३६)
खयाल, नसीर हुसैन खाँ : मुगल और उर्दू (अख्रे जदीद प्रेस कलकत्ता, १९३३)
गिलानी, मनाजिर अहमान : हिन्दुस्तान में मुसलमानों का नज्म-ए-तालीम व तरबियत, २ भाग (नदवतुल मुसन्निफीन, दिल्ली, १९४४)
" : तजकिरा-ए-हज़रत शाह वलीउल्लाह, द्वितीय संस्करण (बिसात-ए-अदब, लाहौर, १९५२)
जाफर, सलीम : गुलजार-ए-नजीर (हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, १९५१)
जाफरी, रईस अहमद : वाजिद अली शाह और उनका अहद (किताब मंजिल, लाहौर, १९५८)
" : बहादुर शाह जफर और उनका अहद (किताब मंजिल, लाहौर, १९५५)
जोर, सय्यद मुहीउद्दीन कादरी : सरगुजश्त-ए-ग़ालिब (इब्राहीमिया मशीन प्रेस, हैदराबाद, १९३९)
" : रूह-ए-गालिब (इब्राहीमिया मशीन प्रेस, १९३९)
बशीर, मिर्जा मुहम्मद : सरगुजश्त-ए-गालिब (अजीजी प्रेस, आगरा, १९४२)
बिलग्रामी, सय्यद अली : तमद्दुन-ए-हिन्द (आगरा, १९१३)
बेग, मिर्जा फरहतुल्ला : इन्शा (मकतबा जामिया, दिल्ली, १९४३)
" : दहली की आखिरी शमां (दिल्ली प्रिंटिंग वर्क्स, दिल्ली)
" : मजामीन-ए-फरहत, भाग २ (मकतबा मईनुल अदब, लाहौर)

बेग, मिर्ज़ा ज़फर : रुह-ए-कलाम-ए-गालिब (निज़ामी प्रेस बदायूँ, १९३५)

चाँद, शेख : सौदा (अ० त० उ० औरंगाबाद दक्षिण, १९३६)

दास, बुलाकी : गुलदस्ता-ए-अवध (मुइर प्रेस, दिल्ली)

दुर्गा प्रसाद, राजा : तारीख़-ए-अजोध्या (न० कि० प्रेस, लखनऊ, १९०२)

नदवी, अब्दुल हुई : गुल-ए-रआना (मारिफ, आज़मगढ, १९२५)

नदवी, अब्दुल हसनात : हिन्दुस्तान की कदीम इस्लामी दर्सगाहें (दारुल मुसन्नफीन, आज़मगढ, १९३६)

नदवी, सय्यद अबुल हसन अली . सीरत-ए-सय्यद अहमद शहीद (लखनऊ, १९४८)

नदवी, अब्दुस्सलाम : शेरुलहिन्द, २ भाग (मारिफ, आज़मगढ, १९२६)

नदवी, मसूद आलम : हिन्दुस्तान की पहली इस्लामी तहरीक (रावलपिंडी, १९४८)

निज़ामी, खलीक अहमद (सम्पादक) : शाह वलीउल्लाह दहलवी के सियासी मकतूबात (अलीगढ, १९५१)

निज़ामी, बदायूँनी : इन्किलाब-ए-दहली (बदायूं, १९३१)

नियाज़ फतहपुरी : "नज़ीर मेरी नज़र मे," 'निगार', जनवरी, १९४०

नूरइलाही तथा मुहम्मद उमर नाटक सागर में दो बाब (दारुल अदब-ए-पंजाब, लाहौर, १९३५)

मखमूर अकबराबादी . रुह-ए-नज़ीर (गया प्रसाद एण्ड सन्स, आगरा, १९४६)

महर, गुलाम रसूल · सय्यद अहमद शहीद (किताब मंजिल, लाहौर, १९५४)

" : जमात-ए-मुजाहिदीन (किताब मंजिल, लाहौर १९५५)

महेश परशाद · खुतूत-ए-ग़ालिब (हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, १९४१)

मालिक राम : ज़िक्र-ए-गालिब (मक्तबा जामिया, दिल्ली, १९५०)

मियाँ, सय्यद मुहम्मद : उलेमा-ए-हिन्द का शानदार माज़ी, भाग २ (दिल्ली, १९५७), भाग ४ (एम० ब्रोंदर्स, किताबिस्तान, दिल्ली, १९६०)

मियाँ, सय्यद मुहम्मद : उलेमा-ए-हक, भाग १ (कुतुबखाना-ए-फखिरिया, मुरादाबाद, १९४६), भाग २ (दिल्ली, १९४८)

यूसुफ बुखारी, सय्यद : यह दिल्ली है (जमाल प्रेस, दिल्ली, १९४४)

रहबर, मुहम्मद दाऊद : "मुशायरे का मर्तबा और उसकी अहमियत," 'उर्दू' अप्रैल, १९४५

रहीम बख्श, मौलाना : हयात-ए-वली (अफज़लुल मतबे, दिल्ली, १३१९ हि०)

रिजवी, मुहतशाम हुसेन : "नज़ीर अकबराबादी और अवाम", 'निगार', जनवरी, १९४०

रिजवी, सय्यद मसूद हसन : लखनऊ का शाही स्टेज, भाग २ (तज़ीम प्रेस, लखनऊ, १९५७)

लच्छमी नरायन, राय : चमनिस्तान-ए-शुअरा, सम्पादक अब्दुल हक (अ० त० उ० औरंगाबाद दक्षिण, १९२८)

हाबी, इन्तज़ामुल्ला : गदर के चन्द उलेमा (नया किताब घर, दिल्ली)

" : ईस्ट इण्डिया कम्पनी और बागी उलेमा (नया किताब घर, दिल्ली)

" : इस्लामी *नज़्म-ए-तालीम का चौदह सौ साला* मुरक्का (जिशाह लिट्ररि अकादमी, कराची, १९६१)

शीरानी, महमूद : पंजाब में उर्दू (अ० त० उ०, लाहौर)

शेरवानी, अब्दुस्शहीद खाँ : बागी हिन्दुस्तान (मदीना प्रेस, बिजनौर, १९४७)

शौक रामपुरी, हाफिज़ अहमद अली खाँ : तज़किरा कामलान-ए-रामपुर (हमदर्द प्रेस, दिल्ली, १९२९)

स्प्रेंगर : यादगार-ए-शुअरा, अनुवादक तुफैल अहमद (हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, १९३२)

सय्यद अहमद दहलवी, मौलवी : रसूम-ए दहली, भाग १ (महबूब प्रेस, दिल्ली)

सरूर, आले अहमद : नए और पुराने चिराग (इदारा फरोग-ए-उर्दू, लखनऊ, १९५५)

सिद्दीकी, अबुल लैस : लखनऊ का दबिस्तान-ए-शायरी (अलीगढ, १९४४)

" : नज़ीर अकबराबादी--उनका अहद और शायरी (उर्दू अकादमी-ए सिन्ध, कराची, १९५७)

" : जुरअत--उनका अहद और इश्किया शायरी (उर्दू अकादमी-ए-सिन्ध, कराची, १९५२)

सिन्धी, उबैदुल्ला : शाह वलीउल्लाह और उनकी सियासी तहरीक (सिन्ध सागर अकादमी, लाहौर, १९५२)

,, : हिब ए इमाम वलीउल्लाह दहलवी की इजमाली तारीख का मुकद्दमा (लाहौर, १९४२)

हैरत दहलवी, मिर्जा हयात-ए-तय्यब (दिल्ली)

(ii) हिन्दी ग्रन्थ—

'अमन' गोपीनाथ : उर्दू और उसका साहित्य (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)

उदय शकर शास्त्री (सम्पादक) नज़ीर काव्य सग्रह (अपाला प्रकाशन, आगरा, १९७२)

उपाध्याय, रामजी *प्राचीन भारतीय साहित्य की सास्कृतिक भूमिका* (देव भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६६)

पणिक्कर, के० एम० : भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण (एशिया प॰लि॰ िग हाउस, बम्बई, १९५७)

फिराक गोरखपुरी उर्दू भाषा और साहित्य (भार्गव भूषण प्रेस वाराणसी, १९६२)

महेश प्रसाद इस्लामी त्यौहार और उत्सव (बनारस)

वर्मा, परिपूर्णानन्द वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन (प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, १९५९)

शुक्ल, रामचन्द्र हिन्दी साहित्य का इतिहास (इण्डियन प्रेस लि० प्रयाग स० १९८६)

(iii) अंग्रेजी ग्रन्थ—

अज़ीज़ अहमद स्टडीज इन इस्लामिक कल्चर इन द इण्डियन इन्वायरन्मन्ट (ऑक्सफोर्ड, १९६४)

अजीज, के० के० ब्रिटेन एण्ड मुस्लिम इण्डिया (लन्दन, १९६३)

अब्दुल कादिर फेमस उर्दू पोइट्स एण्ड राइटर्स (न्यू बुक सोसाइटी, लाहौर, १९४७)

अब्दुल लतीफ इन्फ्लुअन्स ऑव इंग्लिश लिट्रेचर ऑन उर्दू लिट्रेचर (फॉर्स्टर ग्रूम एण्ड क० लि०, लन्दन, १९२४)

अली, ए० युसुफ : ए कल्चरल हिस्ट्री ऑव इण्डिया ड्यूरिंग द ब्रिटिश पीअरिअड (डी० बी० तारापुरवाला सन्स, बम्बई, १६४०)

" : "मुस्लिम कल्चर एण्ड रिलिजस थॉट," 'मॉडर्न इण्डिया एण्ड द वेस्ट,' सम्पादक एल०एस०एस० ओ मैल्ली (ऑक्सफोर्ड, १६४१)

" (अनु०) : द होली कुरान, २ भाग (शेख मुहम्मद अशरफ, लाहौर, १६३७)

अली, मुहम्मद : ट्रांस्लेशन ऑव द होली कुरान (लाहौर, १६३४)

अली, सय्यद अमीर : द स्पिरिट ऑव इस्लाम (क्रिस्टोफर्स, लन्दन १६३५)

अशरफ, के० एम० : लाइफ एण्ड कण्डिशन ऑव द पीप्ल ऑव हिन्दुस्तान (जे० ए० एस० बी० लेटर्स, भाग १–४ १६३५)

" : "मुस्लिम रिवाइवलिस्ट्स एण्ड द रिवोल्ट ऑव १८५७", 'रिबेलियन १८५७', सम्पादक पी० सी० जोशी (पीपल्स पब्लिसिंग हाउस, दिल्ली, १६५७)

असीरी, फजल महमूद : स्टडीज इन उर्दू लिट्रेचर (शान्ति निकेतन, विश्व भारती, १६५४)

अहमद, कियामुद्दीन : द वहाबी मूवमन्ट इन इण्डिया (के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १६६६)

इकराम, एस० एम० : मुस्लिम सिविलिजेशन इन इण्डिया, सम्पादक अइस्ली टी० एम्ब्री (कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क, १६६४)

इर्वाइन, विलियम : द लेटर मुगल्स, सम्पादक जादुनाथ सरकार, २ भाग (कलकत्ता, १६२२)

एण्डरसन, जी० ए० : द डिवलपमेन्ट ऑव एन इण्डियन पॉलिसि (लन्दन, १६२१)

एण्ड्रयूस, सी० एफ० : जकाउल्लाह ऑव देहली (केम्ब्रिज, १६२६)

ओमान, जे० सी० : कस्टम्स, कल्टम्स एण्ड सुपरस्टीशन्स ऑव इण्डिया (लन्दन, १६०८)

" द ब्रेहमन, थीइस्ट एण्ड मुस्लिम्स ऑव इण्डिया, द्वितीय संस्करण (लन्दन)

ओ मेल्ली, एल० एस० एस० (सम्पादक) : मॉडर्न इण्डिया एण्ड द वेस्ट (ऑक्सफोर्ड, १६४१)

ओवेन, सिडनी जे० : द फॉल ऑव द मुगल एम्पायर (चौखम्बा संस्कृत सिरीज़, वाराणसी, १६६०)

कनिंघम, जे० आर० : 'एज्यूकेशन'', 'मॉडर्न इण्डिया एण्ड द वेस्ट', सम्पादक एल० एस० एस० ओ मेल्ली (ऑक्सफोर्ड, १६४१)

किदवइ, शेख एम० एच० : हरम पर्दा ऑर सिवलूजन (मुस्लिम बुक सोसाइटी, लाहौर, १६२०)

कुलकर्णी, वी० वी० ब्रिटिश डोमिनियन इन इण्डिया एण्ड ग्राफ्टर (भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १६६४)

कूपलैंण्ड, आर० : इण्डिया—ए रीस्टेटमन्ट (ऑक्सफोर्ड, १६४५)

" : द इण्डियन प्रॉब्लिम (ऑक्सफोर्ड, १६४५)

क्यूमिंग, जॉन : पॉलिटिकल इण्डिया १८३२-१६३२ (ऑक्सफोर्ड, १६३२)

" (सम्पादक) : मॉडर्न इण्डिया (ऑक्सफोर्ड, १६३१)

गिब्स, एच० ए० आर० : मॉहैमिडनिज़्म (लन्दन, १६४६)

गोयट्ज़, हर्मैन द क्राइसिस ऑव इण्डियन सिव्लिज़ेशन इन द एटीन्थ एण्ड अर्लि नाइन्टीन्थ सेन्च्युरीज़ (कलकत्ता, १६३६)

गोरेकर, एन० एस० : गिलम्पसज़ ऑव उर्दू लिटरेचर (जैको पब्लिसिंग हाउस, बम्बई, १६६१)

ग्रिफिथ्स, सर पर्सीवल जॉज़फ : द ब्रिटिश इम्पैक्ट ऑन इण्डिया (मैक्डनल्ड, लन्दन, १६५२)

" : मॉडर्न इण्डिया (मैक्डनल्ड, लन्दन, १६५७)

घुरये, जी० एस० : इण्डियन कॉस्ट्यूम (द पॉपूलर बुक डिपो, बम्बई, १६५१)

घोपाल, एच० आर० : ईकनॉमिक ट्रान्ज़िशन इन द बेङ्गॉल प्रेसिडेन्सि, १७६३—१८३३ (एन०के० प्रेस, लखनऊ, १६५०)

चोपडा, प्राणनाथ : सम ऐस्पैक्ट्स ऑव सोसाइटी एण्ड कल्चर ड्यूरिंग द मुगल ऐज १५२६-१७०७ (शिवलाल अग्रवाल एण्ड क० लि० आगरा, १६६३)

चौधरी, एस० बी० : सिविल डिस्टर्बन्सेज ड्यूरिंग द ब्रिटिश रूल इन इण्डिया, १७६५–१८५७ (द वर्ल्ड प्रेस लि०, कलकत्ता, १९५५)

छबरा, जी० एस० : सोशल एण्ड ईकनॉमिक हिस्ट्री ऑव द पंजाब, १८४९–१९०१ (एस० नागिन एण्ड कं०, जलन्धर सिटी, १९६२)

जमीला वृजभूषण : इण्डियन ज्वैलरि, ऑर्नमेन्ट्स एण्ड डिकोरेटिव डिज़ाइन्स (डी० बी० तारापुरवाला सन्स, बम्बई, १९६४)

" : द कॉसट्यूम्स एण्ड टेक्सटाइल्स ऑव इण्डिया (डी० बी० तारापुरवाला सन्स, बम्बई, १९५८)

जाफ़र, एस० एम० : एज्यूकेशन इन मुस्लिम इण्डिया (एस० मुहम्मद सादिक़ ख़ाँ, पेशावर, १९३६)

" : सम कल्चरल ऐस्पैक्ट्स ऑव मुस्लिम रूल इन इण्डिया (एस० मुहम्मद सादिक ख़ाँ, पेशावर, १९३९)

जैन, जे० सी० : लाइफ़ इन एन्श्येन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन जैन कैनन्स, (बम्बई, १९४७)

जैलनर, ए० ए० : ऐज्यूकेशन इन इण्डिया (बुकमेन एसोसिएट्स, न्यूयॉर्क, १९५१)

जोन्स, वी० आर० तथा एल० बेवन : विमिन इन इस्लाम (लखनऊ पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, १९४१)

जौहरी, आर० सी० : फ़ीरोज़ तुग़लक़ (आगरा, १९६८)

टाइटस, मुरे टी० : इण्डियन इस्लाम (ऑक्सफोर्ड, १९३०)

टेलोर, डब्ल्यु० सी० : द हिस्ट्री ऑव मंहैमिडनिज्म एण्ड इट्स सैक्ट्स (लन्दन, १८४६)

डॉड्वेल, एच० एच० (सम्पादक) : कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया भाग ५ तथा ६

ताराचन्द : इन्फ्लुअन्स ऑव इस्लाम इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान (कलकत्ता, १९५९)

दत्त, कालिकिंकर : सर्वे ऑव इण्डियाज सोशल लाइफ एण्ड ईकनॉमिक कण्डिशन इन द ऐटीन्थ सेन्चुरि, १७०७–१८१३ (के० एल० मुखोपाध्याय कलकत्ता, १९६१)

दत्त, आर० सी० : द ईकनॉमिक हिस्ट्री ऑव इण्डिया, भाग १ (द पब्लिकेशन्स डिविज़न, गवर्नमेन्ट ऑव इण्डिया दिल्ली, १९६०)

दास, एम० एन० : स्टडीज़ इन द ईक्नॉमिक एण्ड सोशल डिवलप्मन्ट ऑव मॉडर्न इण्डिया, १८४८-५६ (के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १९५९)।

देसाई, ए० आर० : सोशल बैक्‌ग्राउण्ड ऑव इण्डियन नेशनलिज्म (पॉपूलर प्रेस, बम्बई, १९५९)।

नाथ, आर० : "टैम्पिल ऑव भीतर गाँव", 'मार्ग', XXII, अंक २ मार्च, १९६९।

निज़ामी, खलीक अहमद "शाह वलीउल्लाह दहलवी एण्ड इण्डियन पॉलिटिक्स इन द ऐटीन्थ सेन्चुरि", *'इस्लामिक कल्चर'*, हैदराबाद, भाग २५, (१९५१)।

निज़ामी, तौफीक अहमद : मुस्लिम पॉलिटिकल थॉट एण्ड ऐकटिविटि इन इण्डिया ड्यूरिंग द फर्स्ट हाफ़ ऑव द नाइन्टीन्थ सेन्च्युरि (थ्री मैन्स पब्लिकेशन्स, अलीगढ़, १९६९)।

नुमान, मुहम्मद : मुस्लिम इण्डिया (किताबिस्तान, इलाहाबाद, १९४२)।

नूरुल्ला, सय्यद तथा नायक, जे० पी० : हिस्ट्री ऑव एज्यूकेशन इन इण्डिया ड्यूरिंग द ब्रिटिश पीरिअड (मैकमिलन एण्ड कं० लि०, बम्बई, १९४३)।

पणिक्कर, के० एम० : ए सर्वे ऑव इण्डियन हिस्ट्री (एशिया पब्लिशिंग हाउस बम्बई, १९६४)।

परुलेकर, रामचन्द्र (सम्पादक) : सर्वे ऑव इण्डिजिनस ऐज्यूकेशन इन द प्रॉविन्स ऑव बोम्बे, १८२०-३० (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९५१)।

फरीदी, एस० एन० : हिन्दू हिस्ट्री ऑव उर्दू लिट्‌रेचर (रामप्रसाद, आगरा, १९६६)।

फारूकी, ज़ीयाउल हसन : द देवबन्द स्कूल एण्ड द डिमाण्ड फॉर पाकिस्तान (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६३)।

फारूकी, बुरहान अहमद : द मुजद्दिद्‌स कन्सेप्शन ऑव तौहीद (शेख मुहम्मद अशरफ, लाहौर, १९४०)।

फिल्बी, जे० बी० : अरेबिया (लन्दन, १९३०)।

बक, मेजर सी० एच० : फेथ्स, फेअर्स एण्ड फेस्टिवल्स ऑव इण्डिया (कलकत्ता, १९१७)।

वसु पी० एन०	हिन्दू मुस्लिम ऐमिटि (कलकत्ता)।
बसु बी० डी०	द रुइन ऑव ट्रेड एण्ड इण्डस्ट्रीज, तृतीय संस्करण (आर० चटर्जी, कलकत्ता, १९३५)।
,,	हिस्ट्री ऑव ऐज्यूकेशन इन इण्डिया अण्डर द रूल ऑव द ईस्ट इण्डिया कम्पनी (कलकत्ता, १९३५)।
बाल्हेचेट, कैनिथ	सोशल पालिसि एण्ड सोशल चेन्ज इन वेस्टर्न इण्डिया, १८१७-१८३० (ऑक्सफोर्ड, १९५७)।
बिलग्रामी, सय्यद अमीर अली	ऐज्यूकेशन इन इण्डिया (लन्दन, १९०२)।
बीयस, जॉर्ज डी०	ब्रिटिश अटिट्यूडस टवॉर्ड्ज इण्डिया, १७१४-१८५८ (ऑक्सफोर्ड १९६१)।
बेग, अब्दुल्ला अनवर	सिन्स अवर फॉल (द आलमगीर असोशिएशन, लाहौर, १९३७)।
बेनी प्रसाद	इण्डियाज हिन्दू मुस्लिम क्वेस्चन (लन्दन, १९४६)।
बेली टी० ग्राहम	ए हिस्ट्री ऑव उर्दू लिटरेचर (लन्दन, १९३२)।
बोमन बहराम, बी० के०	ऐज्यूकेशनल कॉन्ट्रोवर्सीज इन इण्डिया (डी० बी० तारपुरवाला सन्स एण्ड क०, बम्बई १९४३)।
बोस, बी० सी०	मँहैमिडनिज्म (कलकत्ता, १९३१)।
भटनागर, ओ० पी० (सम्पादक)	स्टडीज इन सोशल हिस्ट्री (माडर्न इण्डिया) (इलाहाबाद १९६४)।
भटनागर, जी० डी०	अवध अण्डर वाजिदअली शाह (भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६८)।
मजूमदार आर० सी०	ग्लिम्प्सज ऑव बेङ्गॉल इन द नाइन्टीन्थ सेन्चुरी (के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १९६०)।
मजूमदार आर० सी०	हिस्ट्री ऑव द फ्रीडम मूवमन्ट इन इण्डिया, भाग १ (के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १९६२)।
मजूमदार आर० सी० (सम्पा०)	ब्रिटिश पैरामाउन्ट्सि एण्ड इण्डियन रिनसां २ भाग (भारतीय विद्या भवन बम्बई, १९६३, १९६५)।
मार्गोलियाथ, डी० एस०	'वहाबिज्म इन इण्डिया', ऐन्साइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम, भाग ४ (ल्यूजक एण्ड क०, लन्दन १९३४)।
मिर्जा, वाकर अली	हिन्दू-मुस्लिम प्राब्लिम (थैकर, बम्बई, १९४१)।

मिर्ज़ा, एम० डब्ल्यू०	द लाइफ एण्ड वर्क्स ऑव अमीर खुसरो (कलकत्ता, १९३५)।
मुखर्जी, रामकृष्ण	द राइज़ एण्ड फॉल ऑव द ईस्ट इण्डिया कम्पनी (बर्लिन, १९५५)।
मुजीब, एम०	द इण्डियन मुस्लिम्स (जॉर्ज एलन एण्ड अनविन लि०, लन्दन, १९६७)।
मुरे, एच० जे० आर०	हिस्ट्री ऑव चेस (ऑक्सफ़ार्ड, १९१३)।
मुहम्मद सादिक	हिस्ट्री ऑव उर्दू लिट्रेचर (ऑक्सफोर्ड, १९६४)।
मैक्डॉनल्ड डी० बी०	"दारुल हर्ब" एण्ड "दारुल इस्लाम", 'ऐन्साइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम', भाग १ (ल्यूज़ैक एण्ड क०, लन्दन, १९१३)।
मेह्यू, आर्थर	ऐज्यूकेशन ऑव इण्डिया, १८३५–१९२० (फैबर एण्ड ग्वीयर, लन्दन, १९२६)।
	क्रिश्चिऐनिटि एण्ड द गवनमैन्ट ऑव इण्डिया (फैबर एण्ड ग्वीयर, लन्दन, १९२९)।
मैन्सहार्ट, क्लिफोर्ड	द हिन्दू-मुस्लिम प्रॉब्लिम इन इण्डिया (जार्ज एलन एण्ड अनविन लि०, लन्दन, १९३५)।
यासीन, मुहम्मद	ए सोशल हिस्ट्री ऑव इस्लामिक इण्डिया (लखनऊ, १९५८)।
रहमान, एफ	"द थिंकर ऑव द क्राइसिस शाह वलीउल्लाह', 'पाकिस्तान क्वार्टर्लि', v/२, समर १९५६।
राम गोपाल	इण्डियन मुस्लिम्स (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९५९)।
राम गोपाल	ब्रिटिश रूल इन इण्डिया (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६३)।
रिज़वी, एस० ए० ए०	मुस्लिम रिवाइवलिस्ट मूवमन्ट इन नॉर्दर्न इण्डिया इन द सिक्स्टीन्थ एण्ड सेवन्टीन्थ सेन्च्युरीज़ (इलाहाबाद, १९६५)।
रॉकिंग, जी० एस० ए०	'हिस्ट्री ऑव द कॉलिज ऑव फोर्ट विलियम फ्रॉम इट्स फर्स्ट फाउण्डेशन", बेङ्गॉल पास्ट एण्ड प्रिज़ेन्ट', भाग २१, १९२०।

रोवक, टॉमस (सम्पादक) : ॲनल्स ऑव द कॉलिज ऑव फोर्ट विलियम (कलकत्ता, १८१६)।

रॉस, सर ई० डेनिसन : हिन्दू मैहैमिडन फ़ीस्ट्स (कलकत्ता, १६१४)।

लखनपाल, पी० एल० : गालिब, द मैन एण्ड हिज़ वर्स (इन्टर्नेशनल बुक्स, दिल्ली, १६६०)।

लायल, सर एल्फर्ड : द राइज़ एण्ड इक्सपैन्शन ऑव द ब्रिटिश डोमिनियन इन इण्डिया (जे० मुरे, लन्दन, १६०७)।

लायल सी० जे० : "हिन्दुस्तानी लिट्रेचर", 'ऐन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (नवाँ संस्करण, भाग ११)।

वदूद, क़ाज़ी अब्दुल : "द मुसलमान्स ऑव बेङ्गाल", 'स्टडीज़ इन बेङ्गॉल रिनैसाँ', सम्पादक ए० सी० गुप्ता, जादवपुर।

वीरा ऐन्स्टे : 'ईकनॉमिक डिवलप्मन्ट", 'मॉडर्न इण्डिया एण्ड द वैस्ट', सम्पादक एल० एस० एस० ओ मैल्ली (ऑक्सफोर्ड, १६४१)।

वीरा ऐन्स्टे : द ईकनॉमिक डिवलप्मन्ट ऑव इण्डिया, तृतीय संस्करण (लौंगमैन्स ग्रीन एण्ड क०, लन्दन, १६४६)।

व्हेरी, रेवरन्ड ई० एम० . ए कॉम्प्रिहेन्सिव कॉमेन्टरि ऑन द क़ुरान, २ भाग (ट्यूब्नर एण्ड क०, लन्दन, १८८४)।

शुश्त्री, ए० एम० ए० : आउटलाइन्स ऑव इस्लामिक कल्चर, २ भाग (बेंगलौर प्रेस, बेंगलौर, १६३८)।

श्रीवास्तव, ए० एल० : द फर्स्ट टू नवाब्स ऑव अवध (शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं० लि०, आगरा, १६५४)।

" " " : "रिलिजन इन इण्डिया इन द एटीन्थ सेन्चुरि", 'जर्नल ऑव इण्डियन हिस्ट्री', ग्रन्थ ४७, भाग १, अप्रैल १६६६।

" " " : "शाह वलीउल्लाह एण्ड द मराठा-अफ़ग़ान कॉन्टेस्ट फ़ॉर सुप्रिमेसि", 'जर्नल ऑव इण्डियन हिस्ट्री' ग्रन्थ ४६, १६७२।

सक्सेना, रामबाबू : ए हिस्ट्री ऑव उर्दू लिट्रेचर (रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १६४०)।

स्टार्क, हर्बर्ट ए० — वर्नैक्यूलर एज्यूकेशन इन बेङ्गॉल फ्रॉम १८१३-१९१२ (कलकत्ता जनरल पब्लिशिंग क०, कलकत्ता, १९१६)।

स्पीयर, पर्सीवल — ट्वाइलाइट ऑव द मुगल्स (कैम्ब्रिज, १९५१)।

सरकार, सर जादुनाथ — फॉल ऑव द मुगल एम्पायर, ४ भाग (एम० सी० सरकार एण्ड सन्स, कलकत्ता, १९३२–५०)।

सरकार, सर जादुनाथ (सम्पा०) — द हिस्ट्री ऑव बेङ्गॉल, भाग २ (कलकत्ता, १९४८)।

सरदेसाई, जी० एस० — न्यू हिस्ट्री ऑव द मराठाज, भाग १ (बम्बई, १९४६)।

सान्याल, एस० सी० — 'हिस्ट्री ऑव द कलकत्ता मदरसा", बेङ्गॉल पास्ट एण्ड प्रिजेन्ट', V, ८, १९१४।

स्मिथ, डब्ल्यु० सी० — मॉडर्न इस्लाम इन इण्डिया (लन्दन, १९४६)।

" " " — इस्लाम इन मॉडर्न हिस्ट्री (प्रिन्सटन, १९५७)।

सूद, के० एन० — इटर्नल फ्लेम, ग्रैस्पेक्ट्स ग्राव गालिब्स लाइफ एण्ड वर्क्स (स्टर्लिंग पब्लिशर्स, १९६९)।

सूदरलैंड, ल्यूसी : द ईस्ट इण्डिया कम्पनी इन ऐटीन्थ सेन्च्युरी पॉलिटिक्स (ऑक्सफोर्ड, १९५२)।

सेल, जॉर्ज (अनु०) . द कुरान (एम० कॉर्नवोडेल एण्ड क०, लन्दन, १८४४)।

हचिन्सन, एल० : द एम्पायर ऑव द नवाब्स (लन्दन, १९३७)।

हबीब, मुहम्मद : हजरत अमीर खुसरो ऑव दहली (बम्बई, १९२७)।

हबीबुल्ला, ए० बी० एम० — फाउण्डेशन ऑव मुस्लिम रूल इन इण्डिया (इलाहाबाद, १९६१)।

हारटॉग, फिलिप — सम ऐस्पैक्ट्स ऑव इण्डियन एज्यूकेशन–पास्ट एण्ड प्रिजेन्ट (ऑक्सफोर्ड, १९३९)।

हुसैन, अथर । प्रॉफिट मुहम्मद एण्ड हिज मिशन (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६७)।

हुसैन, एम० हिदायत — 'फराइजी सेक्ट", ऐन्साइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम भाग २ (लन्दन, १९१३)।

हुसैन, महदी — 'द लोकल रेकॉर्ड्स एण्ड मैन्यूस्क्रिप्ट्स अबाउट द आगरा कॉलिज', 'इस्लामिक कल्चर', भाग २२, सख्या ४, अक्तूबर, १९४८।

हुसैन, महदी : बहादुरशाह द्वितीय (प्रात्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५८)।

हुसैन, महमूद : "सय्यद ग्रहमद शहीद", 'ए हिस्ट्री ग्रॉव द फ्रीडम मूवमन्ट', भाग १ (कराची, १९५७)।

हुसैन, यूसुफ : ग्लिम्पसज ग्रॉव मिडीवल इण्डियन कल्चर (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६२)।

हेंडले, टी० एच० : इण्डियन जुइलरि (लन्दन, १९०९)।

हेनम, जाविदन : हरम लाइफ (लन्दन, १९३१)।

(र) पत्रिकाएँ

(i) उर्दू —

अदब-ए-लतीफ (लाहौर)
अल फुर्कान (बरेली) शहीद नम्बर, १९५५
अलीगढ मेगज़ीन (अलीगढ) ग़ालिब नम्बर, १९४९
अवध पंच (लखनऊ)
आलमगीर (लाहौर)
उर्दू अदब (अलीगढ़)
जामिया (दिल्ली)
नई तहरीरें (कराची)
नया दौर (कराची)
निगार (लखनऊ)
नुकूश (लाहौर)
नैरंग-ए-खयाल (लाहौर)
पैसा अखबार (लखनऊ)
मखज़न (लाहौर)
मारिफ (आज़मगढ)
रिसाला उर्दू (कराची)

(ii) अंग्रेज़ी—

बेङ्गॉल पास्ट एण्ड प्रिज़ेन्ट (कलकत्ता), भाग ४६
इण्डियन एन्टिक्वेरि (बम्बई), भाग ३९, १९११
इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्लि (कलकत्ता)
इस्लामिक कल्चर (हैदराबाद)
कलकत्ता रिव्यू, द (कलकत्ता)

जर्नल ऑव इण्डियन हिस्ट्री (त्रिवेन्द्रम)
जर्नल ऑव पाकिस्तान हिस्टरिकल सोसाइटी (कराची)
जर्नल ऑव रिसर्च सोसाइटी ऑव पाकिस्तान
जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बेङ्गॉल
पाकिस्तान क्वर्टलि
प्रसीडिंग्ज ऑव द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस

(ल) गज़ेटियर्स (सर्वसंग्रह), विश्वकोश, आलेखों के उद्धरण, *प्रशासकीय इतिवृत्त, इत्यादि*

द इम्पीरियल गैज़िटीयर ऑव इण्डिया, भाग ४ (ऑक्सफ़ोर्ड, १९०७)
डिस्ट्रिक्ट गैज़िटीयर, फ़रीदपुर
गैज़िटीयर ऑव द प्रॉविन्सेज़ ऑव अवध, ३ भाग (इलाहाबाद, १८७७)
गैज़िटीयर ऑव द बोम्बे प्रेज़िडेन्सि, सम्पादक सर जे० कैम्पबैल, (बम्बई) IX, भाग २, XII
लखनऊ गैज़िटीयर (एच० आर० नेवाइल, १९०४)
डिक्शनरि ऑव इस्लाम, सम्पादक टी० पी० ह्यूजेज़ (डब्ल्यू० एच० एलन एण्ड कं०, लन्दन, १८८५)
ऐन्साक्लोपीडिया ऑव इस्लाम, ४ भाग, सम्पादक हाउत्समा (ल्यूज़ेक एण्ड कं०, लन्दन, १९१३–१९३४)
सप्लिमेन्ट टू द ऐन्साइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम, १९३८
ऐन्साइक्लोपीडिया ऑव ईथिक्स एण्ड रिलिजन्स भाग १३
ऐन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, लन्दन, भाग ६ तथा ९
सिलेक्शन्स फ़्रॉम एज्यूकेशनल रेकॉर्ड्स ऑव द गवर्नमन्ट ऑव इण्डिया, २ भाग (नेशनल आर्काइव्ज़ ऑव इण्डिया, १९६०, १९६३)
सिलेक्शन्स फ़्रॉम द रेकार्ड्स ऑव द गवर्नमन्ट ऑव बेङ्गॉल, भाग ४२
रिपोर्ट फ़्रॉम सिलेक्ट कमिटि ऑन द अफ़ेअर्स ऑव द ईस्ट इण्डिया कं०, १८३२, भाग २ (पब्लिक)

शब्दानुक्रमणिका